Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

029473

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-20[illegible]

Stock Verification-20[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

अदिति

१६४६

१०४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वर्ष ७ अङ्क १ फरवरी १९४९

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका

079473

079473

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडीचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द

प्रकाशक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर
नई देहली

मूल्य
एक अङ्क १॥)
वर्ष भर के चारों अङ्क ५)

विदेश का चन्दा
एक अङ्क ३॥ शिलिंग वार्षिक १२॥ शिलिंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

पच्चीसवीं कला

श्री माताजी के जन्म-दिन के अवसर पर

२१ फरवरी १९४९ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना

सार्वजनिक पुस्तकालयों को अदिति आधे दाम पर मिल सकती है।

'अदिति' की प्रेरणा

१. अदिति साधना की, क्रियात्मक जीवन-विकास की पत्रिका है। इसमें साधारणतया मौलिक अनुभवपूर्ण लेखों को ही स्थान दिया जाता है। सामान्य ज्ञान का प्रचार इसका उद्देश्य नहीं।

२. अदिति अपने पाठकों से साधकभाव की अपेक्षा करती है। इसके विषय को वे पढ़ें, विचारें और अपने अंदर रमने दें। इसके भाव और भावनाएं उनका सामान्य वातावरण बन जायं। तब जो स्फूर्त्ति और प्रेरणा वे अपने अंदर अनुभव करेंगे वही अदिति की सफलता की द्योतक होगी।

३. आत्म-जागरण ही व्यक्तित्व-निर्माण का मूल कारण है। सामान्य मनोवैज्ञानिक शैलियां व्यक्तित्व की मूल शक्ति को प्रचालित नहीं कर पातीं। उनका कार्य और क्षेत्र बहुत सीमित है। भारतीय योगविद्या ही जीवन की वास्तविक नव-सृष्टि कर सकती है, उसके अंदर भागवत इच्छाशक्ति की असीम और अजेय धारा प्रवाहित कर सकती है।

४. यह भारतीय योगविद्या आज श्रीअरविन्द के अनुभव में एक विशेष क्रियाशील रूप को प्राप्त हुई है। उसी रूप की प्रेरणा से अदिति का जन्म हुआ है और उसे ही अदिति साधक-पाठकों तक पहुंचाना चाहती है।

५. श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि एक अद्वितीय समन्वय है। आज हम अपने आपको पक्ष-विपक्षों और विविध वादों के जाल में जकड़े हुए अनुभव करते हैं। श्रीअरविन्द की समन्वयात्मक दृष्टि हमें अनुभव करा देती है कि इन वादों से संघर्ष करने की अपेक्षा इनसे जरा ऊपर उठकर इन्हें देखने से ये परस्परविरोधी नहीं परस्परपूरक दिखायी देने लगते हैं। यह चामत्कारिक दृष्टि ही अदिति की प्रेरणा है, इसे ही अदिति प्रसारित करना चाहती है।

Le Directeur : Haradhan Bakshi
Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
722—49—750

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति, फरवरी १९४९

विनय	श्री सुमित्रानंदन पंत	५
जयगान	श्री विद्याव्रत	६
मातृवचनामृत–		..
नए वर्ष की प्रार्थना		७
प्रार्थना व ध्यान		८
सादा जीवन		९
श्रीअरविन्द-वाणी–		..
भगवती माता		१४
ईशोपनिषद्–संभूति और असंभूति		१५
श्रीअरविन्द के पत्र–प्रेम, भक्ति और भाव		१९
श्रीअरविन्द का योग-समन्वय–प्रकृति के तीन गुण		२२
सावित्री		२८
"राष्ट्रीय पुरस्कार"		३१
विविध–		..
आलोक के पथ पर	श्री नलिनीकांत गुप्त	४०
गीता का अधिकारी	श्री केशवदेव	४२
दिव्यरथी अग्नि	श्री जगदीशशरण अग्रवाल	४५
'द' का उपदेश	श्री जगदीशचन्द्र	४८
ऋषियों की शिक्षण-शैली	डा. इन्द्रसेन	४९
शरणागति	श्री प्रताप	५०
श्रीअरविन्द-दर्शन	डा. इन्द्रसेन	५१
मार से	श्री रघुवीरशरण	५५
"मन नहीं टिकता, क्या करें?"	श्री आचार्य अभयदेव	५६
कविता-कुंज–		..
जीवन चक्र	श्री वंशीधर	५८
मां से–	श्री आनंद मुनि	५९
जीवन के संग गति भी जागे!	श्री शांति	५९
संपादकीय (विचार और अभीप्सा)–	डा. इन्द्रसेन	..
कैसा सौभाग्य!		६०
अखिलभारतीय दर्शन-महासभा		६१
विभिन्नता में एकता		६३
आश्रम का खेल-विभाग		६५
पुस्तक-परिचय		६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुने हुए फूल

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वै तत्॥७॥ कठोपनिषद्

अदिति है देवों की माता। वह प्राण से उत्पन्न हुई और पंचभूत के संयोग से उसका अस्तित्व बना; वह वस्तुओं की हृदयगुहा में प्रविष्ट हुई, वह वहां विराजमान है। जिस चीज की तुझे खोज है वह यही है।

★

वह शक्ति जिसे हम माता कहकर पूजते हैं दिव्य चिन्मयी शक्ति है जो अखिल विश्व की अधिष्ठात्री है।

★

अग्नि की शक्ति भौतिक सत्ता में अभीप्सा को प्रज्वलित रखेगी। और तब राधा के प्रभाव की ओर खुले हुए प्राण में भगवान् से सच्ची विज्ञानमयीकृत मैत्री आधारित तथा प्रतिष्ठित की जा सकती है।

★

भगवान् के पास प्रेममय कृतज्ञता के भाव में पहुंचो और भगवान् का प्रेम तुम्हें प्राप्त होगा।

★

सब कुछ भगवान् का है–अहं या कामना सर्वथा नहीं होनी चाहिये–होना चाहिये केवल भगवान् और उसका प्रकाश, ज्ञान, बल, आनंद, कर्म। परंतु यह सब ऊपर से ही आना चाहिये–न कि मिश्रित निम्नतर वैश्व शक्तियों से।

★

भगवान् के प्रति निष्ठा ही तुम्हारी तपस्या हो। तब भगवान् से सच्ची विज्ञानमयी मैत्री का अनुभव प्राप्त होने लगेगा।

★

तुम्हारे निरपेक्ष आत्म-दान की उदारता तुम्हें भगवान् के प्रेम की उदारता के दर्शन करा देगी।

★

जब तुम एकनिष्ठ, सहनशील, निर्भीक और शुद्धाशय हो जाओगे तभी देश की श्रेष्ठ सेवा कर सकोगे–उसे अखण्ड संसार की जातियों में महान् बना सकोगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से, तुम क्या करते हो यह महत्त्व का नहीं बल्कि यह कि तुम उसे कैसे करते हो तथा उसमें कैसी चेतना भरते हो। सदा भगवान् को स्मरण रखो; तब तुम जो भी करोगे वह भागवत उपस्थिति की अभिव्यक्ति होगा।

जब तुम्हारे सभी कर्म भगवान् को समर्पित होंगे, तब तुम्हारे लिये 'उच्च कर्म' और 'नीच कर्म' का भेद नहीं रहेगा, सबका समान महत्त्व होगा—महत्त्व जो कि उन्हें समर्पण से प्राप्त होगा।"

—श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनय

मुझे प्रणति दो!
प्रीति समर्पित प्राण कर सकूं,
निज पद रति दो!

विनय मुक्त, जन में मिल जाऊं,
श्रद्धानत, ऊपर उठ पाऊं,
ध्यान मौन, मर्मस्पृह गाऊं,
अंतर्गति दो!

मैं मर्त्य वेणु का भग्न बाँस,
तुम दिव्य साँस;
मैं छिद्रभरा, निःस्वर निराश,
तुम गीति लास;

मैं शुष्क, सरस कर दो विकास,
मैं रिक्त, पूर्ण कर भर दो
नव आशाऽभिलाष;
स्वर-संगति दो!

जब मुँदे कुमुद अंतर्लोचन,
जब जगे पद्म-वन स्वप्न-नयन,

तब गीतमुक्त मधुकर सा मन
गा गा जीवन-मधु करे चयन,
चिर परिणति दो!
मुझे प्रणति दो!

—सुमित्रानंदन पंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयगान

जयति जयति जय जय मां मीरा ! जय जय श्रीअरविन्द !
जय जय श्रीअरविन्द, जय जय श्रीअरविन्द !

दसों दिशा से चुपके चुपके, स्वर तेरा गुंजार करे।
सोम-कलश उमड़े छलके, हृद् में आकर शृंगार करे।
प्रेम-सुधा के प्यासे हैं, बालक-वृद्ध-जनवृन्द।
जयति जयति जय जय मां मीरा ! जय जय श्रीअरविन्द !

हे विश्वम्भर ! हे चिर सुन्दर ! जीवन में झंकार करो।
पल-प्रतिपल में आलोकित कर, मधुर-भक्ति संचार करो।
अंतर-बाहर के प्रिय मम, निखिल शक्ति-आनन्द !
जयति जयति जय जय मां मीरा ! जय जय श्रीअरविन्द !

विमल सौम्य तुम हे तेजोमय, दिव्य प्रभामय लोक-विहारी।
दिग-दिगन्त से, जग अनन्त से, सत्ता नत हों तुममें सारी।
पी अरविन्द-पराग-विमल, हम उड़ें विभोर मिलिन्द।
जयति जयति जय जय मां मीरा ! जय जय श्रीअरविन्द !

अमल कमल तुम प्रेमपयोनिधि, पुरुषोत्तम, अनुपम, अवतार।
हे विराट्, प्रभु, जगन्नियन्ता, करुणाकर आये साकार।
प्रणमन करते चरणों में हम, मिलकर सब शिशुवृन्द।
जयति जयति जय जय मां मीरा ! जय जय श्रीअरविन्द !

—विद्याव्रत

पहली दिसम्बर आश्रम स्कूल का जन्म-दिवस है और बच्चों के लिये विशेष समारोह का अवसर। गत समारोह की कार्रवाई इसी गीत से प्रारंभ हुई थी।—सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

अनागसो अदितये स्याम

मातृवचनामृत--

नए वर्ष की प्रार्थना

1949

Lord, on the eve of the new year I asked Thee what I must say. Thou hast made me see two extreme and opposite possibilities and given me the command to keep silent.

—The Mother

१९४९

हे प्रभु! नए वर्ष की देहली पर खड़ी होकर मैंने तुझसे पूछा कि इस बार मैं क्या कहूं। तूने मुझे दो विपरीत दिशाओं में दो चरम संभावनाएं दिखा दीं और आदेश किया–मौन रह।

–श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रार्थना व ध्यान

उस अंग्रेज युवक से जो तुझे सच्ची लगन से खोज रहा है कल मैंने कहा कि अवश्य ही मैंने तुझे पा लिया है और यह कि मेरा तुझसे संबंध निरंतर बना रहता है। वास्तव में, जहां तक मैं जानती हूं, यही मेरी अवस्था है। मेरे सब विचार तेरी ओर ही जा रहे हैं, मेरे समस्त कार्य तुझे समर्पित हैं; तेरी उपस्थिति मेरे लिये एक निश्चयात्मक, अपरिवर्तनशील और स्थायी वस्तु है और तेरी शांति मेरे हृदय में सर्वदा निवास करती है। फिर भी मैं जानती हूं कि मिलन की यह अवस्था उस अवस्था की तुलना में, जो कल मेरे लिये चरितार्थ करनी संभव होगी, तुच्छ और अनिश्चित है। मैं यह भी जानती हूं कि मैं उस 'एकत्व' से जिसमें मैं 'मैं' के विचार से पूर्णतया मुक्त हो जाऊंगी, अभी दूर, निःसंदेह बड़ी दूर हूं—उस 'मैं' से जिसका मैं बातचीत में अपने लिये अभी तक प्रयोग करती हूं, पर प्रत्येक बार इस प्रयोग से मेरे मन में एक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है क्योंकि जो विचार व्यक्त होना चाहता है उसके व्यक्त करने में यह अनुपयुक्त रहता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि साधारण व्यवहार में तो इसका प्रयोग अनिवार्य रूप से चलेगा ही, पर सब कुछ निर्भर तो इसपर है कि इस 'मैं' से अभिव्यक्त क्या होता है; और अभी भी कितनी बार जब मैं इसका उच्चारण करती हूं तब वह तू ही होता है जो मेरे अंदर से बोलता है, क्योंकि मैंने तो पृथक्त्व की भावना ही खो दी है।

पर यह सब अभी अपरिपक्व अवस्था में है और यह दिन प्रति दिन पूर्णता को प्राप्त होता जायगा। तेरी सर्वशक्तिमत्ता में अचल विश्वास हमें कितना शांतिप्रद ढाढ़स देता है।

तू सब कुछ है, सब जगह है, सबमें है और यह शरीर जो सब कर्म करता है तेरा अपना शरीर है, यह संपूर्ण दृश्य जगत् भी तेरा है। वह तू ही है जो इस शरीर में श्वास लेता है, चिंतन करता है और प्रेम करता है। यह स्वयं तू होते हुए तेरा आज्ञाकारी सेवक बनने की अभिलाषा रखता है।

१९ नवम्बर, १९१२

—श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सादा जीवन

पैगम्बर मोहम्मद, जिसने अपना समस्त जीवन ही अरबनिवासियों के शिक्षण और उत्थान में लगा दिया था, न तो धनी था और न ही उसके पास सुख-आराम का कोई साधन था। एक रात जब कि वह एक सख्त चटाई पर सो रहा था तो उसकी देह पर उसकी रस्सियों और गांठों के निशान पड़ गये। एक मित्र से न रहा गया। वह बोला–"हे ईश्वर के दूत, यह शय्या आपके लिये अत्यंत कठोर है। यदि आपने मुझे आज्ञा दी होती तो मैं आपके लिये बड़ी प्रसन्नतापूर्वक एक कोमल शय्या तैयार कर देता। इससे आपका विश्राम अधिक सुखकर हो जाता।"

पैगम्बर ने उत्तर दिया–"भाई, कोमल शय्या मेरे लिये नहीं है। मुझे इस संसार में कुछ कार्य करना है। जब मेरे शरीर को विश्राम की आवश्यकता होती है तो उसे मैं वह दे देता हूं, पर उस घुड़सवार की तरह, जो अपने घोड़े को धूप की तेजी से बचाने के लिये पल भर किसी पेड़ की छाया में बांधकर फिर आगे चल देता है।"

पैगम्बर का कहना था कि उसे संसार में कुछ कार्य करना है। इसी लिये उसका उच्च जीवन एक सादा जीवन बन गया था। अपने ध्येय में विश्वास रखता हुआ वह सब अरब-वासियों को शिक्षा देना चाहता था। आमोद प्रमोद के साधनों में उसकी जरा भी आसक्ति न थी। उसका हृदय उच्चतर विचारों की ओर झुका हुआ था।

*

निम्नलिखित अरबी कहानी से हमें पता चलेगा कि एक स्वस्थ आत्मा को कोई भी वस्तु उतना संतोष नहीं पहुंचा सकती जितना सादा जीवन।

मैंजूं खल्व वंश की लड़की थी। अपने जीवन के प्रारंभिक वर्ष उसने मरुभूमि के बीच तंबू में व्यतीत किये थे।

संयोगवश उसका विवाह खलीफा म्युआविहा के साथ हो गया। खलीफा के पास बहुत धन था; दास दासियां भी प्रचुर संख्या में थे। पर वह उसके साथ रहकर प्रसन्न न थी।

चारों ओर भरपूर धन-ऐश्वर्य होने पर भी उसके मन को विश्राम नहीं था। जब कभी अकेली होती वह अरबी भाषा के कुछ स्वरचित पद मधुर स्वर में गाने लगती। वह गाती:–

"ऊंट की खाल से बने हुए भूरे वस्त्र मेरी आंखों में इन राजसी वस्त्रों से कहीं सुंदर हैं।

रहने के लिये मरुभूमि का तंबू इस महल के विशाल कमरों से अधिक सुखकर है।

मुर्गी के बच्चे, जो अरब में तंबू के चारों ओर फुदकते फिरते हैं, इन पुष्ट और कीमती साज से सजे हुए खच्चरों से अधिक तेज और फुर्तीले हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौकसी पर रहनेवाले कुत्ते की आवाज, जो किसी नए आदमी को देखकर भौंक उठता है, महल के चौकीदार की हाथीदांत से बनी हुई तुरही की आवाज से अधिक सुरीली है।"

ये पंक्तियां जब खलीफा के कान में पड़ीं तो उसने क्रोधित होकर अपनी स्त्री को महल से निकाल दिया। वह कवयित्री अपने संबंधियों के पास लौट आयी। उस ऐश्वर्ययुक्त महल से दूर आकर वह प्रसन्न ही हुई, क्योंकि वह उसे हमेशा उदास ही कर दिया करता था।

★

प्रायः सभी देशों में अब लोग यह समझने लगे ह कि सादा जीवन ऐसे जीवन से, जो फिजूलखर्ची, दिखावे और मिथ्याभिमान पर अवलंबित है, कहीं अधिक वांछनीय है।

अधिकाधिक संख्या में अब पुरुष और स्त्रियां बहुमूल्य वस्तुएं खरीद सकने की क्षमता रखते हुए भी यह सोचने लगे हैं कि उनके धन का और अच्छा उपयोग कैसे हो सकता है। वे बढ़िया खाने की तश्तरियों के स्थान पर स्वास्थ्यप्रद भोजन का व्यवहार पसंद करने लगे हैं। बड़े बड़े भारी चटकीले-भड़कीले सामान के स्थान पर वे अपने मकानों को हल्के, पायदार सामान से सजाना अधिक अच्छा समझते हैं, क्योंकि यह ऊपरी तड़क-भड़क सिवाय दिखावे के और किसी काम नहीं आती।

संसार की उन्नति में अपना जीवन उत्सर्ग करनेवाले श्रेष्ठ और उत्साही मनुष्य सदा ही शांति और मितव्ययता से रहना जानते हैं। ऐसा जीवन शरीर को भी स्वस्थ रखता है और मनुष्य को सर्वहित के कार्य में अधिकाधिक भाग लेने के योग्य बनाता है। ऐसे उदाहरणों से उन लोगों के, जिन्होंने अपने चारों ओर निरर्थक चीजें जमा कर रखी हैं, लज्जा से सिर झुक जाते हैं। और वे स्वयं भी अपने वस्त्रों, घर की साज-सामग्री तथा अपने नौकर चाकरों के दास के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते।

विना गढ़ा खोदे टीला नहीं खड़ा किया जा सकता। एक का धन-ऐश्वर्य प्रायः दूसरों की दुर्दशा का कारण होता है। इस संसार में बहुत से सुन्दर, महान् तथा उपयोगी काम करने को पड़े हैं। फिर यह कैसे संभव है कि ऐसे लोग जिनमें बुद्धि का सर्वथा अभाव नहीं है अपने समय, पैसे और विचारों को अनुपयोगी कार्यों में खर्च कर दें।

★

संत फरांस्वा (Saint François) का मुख्य काम ही था सत्य जीवन का प्रचार। यह काम वह धन की लालसा से नहीं करता था। उसका अपना जीवन सादा था और उसकी सबसे बड़ी प्रसन्नता इसमें थी कि वह अपने उदाहरण और उपदेशों से लोगों को शिक्षा दे। उसे जो कुछ खाने को मिल जाता वह उसी में संतुष्ट रहता।

एक दिन वह और उसका एक साथी मातेओ (Mattèo) एक शहर के पास से गुजरे। मातेओ भिक्षा के लिये एक सड़क पर हो लिया और वह दूसरी पर। फरांस्वा छोटे कद का तथा देखने में भी ऐसा-वैसा ही था जब कि उसका साथी ऊंचे डील-डौल-वाला, प्रभावशाली तथा सुन्दर था। लोगों ने इसको खूब भिक्षा दी पर विचारा फरांस्वा थोड़े से अन्न के अतिरिक्त और कुछ इकट्ठा न कर सका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाम को शहर के दरवाजे के बाहर दोनों मिले। पास में ही बहती नदी के किनारे एक बड़ी चट्टान पर बैठकर उन्होंने अपनी सारे दिन की कमाई पर दृष्टि डाली। फरांस्वा प्रफुल्लित मुख से बोल उठा—"भाई मातेओ, हमें ऐसे बढ़िया भोज की आशा नहीं थी।" मातेओ ने उत्तर दिया—"रोटी के इन थोड़े से टुकड़ों में तुम्हें भोज दिखायी दे रहा है? न हमारे पास कोई मेज है, न छुरी, न कांटा और न ही कोई नौकर है।"

"भूख लगने पर सुन्दर चट्टान की मेज पर रखी रोटी हो और प्यास लगने पर नदी का निर्मल जल पीने के लिये हो, यह क्या दावत नहीं है?" फरांस्वा ने उत्तर दिया।

इसका यह अर्थ नहीं कि गरीब मनुष्य सदा अपनी दीन अवस्था में ही संतोष मानकर उसी में पड़ा रहे, वरन् इससे यह प्रकट होता है कि किस प्रकार बाह्य धन और सामग्रियों के अभाव में सुन्दर आत्माओं के अंदर रहनेवाले संतोष और प्रसन्नतारूपी धन उस स्थूल धन का स्थान ले लेते हैं।

*

इसमें कोई संदेह नहीं कि सादा रहन सहन किसी भी व्यक्ति को हानि नहीं पहुंचाता। पर धन ऐश्वर्य के बाहुल्य के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। निरर्थक चीजों का संग्रह प्रायः मनुष्य के लिये क्लेश का कारण बन जाता है।

प्रसिद्ध बादशाह अकबर के राज्यकाल में आगरे में बनारसीदास नाम का एक जैन साधु रहता था। एक दिन बादशाह ने उसे अपने महल में बुलवाया और उससे कहा—"तुम्हें जो चाहिये मुझसे मांग लो, तुम्हारे धर्मपूर्ण जीवन के फलस्वरूप तुम्हारी सब इच्छाएं पूरी की जायंगी।"

"परब्रह्म ने मुझे आवश्यकता से अधिक दिया हुआ है", संत ने उत्तर दिया।

अकबर ने अनुरोध किया—"कुछ तो मांगो।"

"तब राजन्, मैं यही मांगता हूं कि तुम मुझे फिर अपने महल में कभी न बुलाना। मेरा सारा समय भगवान् के कार्य के ही निमित्त है।"

"अच्छा ऐसा ही होगा, पर महाराज! अब आपसे मेरी भी एक प्रार्थना है।"

"कहो राजन्!"

"मुझे एक ऐसी सलाह दीजिये जिसको मैं सदा याद रखूं और उसपर पूरा अमल कर सकूं।"

बनारसीदास ने एक क्षण सोचकर उत्तर दिया—"इस बात का सदा ध्यान रखो कि तुम्हारा भोजन सदा शुद्ध और पवित्र हो, विशेषकर रात में मांस और पेय पदार्थ का खास ध्यान रखना।"

"मैं आपकी सलाह कभी नहीं भूलूंगा", बादशाह ने साधु को विश्वास दिलाया।

अवश्य ही वह सलाह उत्तम थी क्योंकि शुद्ध सात्त्विक भोजन और पेय पदार्थ शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। ऐसा शरीर ही शुद्ध विचार और पवित्र जीवन का क्षेत्र बनने के योग्य हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस दिन वह साधु अकबर के पास आया था वह रोजे का दिन था। अकबर को उस दिन रात्रि के पिछले पहर भोजन करना था। रसोइये शाम को ही भोजन तैयार कर चुके थे। सोने चांदी के थालों में सब सामग्री परोसकर वे रोजा खुलने के समय की प्रतीक्षा में बैठे हुए थे।

अभी रात कुछ बाकी थी जब अकबर ने खाना लाने का हुक्म दिया। वह जल्दी में था फिर भी उसे एकदम बनारसीदास के वचन याद आ गये—मांस और पेय पदार्थ का खास ध्यान रखना। उसने ध्यानपूर्वक अपने सामने रखे थाल को देखा। सैकड़ों भूरी चींटियां उसपर चल रही थीं। नौकरों के बहुत सावधानी बर्तने पर भी चींटियां उस भोजन पर चढ़ गयी थीं और वह अब खाने के काम का नहीं रहा था।

अकबर ने थाल वापिस भेज दिया, पर इस घटना ने उसके मन में बनारसीदास की सलाह का महत्त्व और भी अधिक बढ़ा दिया।

यह तो तुम समझ गये होगे कि बनारसीदास ने अकबर को केवल चींटियों से ही सावधान रहने के लिये नहीं कहा था, वरन् उन सब भोजनों से, जो शरीर और मन के लिये अहितकर हैं।

अपथ्य भोजन से अनेक व्याधियां उत्पन्न होती हैं।

जो लोग जानबूझकर दूषित भोज्यपदार्थ बेचते हैं उनका नागरिकों के प्रति किया गया अपराध अक्षमणीय है। केवल बासी और सड़े गले पदार्थ ही अहितकर नहीं वरन् वे सब चीजें, जिन्हें खाने से मन में या शरीर में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न हो जाय, अवांछनीय हैं।

★

उपर्युक्त कहानी में यह नहीं कहा गया कि अकबर के प्याले में भी चींटियां थीं पर बनारसीदास ने उसे पेय पदार्थ की ओर से भी सावधान रहने के लिये कहा था।

यह सच है कि चमकते हुए प्याले आंखों को लुभावने लगते हैं; उनमेंका तरल पदार्थ भी स्वादिष्ठ और तरोताजगी देनेवाला प्रतीत होता है पर वह होता है वास्तव में मनुष्य के लिये हानिकारक। पर इनमेंसे भी सबसे अधिक हानिकारक होते हैं सुरा-पात्र।

पैगम्बर मोहम्मद की शिक्षा थी कि मदिरापान तथा जूआ पाप हैं। इसलिये जो लोग कुरान के वचनों पर श्रद्धा रखते हैं उन्हें इन दोनों चीजों से बचना चाहिये।

पर संसार में सर्वत्र ऐसे लोग हैं जो मदिरापान को उचित समझते हैं। हम उनके मत का मान करते हैं पर ये लोग यह कभी नहीं कहते कि मदिरा न पीना भी कोई अवगुण है।

कुछ लोग मदिरापान को बुरा समझते हैं तो कुछ अच्छा भी समझते हैं पर ऐसा कोई भी नहीं है जो इसका न पीना दोष माने। इसका पीना लाभदायक है या नहीं यह बात विवादास्पद हो सकती है पर इसका न पीना हानिकारक है यह बात किसी के मुंह से नहीं निकलेगी। और यह तो प्रत्येक का विश्वास है ही कि इसके न पीने से पैसे की बचत होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः सभी देशों में इससे बचने के लिये समितियां बनायी गयी हैं। इनके सदस्य मदिरा न छूने की प्रतिज्ञा करते हैं। कई शहरों में तो सौदागरों को इसके बेचने तक की मनाही कर दी गयी है।

इसके विपरीत कुछ स्थानों में, जहां अब तक लोग शराब को जानते भी नहीं थे, इसका व्यवहार होने लगा है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष में, जहां शताब्दियों से इसका व्यवहार नहीं होता था, अब यह प्रचलित हो गयी है। प्राचीन कथाओं में वर्णित किसी भी राक्षस से यह कम भयानक नहीं है। वे दुर्दान्त राक्षस तो केवल शरीर को ही हानि पहुंचा सकते थे पर यह शराब तो विचारशक्ति और चरित्र को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देने की शक्ति रखती है। सबसे पहले तो यह शरीर को ही हानि पहुंचाती है। जो माता-पिता इसका अधिक प्रयोग करते हैं उनके बच्चों पर भी इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यह बुद्धि का नाश करती है और जिन्होंने मनुष्यमात्र का सेवक बनना था यह उन्हें अपना दास बना लेती है। हम सबमेंसे प्रत्येक को मनुष्यमात्र का सेवक बनना चाहिये। यदि हम अपने खान पान से अपने मन और शरीर को दुर्बल बना लेंगे तो हम अयोग्य सेवक ही बन पायेंगे—ऐसे सेवक जो अपना कार्य करने में असमर्थ होंगे।

वह सिपाही क्या हुआ जिसकी बांह कट गयी हो? वह नाविक किस काम का जिसकी नाव का मस्तूल खो गया हो? वह घुड़सवार, जिसका घोड़ा लगड़ा हो गया है, क्या करेगा? और वह मनुष्य क्या होगा जिसका अपनी अमूल्य शक्तियों पर से अधिकार उठ गया हो? वह पशु से भी गया बीता है। पशु भी वही खाता पीता है जो उसके लिये हितकर होता है।

रोमन कवि वरजिल (Virgil) को खेतों में रहना सहना बहुत पसंद था। पुष्ट और तगड़े बैल उसे विशेष प्रिय थे, क्योंकि वे खेतों में हल चलाकर उन्हें फसल के लिये तैयार करते हैं। बैल का शरीर खूब मजबूत होता है; उसके पट्ठे बड़े पुष्ट होते हैं। वर्षों लगातार कठोर काम करने का वह अभ्यासी होता है।

वरजिल कहता है—

"वह शराबों और दावतों से सदा दूर रहता है। घास फूस खाता है और बहती नदियों और निर्मल झरनों के पानी से अपनी प्यास बुझाता है। कोई चिंता उसकी सुखद नींद में व्याघात नहीं पहुंचाती।"

बलवान् होने के लिये संयमी बनो।

यदि तुम्हें कोई कहे कि दुर्बल बनो तो क्या तुम उससे रुष्ट न हो जाओगे?

खान पान का संयम जहां बलवानों की शक्ति की वृद्धि करता है वहां दुर्बलों की शक्ति की रक्षा भी करता है।

बनारसीदास की सलाह थी:

"खाने का ध्यान रखो।"

"पीने का ध्यान रखो।"

(श्री माताजी की Belles Histoires से लीलावती द्वारा अनूदित)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द-वाणी–

भगवती माता

गीता में भगवती माता का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है; वहां बार बार पुरुषोत्तम के प्रति समर्पण का वर्णन मिलता है–वहां माता का उल्लेख केवल इस प्रकार आया है कि वह परा प्रकृति है जो जीव बनती है, अर्थात् जो भगवान् को नाना रूपों में प्रकट करती है और जिसके द्वारा परमात्मा ये सब लोक पैदा करते हैं और स्वयं भी अवतार के रूप में अवतीर्ण होते हैं। गीता वेदांतिक परंपरा का अनुसरण करती है जो भगवान् के 'ईश्वर'-पक्ष पर ही पूरी तरह अवलंबित है और भगवती माता की बहुत ही कम चर्चा करती है क्योंकि इसका उद्देश्य है संसार-प्रकृति से पीछे हटकर अंदर की ओर लौटना तथा उसे पार कर परम सिद्धि प्राप्त करना; तान्त्रिक परंपरा भगवान् के 'शक्ति' या 'ईश्वरी' रूप का आश्रय लेती है तथा सब कुछ भगवती माता पर निर्भर बताती है क्योंकि इसका उद्देश्य है जगत्-प्रकृति पर अधिकार एवं प्रभुत्व प्राप्त करना तथा इसके द्वारा परम सिद्धि लाभ करना। यह योग दोनों पक्षों पर बल देता है; भगवती माता के प्रति समर्पण अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना इस योग का उद्देश्य सफल नहीं होता।

★

इस विषय में सत्य इतना ही है कि वैश्व बल सब कुछ संपादित करता है और विश्वात्मा (विराट् पुरुष) उसकी क्रिया को आश्रय देता है। वैश्व बल एक ऐसी शक्ति है जो अज्ञान की अवस्थाओं के बीच कार्य करती है–यह निम्न प्रकृति के रूप में प्रतीत होती है और वह निम्न प्रकृति तुमसे अशुभ कार्य कराती है। भगवान् इन शक्तियों की क्रीड़ा तब तक होने देते हैं जब तक तुम स्वयं इससे अच्छी कोई वस्तु नहीं चाहते। परंतु यदि तुम साधक हो, तो तुम निम्न प्रकृति की क्रीड़ा को स्वीकृति नहीं देते, उसके स्थान पर भगवती माता के अभिमुख होते हो और उससे निवेदन करते हो कि निम्न प्रकृति के स्थान पर वह ही तुम्हारे द्वारा कार्य करे। जब तुम अपनी सत्ता के अंग अंग में भगवती माता की ओर तथा केवल उसकी ओर अभिमुख हो जाओगे तभी भगवान् तुम्हारे द्वारा सकल कर्म करेंगे।

–श्रीअरविन्द के पत्रों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईशोपनिषद्

८

तृतीय विचारधारा (ग)

संभूति और असंभूति

(मंत्र १२, १३, १४)*

संभूति तथा असंभूति

प्रकृति से बाहर का आत्मा संभूत नहीं होता, भूतभाव में नहीं आता; वह केवल शाश्वत ही नहीं है किंतु अपरिवर्तनशील भी है। **प्रकृति** में स्थित **आत्मा** संभूत होता है, भूतभाव में आता है, यह अपनी अवस्थाओं और रूपों को बदलता है। इस प्रकार आत्मा का विविध अवस्थाओं और रूपों में काल-क्रमशः प्रविष्ट होना ही प्रकृति में **संभूति** है।

आत्मा की इन दो स्थितियों के कारण—**प्रकृति** में और **प्रकृति** से बाहर, गति में गतिमान् होना और गति से ऊपर स्थित रहना, विकास-प्रक्रिया में सक्रिय होना तथा **जीवन** के वृक्ष के फलों को खाना और अक्रिय होना तथा केवल द्रष्टा रहना, इन दो स्थितियों के कारण—सचेतन सत्ता की दो संभवित अवस्थाएं हैं, एक दूसरे से प्रत्यक्षतः विरोधी दो अवस्थाए हैं जिनमें मानव आत्मा आसक्त है, एक **संभूति** की अवस्था, दूसरी **असंभूति** की।

मनुष्य **संभूति** की क्षुब्ध अवस्था से चलता, प्रारंभ करता है, वह सचेतन सत्ता की उस शांत संतुलित अवस्था, गति से मुक्त अवस्था पर पहुंचता है जो कि **असंभूति** है। **संभूति** की, जन्म की, ग्रंथि अहंभावना है, अहंभाव को मिटा देना, विनाश, हमें **असंभूति** पर ले आता है। इसलिये **असंभूति** को 'विनाश' नाम से भी पुकारा गया है।

संभूति और **असंभूति** सारतः भौतिक अवस्थाएं नहीं हैं, किंतु आत्म-स्थितियां हैं। एक मनुष्य अहं-भाव की ग्रंथि को तोड़ लेने के बाद भी भौतिक शरीर में बना रह सकता है; परंतु यदि वह अपने आपको अहंभाव के विनाश की स्थिति में ही एकान्ततया केंद्रित किये होता है तब वह फिर नये शरीर में जन्म नहीं पाता। ज्योंही प्रकृति का वर्तमान वेग जो कि उसके मन और शरीर की क्रियाओं को चलाये जा रहा होता है समाप्त हो जाता है त्योंही वह जन्म-प्राप्ति, **संभूति** से मुक्त हो जाता है। दूसरी तरफ

---

*१२. जो असंभूति का अनुसरण करते हैं वे घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं, और जो केवल संभूति में रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अंधकार में (प्रवेश करते हैं)।

१३. अन्य ही है वह, ऐसा कहते हैं, जो संभूति से प्राप्त होता है, और अन्य है वह जो असंभूति से प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं; यह वह श्रुतिज्ञान है जो हमने मेधावियों से प्राप्त किया है जिन्होंने **उसे** हमारी प्रज्ञा में प्रकट किया है।

१४. जो **उसको**, संभूति (जन्म) और विनाश (जन्म को मिटा देना) दोनों को इकट्ठा, एकत्र जानता है वह विनाश के द्वारा मृत्यु को पार करता और संभूति (जन्म) के द्वारा अमरत्व को भोगता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि वह अपने आपको जन्म (**संभूति**) के साथ आसक्त रखता है, तो उसके अंदर का अहंतत्त्व अपने आपको नए नए मनोमय तथा भौतिक रूपों में सतत आवृत करना चाहता है, करता रहता है।

दोनों अतियों की बुराई

न तो **असंभूति** में अति आसक्ति और न ही **संभूति** के प्रति आसक्ति पूर्ण मार्ग है। क्योंकि सब आसक्ति अज्ञान की क्रिया है, **सत्य** पर एक प्रकार का बलात्कार है। इसका परिणाम भी अज्ञान तथा घोर अंधकार की एक स्थिति है।

असंभूति के प्रति एकमात्र आसक्ति हमें विवेचन-रहित **प्रकृति** के अंदर अथवा **नास्ति** के अंदर, **शून्य** के अंदर मिट जाने, विनष्ट हो जाने की ओर ले जाती है और ये दोनों ही घोर अंधकार की अवस्थाएं हैं। क्योंकि **नास्ति** या **शून्य** का प्रयत्न होता है जन्म के अंदर अस्तित्व की अवस्था को अतिक्रमण करने का नहीं किंतु इसका निषेध करने का, सीमित अस्तित्व में से असीमित अस्तित्व में पहुंच जाने का नहीं किंतु अस्तित्व में से इसकी विरोधी अवस्था में पहुंच जाने का। अस्तित्व की विरोधी अवस्था केवल अभावात्मक चेतना की **रात्रि** ही हो सकती है, अज्ञान की एक अवस्था, न कि छुटकारे की।

दूसरी तरफ, शरीर में **संभूति** (जन्म) के प्रति आसक्ति का अर्थ है एक सतत आत्म-सीमितता और अहंकार के निम्नतर रूपों में आहंकारिक जन्मों का, बिना किसी फल अथवा छुटकारे के, न समाप्त होनेवाला चक्कर। यह है, एक प्रकार के दृष्टिबिंदु से, दूसरे की अपेक्षा अधिक बुरा अंधकार, क्योंकि वहां छुटकारे की प्रवृत्ति का ही कोई भान नहीं होता। यह सत्य का अनुसरण करते हुए उसे पकड़ने में कोई भूल नहीं है, किंतु अंधकार की स्थिति को पाकर उसमें ही नित्य संतुष्ट रहना है। यह अंततः परिणाम में भी किसी अधिक बड़ी भलाई को नहीं प्राप्त करा सकती, क्योंकि यह किसी उच्चतर अवस्था की कल्पना तक नहीं करती।

दोनों अतियों का लाभ

दूसरी तरफ इन दोनों प्रवृत्तियों में से प्रत्येक का, यदि उसे दूसरी के प्रति एक प्रकार की सापेक्षता के साथ अनुसरण किया जाय, अपना एक फल है और अपना एक लाभ है। **असंभूति** को यदि **संभूति** के और एक उच्चतर, पूर्णतर तथा सत्यतर जीवन के लक्ष्य के तौर पर अनुसरण किया जाय तो यह शांत **ब्रह्म** के अंदर या **असंभूति** की शुद्ध मुक्ति के अंदर प्रतिनिवृत्ति को प्राप्त करा सकती है। **संभूति** का यदि प्रगति तथा आत्मविस्तार के लिये साधन के तौर पर अनुसरण किया जाय तो यह एक ऐसे बृहत्तर तथा पूर्णतर जीवन को प्राप्त करा देती है जो समय आने पर अंतिम सिद्धि की प्राप्ति के लिये प्रवेशद्वार बन सकता है।

पूर्ण मार्ग

परंतु इन दोनों परिणामों में से कोई भी न तो अपने आपमें पूर्ण है और न ही वह मानवता का सच्चा लक्ष्य है। इन दोनों में से प्रत्येक, मानव-आत्मा की पूर्ण भलाई के लिये, अपना अभिप्रेत भाग केवल तभी प्रस्तुत कर सकता है जब कि वह दूसरे द्वारा पूरित किया जाय।

ब्रह्म दोनों है **विद्या** भी और **अविद्या** भी, दोनों है **संभूति** भी और **असंभूति** भी। आत्मा की अजन्मा के रूप में उपलब्धि और जीवात्मा का जीवन और मृत्यु के द्वंद्वों से परे अनंत के अंदर संतुलन तथा परात्पर अस्तित्व, ये **भूतभाव** के अंदर मुक्त और दिव्य जीवन की शर्तें हैं। एक दूसरे के लिये आवश्यक हैं। यह अचल (अक्षर) **ब्रह्म** की विशुद्ध एकता में भागीदार होने के द्वारा ही होता है कि जीवात्मा गति की धारा में अपनी तल्लीनता से छुटकारा पाता है। इस प्रकार छुटकारा पाया हुआ यह जीवात्मा अपने आपको **ईश** के साथ एकात्म करता है, उस **ईश** के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ जिसके लिये भूतभाव और अ-भूतभाव केवल **उसके** अस्तित्व के दो प्रकार हैं और जो **प्रकृति** के भ्रमों के चक्र में बिना फंसे इस अभिव्यक्ति के अंदर अमरता का उपभोग करने में समर्थ है। तब जन्म लेने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है, क्योंकि इसका व्यक्तिगत उद्देश्य पूरा हो जाता है; संभूत होने की (जन्म लेने की) स्वाधीनता रह जाती है क्योंकि **भगवान्** अपनी नित्यता की स्वाधीनता का तथा **अपनी** संभूत होने (भूतभाव में आने) की स्वाधीनता का एक समान और एक साथ उपभोग करते हैं।

यह भी कहा जा सकता है कि **सत्ता (सत्)** के विचारमात्र को परम **अ-सत्ता (अ-सत्)** के अंदर मिटा देने की सचेतन अनुभूति का होना स्वयं **सत्ता (सत्)** की पूर्णतम और मुक्ततम अधिकृति (अधिकारयुक्त प्राप्ति) के लिये आवश्यक है। यही यदि समन्वयात्मक दृष्टिकोण से देखें तो, बौद्ध-धर्म के उस महान् प्रयत्न का जो कि उसने समस्त भावात्मक सत्ता के (उसके विस्तृततम या शुद्धतम साररूप में भी) विचार को अतिक्रमण करने में किया है औचित्य होगा।

इस प्रकार अहंभाव को तथा जन्म के प्रति आसक्ति को मिटा देने, इसके विनाश करने द्वारा आत्मा मृत्यु को तर जाता है, मृत्यु को पार कर जाता है; द्वंद्वों के अंदर की सब सीमितता से मुक्ति पा जाता है। इस मुक्ति को पा चुकने पर वह भूतभाव को प्रकृति की ऐसी प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करता है जो (प्रक्रिया) आत्मा के अधीन है न कि आत्मा को बांधनेवाली और इस मुक्त तथा दिव्य भूतभाव (संभूति) द्वारा **अमरता** का उपभोग करता है।

जीवन का औचित्य

इस प्रकार ईशोपनिषद् की यह तृतीय विचार-धारा जीवन और कर्म का औचित्य स्थापित करती है, जिस जीवन और कर्म का विधान **सत्य** के साधक के लिये इस (उपनिषद्) के द्वितीय मंत्र में किया गया है। कर्म जीवन का सार है। और जीवन **ब्रह्म** की एक अभिव्यक्ति है; **ब्रह्म** में **जीवन-तत्त्व** सचेतन सत्ता के सात तत्त्वों के एक सामंजस्य को व्यवस्थित करता है जिसके द्वारा वह अभिव्यक्ति अपने निवर्तन (Involution) तथा विवर्तन (Evolution) को क्रमिकतया साधित करती है। **ब्रह्म** में **मातरिश्वा** [illegible] धाराओं को, दिव्य **सत्ता** की सप्तविध गति को, ठीक प्रकार स्थापित करता है।

वह दिव्य **सत्ता ईश** है, वह ईश जो गति के अंदर सर्वत्र गया हुआ है और जिसने इस विश्व को अपने-में से खोलकर **अपने** तीन प्रकारों से निकाला है, वस्तुओं के **सत्य** के **सर्वद्रष्टा** (कवि) के तौर पर, उनकी संभावनाओं के **विचारक** (मनीषी) के तौर पर, उनकी वास्तविकताओं को निष्पन्न कर देनेवाले **निष्पादक** (परिभूः) के तौर पर। **उसने** अपनी परम प्रभुता द्वारा सब वस्तुओं को उनके अपने स्व-भाव, विकास और उद्देश्य में शाश्वत संवत्सरों से व्यवस्थित किया है।

उसका वह व्यवस्थापन अपना कार्य करता है **उसकी** दोहरी **विद्या** और **अविद्या** की शक्ति द्वारा, सारभूत एकता की चेतना और घटनात्मक बहुविधता की चेतना द्वारा।

बहुविधता अपनी चरम सीमा तक ले जायी गयी सचेतन व्यक्ति के अंदर अपने को पुनः प्राप्त करती है, उस सचेतन व्यक्ति के अंदर जो कि गति के रूपों में निवास करता हुआ और पहले **अज्ञान** की लीला का उपभोग करता हुआ **ईश** है। पीछे से **अज्ञान** के अंदर विकास के द्वारा आत्मा **ज्ञान** की क्षमता को पुनः प्राप्त करता है और **ज्ञान** के द्वारा **अमरता** का उपभोग करता है।

यह **अमरता** प्राप्त की जाती है सीमित 'अहं' को और तज्जनित जन्मों की शृंखला को अजन्मा और अनश्वर की, **शाश्वत** की, **ईश** की, नित्य-मुक्त की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना के अंदर मिटा देने, विलीन कर देने से। परंतु इस (अमरता) का उपभोग किया जाता है जगत् के अंदर एक मुक्त तथा दिव्य संभूति (जन्म) द्वारा, न कि जगत् से बाहर रहकर; क्योंकि वहां जगत् से बाहर तो वह सदा प्राप्त है, यहां इस भौतिक स्थूल देह के अंदर इसे दिव्य **निवासी** द्वारा क्रियान्वित किया जाना, निष्पन्न किया जाना तथा उपभोग किया जाना है। उन परिस्थितियों के अंदर जो कि प्रतीति में इसकी अपनी मर्यादाओं की अत्यंत विरोधी हैं, व्यक्ति के जीवन के अंदर तथा जगत् के बहुविध जीवन के अंदर।

जीवन का अतिक्रमण इसलिये करना है जिससे यह (जीवन) मुक्त रूप में स्वीकार किया जा सके; जगत् के कर्मों का अतिलंघन इसलिये करना है जिससे वे (कर्म) दिव्य रूप में सिद्ध किये जा सकें।

आत्मा अपने प्रतीयमान बंधन तक में वस्तुतः मुक्त है और वह केवल बद्ध होने की क्रीड़ा कर रहा है; परंतु इसे मुक्तता की चेतना के अंदर फिर वापिस पहुंचना है और इस या उस वस्तु को नहीं किंतु **देव** को तथा **सर्व** को सार्वत्रिक रूप में अधिकृत करना तथा उनका उपभोग करना है।

उपनिषदें, जो कि शिक्षा देने के नहीं किंतु प्रकाश देने के साधन हैं, ऐसे जिज्ञासुओं के लिये रची गयी थीं जिन्हें पहले से ही वैदिक तथा वैदान्तिक ऋषियों के विचारों से सामान्य परिचिति होती थी, तथा जिन्हें उन विचारों के आधारभूत सत्यों की कुछ व्यक्तिगत अनुभूति भी होती थी। इसी लिये इनकी वर्णनशैली में एक विचार से दूसरे विचार पर प्रकटतया संक्रमण करने एवं ध्वनित या गौणभूत अभिप्रायों को विकसित करने के तरीके को छोड़ दिया गया है।

★

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ है गूढ़ स्थान में प्रवेश करना। ऋषियों ने तर्क के बल पर, विद्या का प्रसार करके, प्रेरणा के स्रोत में प्रवाहित होकर उपनिषदुक्त ज्ञान को नहीं प्राप्त किया था, बल्कि मन की जिस निभृत कोठरी के गुप्त स्थान में सम्यक् ज्ञान की चाभी लटक रही है, योग के द्वारा अधिकारी होकर, उसी कोठरी में प्रवेश कर उन्होंने उस चाभी को प्राप्त किया था तथा वे अभ्रान्त ज्ञान के विशाल राज्य के राजा हुए थे। वह चाभी हस्तगत हुए बिना उपनिषदों का यथार्थ अर्थ नहीं खुलता। केवल तर्क के बल पर उपनिषदों का अर्थ करना और घने जंगल में ऊंचे ऊंचे वृक्षों की जड़ को मोमबत्ती के प्रकाश में निरीक्षण करना एक ही बात है। साक्षात् दर्शन ही वह सूर्यालोक है जिसके द्वारा सारा अरण्य आलोकित होता है और अन्वेषणकारी की दृष्टि के सामने प्रकट हो जाता है। साक्षात् दर्शन योग के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

—श्रीअरविन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द के पत्र–

प्रेम, भक्ति और भाव

अहैतुकी भक्ति के मार्ग में, प्रत्येक वस्तु साधन बनायी जा सकती है–उदाहरणार्थ, काव्य तथा संगीत केवल काव्य तथा संगीत और केवल भक्ति के उद्गार ही नहीं रहते बल्कि ये स्वयं प्रेम एवं भक्ति का अनुभव प्राप्त कराने के साधन बन जाते हैं। स्वयं ध्यान भी मानसिक एकाग्रता का प्रयत्न न रह-कर प्रेम एवं उपासना एवं पूजा का प्रवाह बन जाता है।

*

योग का लक्ष्य ही है चेतना का परिवर्तन–नई चेतना प्राप्त करके या अन्त:स्थ सत्य सत्ता की गुप्त चेतना का आवरण हटाकर तथा इसे उत्तरोत्तर अभि-व्यक्त एवं पूर्ण करके ही मनुष्य पहले भगवान् का संस्पर्श और फिर उनसे मिलन प्राप्त करता है। आनंद और भक्ति उस गभीरतर चेतना का अंग हैं, और ये स्थायी तभी हो सकती हैं जब मनुष्य उस चेतना में निवास करता तथा उसमें विकसित होता है। तब तक, व्यक्ति आनंद और भक्ति के अनुभवमात्र प्राप्त कर सकता है, पर अचल एवं शाश्वत स्थिति नहीं। किंतु भक्ति तथा निरंतर वृद्धिशील समर्पण की स्थिति सभी को साधना की प्रारंभिक अवस्था में प्राप्त नहीं होती; बहुतों को, नि:संदेह अधिकतर व्यक्तियों को, इस स्थिति के खुलने से पूर्व शुद्धि तथा तपस्या का लंबा मार्ग पार करना होता है और इस प्रकार के अनुभव, जो प्रारंभ में दुर्लभ तथा विकीर्ण और बाद में बहुल होते हैं, उनकी उन्नति के सीमाचिह्न होते हैं। यह उन्नति जिन विशेष अवस्थाओं पर आश्रित है उनका उच्च या निम्न कोटि के योग-सामर्थ्य से कुछ भी संबंध नहीं, बल्कि, जैसा कि तुमने कहा है, वे "दिव्य प्रभाव के सूर्य के प्रति" उद्घाटित होने के लिये हृदय की प्रवृत्ति से संबंध रखती हैं।

*

भगवान् के सामीप्य के लिये प्रेम और सहानुभूति के अभाव की आवश्यकता नहीं; प्रत्युत दूसरों से समीपता तथा एकता का बोध उस दिव्य चेतना का भाग है जिसमें साधक भगवान् के प्रति समीपता तथा भगवान् से एकता के अनुभव द्वारा प्रवेश करता है। नि:संदेह, समस्त संबंधों का पूर्ण परित्याग मायावादी का अंतिम लक्ष्य है, और तपस्यात्मक योग में संसार तथा इसके जीवित प्राणियों से मैत्री, प्रीति एवं आसक्ति के सब संबंधों का नितांत उच्छेद मोक्ष की ओर प्रगति का आशाजनक चिह्न समझा जायगा; परंतु मेरे विचार में, वहां भी प्राणिमात्र से एकत्व तथा अनासक्त आध्यात्मिक सहानुभूति का अनुभव, कम से कम, बौद्धों की करुणा के समान, मोक्ष या निर्वाण की ओर अंतिम झुकाव से पहले की अवस्था है। इस योग में दूसरों से ऐक्य का अनुभव, प्रेम, सार्वभौम हर्ष तथा आनंद इस साधना के लक्ष्यभूत मुक्ति एवं सिद्धि के अनिवार्य अंग हैं।

दूसरी ओर, मानव समाज, मानवीय मैत्री, प्रेम, स्नेह और समवेदना का भाव अधिकांश में एवं साधा-रण तौर पर–पूरी तरह से या निरपवाद रूप में नहीं–प्राणिक आधार पर स्थित तथा अपने अहंरूपी केंद्र से धारित होते हैं। साधारणतया, मनुष्य दूसरों से प्रेम किये जाने में सुख अनुभव होने के कारण, दूसरों के संपर्क से तथा दोनों की आत्मसत्ता के एक दूसरे में व्याप्त होने से अहं का विस्तार करने में सुख और अपने व्यक्तित्व के परिपोषक प्राणिक आदान-प्रदान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हुलास के कारण ही दूसरों से प्रेम करते हैं—इससे और अधिक स्वार्थपूर्ण अन्य हेतु भी होते हैं जो इस मुख्य चेष्टा में मिल मिला जाते हैं। निःसंदेह, उच्चतर आध्यात्मिक, आन्तरात्मिक, मानसिक, प्राणिक तत्त्व भी आ घुसते हैं या घुस सकते हैं; किंतु सारी की सारी वस्तु, अपने सर्वोत्तम रूप में भी, अत्यंत मिलावटी होती है। इसी लिये एक विशेष अवस्था में, प्रत्यक्ष कारण से या उसके विना, जगत् और जीवन और मानवसमाज और संबंध और परोपकार (जो अन्य सबके समान ही अहं-अधिष्ठित होता है) फीके पड़ने लगते हैं। कभी कभी कोई दिखावटी कारण होता है, जैसे, स्थूल प्राण की निराशा, दूसरों का हमें प्रेम करना छोड़ देना अथवा यह अनुभव कि हमारे प्रेमपात्र व्यक्ति या साधारणतया सभी लोग वैसे नहीं हैं जैसा हम उन्हें समझते थे, और अन्य भी कितने ही कारण हो सकते हैं; पर प्रायः आन्तर सत्ता के किसी भाग की गुप्त निराशा ही कारण होती है जिसका रूप मन में प्रकट या सुप्रकट नहीं हुआ होता, और इस निराशा का कारण यह होता है कि आन्तर सत्ता उन चीजों से किसी ऐसी वस्तु की आशा रखती थी जिसे वे नहीं दे सकतीं। जो लोग आध्यात्मिक जीवन की ओर अभिमुख या प्रेरित होते हैं उनमेंसे बहुतों के साथ ऐसा ही होता है। कुछ व्यक्तियों में यह निराशा वैराग्य का रूप धारण करती है और वह वैराग्य उन्हें वैरागियों की सी उदासीनता की ओर प्रेरित करता है तथा मोक्ष के लिये तीव्र वेग प्रदान करता है। अपने लिये, हम जिस चीज को आवश्यक मानते हैं वह यह है कि मिलावट दूर हो जानी चाहिये और चेतना उस शुद्धतर स्तर पर (आध्यात्मिक तथा आन्तरात्मिक ही नहीं बल्कि शुद्धतर एवं उच्चतर मानसिक, प्राणिक, भौतिक चेतना-स्तर पर) प्रतिष्ठापित होनी चाहिये जिसमें यह मिश्रण है ही नहीं। वहां व्यक्ति एकत्व और प्रेम और सहानुभूति और मैत्री का सच्चा आनंद अनुभव करेगा जो अपने आधार में आध्यात्मिक स्वयंसत् है किंतु प्रकृति के अन्य भागों द्वारा अपने प्रकट करता है। यदि ऐसा ही होना है तो यह है कि एक परिवर्तन आवश्यक है; इन क्रियाओं पुराने रूप को नष्ट होकर नई तथा उच्चतर आ को ऐसा अवसर देना चाहिये कि यह उन क्रिया द्वारा अपनी तथा भगवान् की अभिव्यक्ति एवं लब्धि की निज प्रणाली प्रकट करे—इस विषय आन्तर सत्य यही है।

अतः मैं यह समझता हूं कि जिस अवस्था का वर्णन किया है वह संक्रमण तथा परिवर्तन का है। ऐसी अवस्थाएं वा गतियां शुरू शुरू में प्र अभावात्मक ही हुआ करती हैं; वैसे ही तुम्हारी अवस्था भी प्रारंभ में अभावात्मक है और इस प्रयोजन है नई भावात्मक वस्तु के लिये रिक्त काश तैयार करना ताकि वह प्रकट होकर इ निवास करे और इसे पूरित करे। परंतु प्राण, स्थान भरनेवाली वस्तु का चिरस्थायी या कम कम पर्याप्त या पूर्ण अनुभव न होने से, केवल अ ही महसूस करता है तथा इसमें शोक मानता है कि सत्ता का एक अन्य भाग, यहां तक कि प्राण भी एक अन्य भाग लुप्त होती हुई वस्तु को जाने के लिये तैयार होता है तथा इसे रखने को तत् नहीं। यदि प्राण की यह गति न होती (जो तु बहुत प्रबल और विस्तृत और जीने के लिये उत् रही है), तो इन वस्तुओं का विलोप, कम से शून्यता के प्रथम भान के पश्चात्, शांति, वि और महत्तर वस्तुओं की निस्तब्ध प्रतीक्षा का ही पैदा करता। रिक्त स्थान भरने के लिये वस्तु सबसे प्रथम अभिप्रेत है उसका संकेत तुम्हें शांति तथा हर्ष के रूप में मिला जो तुम्हें शिव के के तौर पर अनुभूत हुए—स्वभावतः, यही सब नहीं बल्कि यह प्रारंभमात्र है, नई आत्मा, नई चेत महत्तर प्रकृति की क्रिया के लिये आधार है;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि मैं तुम्हें बता चुका हूं, गभीर आध्यात्मिक स्थिरता तथा शांति ही शाश्वत भक्ति एवं आनंद की एकमात्र दृढ़ भित्ति है। उस नई चेतना में दूसरों से संबंधों के लिये नया ही आधार होगा; कारण, तपस्यात्मक शुष्कता या संसर्गशून्य एकाकिता तुम्हारा आध्यात्मिक भविष्य नहीं हो सकती क्योंकि यह तुम्हारे स्वभाव से संगत नहीं जो स्वभाव हर्ष, विशालता, विस्तार, प्राणशक्ति की व्यापक गति के लिये बना हुआ है। अतः निरुत्साह नहीं होओ; शिव की पावन गति की प्रतीक्षा करो।

*

भावावेश योग में उत्तम तत्त्व है; किंतु भावमय कामना सहज में ही व्याकुलता तथा विघ्न-बाधा की जनक हो जाती है।

अपने भाव भगवान् की ओर फेर दो, उनकी शुद्धि के लिये अभीप्सा करो; तब वे मार्ग में सहायक बन जायंगे तथा आगे को दुःख के कारण नहीं रहेंगे।

भाव को मार डालना नहीं बल्कि उसे भगवान् की ओर मोड़ देना ही योग का ठीक मार्ग है।

परंतु इसे पवित्र, आध्यात्मिक शांति तथा हर्ष पर प्रतिष्ठित, आनंद में रूपांतरित होने के योग्य बनना होगा। मन तथा प्राणमय भागों में समता एवं स्थिरता, हृदय में प्रगाढ़ चैत्य भाव पूरी तरह से एकसंग रह सकते हैं।

अपनी अभीप्सा से हृदय में वह चैत्य अग्नि जागृत करो जो भगवान् की ओर निष्कंपतया प्रज्वलित होती है—भावमय प्रकृति को मुक्त एवं कृतार्थ करने का यही एकमात्र मार्ग है।

—'मोर लाइट्स ऑन योग' से

(गत नवम्बर-दर्शन पर Lights on Yoga (योग-प्रदीप) के क्रम में More Lights on Yoga श्रीअरविन्द का एक नया पत्र-संकलन प्रकाशित हुआ था। ऊपर के पत्र-खण्ड उसी में का एक अध्याय हैं। —सं०)

पुस्तकालय 079473 गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द का योग-समन्वय–

कर्मयोग

दशम अध्याय

प्रकृति के तीन गुण

यदि आत्मा को अपने स्वरूप में स्वतंत्र तथा अपने कर्मों में स्वतंत्र होना है तो अपरा प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया का अतिक्रम करना उसके लिये अनिवार्य है। इस प्रत्यक्ष-तथ्यरूप सार्वभौम प्रकृति के प्रति संगतियुक्त अधीनता, प्राकृतिक करणों के लिये शुभ और पूर्ण कर्म की अवस्था, आत्मा के लिये आदर्श नहीं; उसके लिये अधिक अच्छा यह है कि वह ईश्वर तथा उसकी शक्ति के अधीन किंतु अपनी प्रकृति का स्वामी हो।

प्रकृति के तीन मूलभूत रूपों का विचार प्राचीन भारतीय मनीषियों की उपज है और इसकी सत्यता एकदम प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि यह दीर्घ अध्यात्मविषयक परीक्षण तथा गभीर आन्तर अनुभूति का परिणाम था। अतः सुदीर्घ आन्तर अनुभव के बिना, प्रकृति-शक्तियों के अन्तरीय स्वान्तर्निरीक्षण तथा स्फुरित ज्ञान के बिना इसे ठीक ठीक समझना या दृढ़ता से उपयोग में लाना कठिन है। तथापि कुछ मोटे निर्देश कर्म-मार्ग पर आरूढ़ जिज्ञासु के लिये अपनी प्रकृति के अनेकविध शक्तिसंयोगों को समझने, विश्लेषित करने तथा अपनी स्वीकृति या निषेध से उन्हें नियंत्रित करने में सहायक हो सकते हैं। ये रूप भारतीय पुस्तकों में गुण कहे गये हैं और इन्हें सत्त्व, रज, तम के नाम दिये गये हैं। सत्त्व संतुलन की शक्ति है और गुण के रूप में यह सत्, सामंजस्य, सुख और प्रकाश कहलाता है; रज गति की शक्ति है और गुण के रूप में यह संघर्ष एवं प्रयत्न, आवेश तथा कर्म कहलाता है; तम अचेतना एवं जड़ता की शक्ति है और गुण के रूप में अंधता, क्षमता तथा निष्क्रियता कहलाता है। ये वि लक्षण अध्यात्मविषयक आत्मविश्लेषण के लि प्रायः प्रयुक्त होते हैं और भौतिक प्रकृति में ठीक घटते हैं। अपरा प्रकृति की एक एक व और हर एक सत्ता में ये निहित हैं और प्रकृति कार्यप्रणाली तथा इसका गतिशील रूप इन गुणात्म शक्तियों की परस्परक्रिया का परिणाम हैं।

हमारी अपनी मन-प्राण-शरीररूपी प्रकृति प्रकार के रचनाकारी शक्तिसंघात (त्रिगुण-संयो तथा संतुलन के अतिरिक्त कुछ नहीं। पारिपार्श्वि संस्पर्शों के ग्रहण तथा उनके प्रति प्रतिक्रिया में तीन गुण ग्रहीता का स्वभाव तथा प्रत्युत्तर का स्व निर्धारित करते हैं। जड़ तथा अशक्त रहकर, किसी प्रत्युत्तरस्वरूप प्रतिक्रिया, आत्मरक्षा किसी चेष्टा, या अनुरूप एवं अनुकूल बनाने किसी क्षमता के बिना उन्हें झेल सकता है; तमोगुण है, जड़ता की रीति है। इस जड़ अशक्त का मर्म है अज्ञान का तत्त्व तथा पारिपार्श्विक शक्ति के उत्तेजक या आक्रामक संस्पर्श एवं उनके सुझा को तथा नूतन अनुभव के लिये उनकी प्रेरणा समझने, आयत्त तथा प्रयुक्त करने की अयोग्य या प्रमादपूर्ण अनिच्छा।

दूसरी ओर, प्रकृति के स्पर्शों का ग्रहीता, प्रकृ की शक्तियों से संस्पृष्ट तथा उत्तेजित, पीड़ित आक्रान्त होकर, दबाव के अनुकूल या प्रतिकूल प्रति क्रिया कर सकता है। प्रकृति उसे प्रयत्न करने, प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोध करने, प्रयास करने, अपनी परिस्थिति को अधिकृत या आत्मसात् करने, अपनी इच्छाशक्ति को स्थापित करने, युद्ध तथा निर्माण तथा विजय करने के लिये स्वीकृति, प्रोत्साहना तथा प्रेरणा देती है। यह रजोगुण है, आवेश तथा कर्म तथा कामना की तृष्णा की रीति है। संघर्ष, परिवर्तन और नवसर्जन, विजय-पराजय, हर्ष-शोक और आशा-निराशा इसके संतान हैं और ये इसका ऐसा चित्र-विचित्र जीवन-सदन निर्मित करते हैं जिसमें यह मौज मनाता है। रजोगुण की देन हैं गतिशील बल, स्फूर्ति, कर्मण्यता, ऐसी शक्ति जो सर्जन तथा कर्म करती है और विजय कर सकती है; किंतु यह रजोगुण अविद्या के मिथ्याप्रकाशों या अर्द्ध-प्रकाशों में विचरण करता है और यह असुर, राक्षस तथा पिशाच के स्पर्श से कलुषित होता है। मानव मन का उद्धत अज्ञान और उसके निज-संतुष्ट विकार एवं धृष्ट भ्रांतियां, मद, अहंकार और महत्त्वाकांक्षा, क्रूरता, अत्याचार, पाशविक क्रोध और उग्रता, स्वार्थ, क्षुद्रता, छल, कपट और निकृष्ट नीचता, काम, लोभ और लूटमार, ईर्ष्या, असूया और अथाह कृतघ्नता जो पृथ्वी-प्रकृति को विकृत करती हैं, इस अनिवार्य पर उग्र एवं भयानक प्रकृति-वृत्ति के स्वाभाविक संतान हैं।

परंतु ग्रहण तथा प्रतिक्रिया की एक ऐसी रीति भी संभव है जो स्पष्ट समझ, समस्थिति एवं संतुलन से युक्त हो। प्राकृतिक जीव की इस व्यवहारशैली में एक विशेष शक्ति है। वह शक्ति समझ से युक्त होने के कारण सहानुभूति प्रकाशित करती है; प्रकृति की प्रेरणा और उसकी विधियों की थाह तक पहुंचती और उन्हें अधिकृत तथा विकसित करती है: इसमें ऐसी बुद्धि है जो प्रकृति की कार्यप्रणालियों तथा उसके आशयों की तह में जाती है और उन्हें आत्मसात् कर सकती तथा उपयोग में ला सकती है; इसमें एक प्रसन्न प्रतिक्रिया होती है जो अभिभूत नहीं होती किंतु मेल साधती है, सुधारती, समस्वर करती तथा सभी वस्तुओं में से सार निकाल लेती है। यह सत्त्वगुण है, प्रकृति की वह वृत्ति है जो प्रकाश और संतुलन से पूर्ण है, सत् के, ज्ञान के, आनंद एवं सौंदर्य के, सुख के, ठीक समझ, ठीक संतुलन, ठीक व्यवस्था के लक्ष्य की ओर अभिमुख है: इसका स्वभाव है ज्ञान की उज्ज्वल विशदता का ऐश्वर्य और सहानुभूति एवं घनिष्ठता का ज्वलंत उत्साह।

कोई भी सत्ता वैश्व शक्ति के इन गुणों में से किसी एक के ही न्यारे सांचे में पूरी तरह से नहीं ढली हुई; हर एक में और हर जगह तीनों के तीनों विद्यमान हैं। उनके परिवर्तनशील संबंधों तथा परस्परसंचारी प्रभावों का सतत संयोजन और वियोजन होता रहता है, बहुधा शक्तियों का संघट्ट तथा मल्लयुद्ध, एवं एक दूसरी पर प्रभुता करने के लिये संघर्ष भी। मनुष्य के सामान्य स्वभाव तथा विशिष्ट मन तथा कर्मधारा में इन गुणों में से जो कोई भी साधारणतया प्रबल होता है उसी के अनुसार उस मनुष्य के संबंध में यह कहा जाता है कि वह सात्त्विक, राजसिक या तामसिक है; परंतु ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं जो सदा एक ही प्रकार के हों और अपने प्रकार में विशुद्ध तो कोई भी नहीं होता।

सत्त्व आदि प्रबल गुण देहधारी जीव के मूल आत्मिक-प्रकार नहीं होते वरन् उस रचना के चिह्न-मात्र होते हैं जो जीव ने इस जीवन के लिये या अपनी वर्तमान सत्ता में तथा काल के भीतर अपने विकास के किसी नियत क्षण में निर्मित की है।

★

जब एक बार साधक अपने भीतर या अपने पर होनेवाली प्रकृति की क्रिया से पीछे हटकर, पृथक् होकर, स्थित हो जाता है और हस्तक्षेप न करते हुए, सुधार या निषेध न करते हुए, चुनाव या निर्णय न करते हुए, उसकी क्रीड़ा होने देता तथा उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यपद्धति का विश्लेषण एवं निरीक्षण कर लेता है, तब वह शीघ्र जान जाता है कि प्रकृति के गुण स्वाश्रित हैं और वे वैसे ही कार्य करते हैं जैसे एक बार चलाकर काम में लगायी हुई मशीन अपनी ही रचना तथा संचालक शक्तियों से कार्य करती रहती है। शक्ति और संचालन का स्रोत है प्रकृति, न कि प्राणी। तब उसे यह अनुभव होता है कि 'मेरा यह संस्कार कैसा अशुद्ध था कि मेरा मन मेरे कार्यों का कर्ता है; मेरा मन मेरा एक छोटा सा अंश तथा प्रकृति की रचना एवं इंजनमात्र है।' वास्तव में प्रकृति ही, तीन सार्वभौम गुणों को इस प्रकार घुमाती हुई जिस प्रकार कोई लड़की अपनी गुड़ियों से खेलती हो, अपने गुणों द्वारा बराबर कार्य कर रही थी। उसका 'अहं' सदैव एक यंत्र तथा खिलौना था; उसका चरित्र और बुद्धि, उसके नैतिक गुण तथा मानसिक शक्तियां, उसकी कृतियां, कर्म और पराक्रम, उसका क्रोध और सहिष्णुता, उसकी क्रूरता और करुणा, उसका प्रेम और उसकी घृणा, उसका पाप एवं उसका पुण्य, उसका प्रकाश एवं उसका अंधकार, उसका हर्षावेश एवं उसका शोकोच्छ्वास प्रकृति की क्रीड़ा थे जिसे आत्मा ने, आकृष्ट, विजित तथा वशीकृत होकर, अपनी निष्क्रिय सहमति दी थी। तथापि प्रकृति या शक्ति का नियंतृत्व ही सब कुछ नहीं है, इस विषय में आत्मा की बात भी सुनी जाती है, उसकी भी चलती है,–किंतु गुप्त आत्मा की, पुरुष की, न कि मन वा अहंकार की क्योंकि ये स्वतंत्र सत्ताएं नहीं, ये प्रकृति के ही भाग हैं। आत्मा की अनुमति क्रीड़ा के लिये अपेक्षित है और अनुमति के ईश तथा प्रदाता के रूप में वह (आत्मा) आन्तर मौन संकल्प से क्रीड़ा का नियम निर्धारित कर सकती है तथा अपने त्रिगुणसंयोगों में हस्तक्षेप कर सकती है, चाहे विचार एवं संकल्प एवं कर्म एवं आवेग में क्रियान्वित करना तब भी प्रकृति का ही कार्य तथा अधिकार रहेगा।

यह सर्वथा प्रत्यक्ष ही है कि यदि हमें अपनी वर्तमान प्रकृति का दिव्य चेतना के मूर्त्त बल में तथा उसकी शक्तियों के यंत्र में रूपांतर करना है तो दो निम्न गुणों की क्रिया से छुटकारा पाना अनिवार्य है। तम दिव्य ज्ञान के प्रकाश को धुंधला कर देता है तथा उसे हमारी प्रकृति के अंधेरे और मलिन कोनों में प्रवेश नहीं करने देता। रज ज्ञान को विकृत करता है, हमारी बुद्धि को असत्य की सहायक तथा प्रत्येक अशुभ चेष्टा की उत्तेजक बनाता है, हमारी प्राणशक्ति तथा उसके आवेगों को भड़काता और उलझाता है, शरीर का संतुलन एवं स्वास्थ्य उलट देता है। रज सब अभिजात विचारों तथा उच्चस्थ गतियों पर अधिकार कर लेता है और उनका मिथ्या तथा अहंकारमय उपयोग करता है।

अतएव ऐसा प्रतीत होगा कि सत्त्व का ऐकान्तिक अवलंबन उद्धार का उपाय है: किंतु इसमें कठिनाई यह है कि कोई भी गुण अपने दो संगियों एवं प्रतिस्पर्धियों के विरोध में अकेला विजयी नहीं हो सकता। यदि हम कामना एवं आवेश के गुण को क्षोभ, शोक तथा पाप-ताप का कारण समझकर इसे शांत तथा वशीभूत करने की चेष्टा एवं प्रयास करें, तो रज दब जाता है किंतु तम उभड़ आता है। कारण, सक्रियता का तत्त्व शिथिल पड़ जाने से, जड़ता उसका स्थान ले लेती है। प्रकाश का तत्त्व हमें सुस्थिर शांति, सुख, ज्ञान, प्रेम, शुद्ध भाव प्रदान कर सकता है, परंतु, यदि रज अनुपस्थित हो या नितांत दमित हो, तो आत्मा की शांति अकर्मण्यता की निश्चलता बनती चली जाती है, न कि सक्रिय रूपांतर की दृढ़ भित्ति।

यदि हम यह भूल सुधारने के लिये रज को पुनः आमंत्रित करते हैं तथा इसे सत्त्व से गठबंधन करने देते हैं और इनके सम्मिलित प्रभाव से अंधकारमय तत्त्व से छुटकारा पाने का पुरुषार्थ करते हैं, तो हम देखते हैं कि हमने अपने कर्म का स्तर तो ऊंचा कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया है, किंतु राजसिक उत्सुकता, लालसा, निराशा, दुःख, रोष के प्रति वशवर्तिता फिर भी विद्यमान है। यह हो सकता है कि ये गतियां अपने क्षेत्र एवं भावना तथा क्रिया में पूर्वापेक्षया अधिक उन्नत हों, पर जो शांति, स्वतंत्रता, शक्ति, आत्म-प्रभुता पाने की हमें परम स्पृहा है वे ये नहीं हैं।

एक मूलतः भिन्न प्रकार की गति हमें गुणों से पीछे हटाकर, उनसे पृथक् करके भीतर की ओर ले जायगी तथा उनके ऊपर उठावेगी। जो भ्रांति प्रकृति के गुणों के व्यापार को स्वीकृति देती है उसे समाप्त होना होगा; क्योंकि जब तक इसे स्वीकृति दी जाती है, तब तक आत्मा इनकी क्रियाओं में फंसी हुई है और इनके नियम के अधीन है। रज और तम के समान ही सत्त्व को भी पार करना होगा, सोने की जंजीर भी वैसे ही तोड़ फेंकनी होगी जैसे भारी भरकम बेड़ियां तथा मिलावटी मिश्र-धातु के बंधन-भूषण। गीता इस उद्देश्य के लिये आत्म-अनुशासन की नई विधि बतलाती है। वह है गुणों की क्रिया से पीछे हटकर अपने अंदर स्थित होना तथा प्रकृति की शक्तियों की तरंग के ऊपर विराजमान साक्षी की भांति इस अस्थिर प्रवाह का निरीक्षण करना। साक्षी वह है जो देखता है पर तटस्थ एवं उदासीन है, उन गुणों के निज स्तर पर उनसे पृथक् तथा अपनी स्वाभाविक स्थिति में उनके ऊपर उच्चासीन है। जब वे अपनी तरंगों के रूप में उठते गिरते हैं, तब साक्षी उनकी गतिविधि देखता है, उसका निरीक्षण करता है, परंतु न तो वह इसे स्वीकार करता है न ही इसमें क्षण भर भी हस्तक्षेप करता है। सबसे पहले अव्यक्तिक साक्षी की स्वतंत्रता होनी आवश्यक है; तदनंतर स्वामी या ईश्वर का प्रभुत्व स्थापित हो सकता है।

★

अनासक्ति की इस प्रक्रिया का प्रारंभिक लाभ यह है कि व्यक्ति अपनी निज प्रकृति तथा सर्वजनीन विश्वप्रकृति को समझने लगता है। अनासक्त साक्षी अहंकार से लेशमात्र भी अंध हुए बिना प्रकृति की अविद्यामय शैलियों की क्रीड़ा पूर्णतया देख सकता तथा उसकी सब शाखा-प्रशाखाएं, आवरण एवं सूक्ष्मताएं छान मारने में समर्थ होता है—क्योंकि यह नकली रूप तथा छद्मवेश और जालबंदी तथा धोखेबाजी और छलचातुरी से भरी हुई है। चिर अनुभव से सीखा हुआ, समस्त कर्म एवं अवस्था को गुणों की परस्परक्रिया के रूप में जानता हुआ, उनकी कार्यशैलियों से भिज्ञ होता हुआ वह आगे को उनके आक्रमणों से परास्त नहीं हो सकता, उनके फंदों में एकाएक फंस नहीं सकता अथवा उनके स्वांगों के धोखे में नहीं आ सकता। साथ ही वह देखता है कि अहं यथार्थ में इससे अधिक कुछ नहीं कि वह एक युक्ति है तथा उनकी परस्परक्रिया की धारक ग्रंथि है और, यह जानकर, वह निम्न अहंकारमय प्रकृति की माया से मुक्त हो जाता है। वह परोपकारी तथा मुनि एवं मनीषी के सात्त्विक अहंकार से छूट जाता है; वह स्वार्थसेवी के राजसिक अहंकार को भी अपने प्राण-आवेगों पर अधिकार से च्युत कर देता है और निज-स्वार्थ का परिश्रमी परिपोषक तथा आवेश एवं कामना का पला हुआ कैदी या अतिश्रम करनेवाला दण्डित दास नहीं बना रहता है; वह अज्ञानमय या निष्क्रिय, जड़, बुद्धिहीन तथा मानव जीवन के साधारण चक्कर में फंसी हुई सत्ता के तामसिक अहंकार को ज्ञान-ज्योति से छिन्न भिन्न कर देता है। इस प्रकार हमारे समस्त वैयक्तिक कर्म में अहंभावरूपी मूल दोष का अस्तित्व निश्चित रूप से स्वीकार कर तथा उससे सचेतन होकर, वह आगे को राजसिक या सात्त्विक अहंकार में आत्म-सुधार या आत्म-उद्धार का उपाय ढूंढ़ने की चेष्टा नहीं करता बल्कि इनसे ऊपर, प्रकृति के करणों तथा कार्य-प्रणाली के परे केवल सर्वकर्ममहेश्वर तथा उसकी परम शक्ति, परा प्रकृति की ओर उन्मुख होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रगति में पहला कदम है प्रकृति के तीन गुणों से एक विशेष प्रकार की निर्लिप्त उत्कृष्टता। आत्मा निम्न प्रकृति से आन्तरिक तौर पर पृथग्भूत तथा स्वतंत्र होती है, उसके घेरों में फंसी हुई नहीं होती, उसके ऊर्ध्व में उदासीन और प्रसन्न भाव में स्थित होती है। विश्वप्रकृति अपने पुराने अभ्यासों के त्रिविध चक्र में कार्य करती रहती है,—कामना और हर्ष-शोक हृदय को आ घेरते हैं, सब करणोपकरण अकर्मण्यता तथा जड़ता एवं खिन्नता के गर्त्त में जा गिरते हैं, प्रकाश और शांति हृदय, मन तथा शरीर में फिर लौट आती हैं; किंतु आत्मा इन परिवर्तनों से अपरिवर्तित एवं अप्रभावित रहती है। निम्न अंगों की वेदना तथा कामना का निरीक्षण करती हुई पर उनसे अचलायमान, उनके हर्षों और उनके आयासों पर मुस्कराती हुई, विचार के स्खलन तथा अंधकारों को और हृदय तथा स्नायुओं की उच्छृंखलता एवं दुर्बलताओं को समझती हुई पर उनसे पराभूत न होती हुई, प्रकाश एवं प्रसन्नता के लौटने पर मन की ज्ञानदीप्तियों तथा उसकी सुख-शान्ति से और विश्रान्ति तथा शक्ति के बोध से बाधित एवं आसक्त न होती हुई आत्मा अपने को इनमें से किसी भी चीज में झोंकती नहीं, किंतु अविचलित रहकर उच्चतर इच्छा-शक्ति के निर्देशों तथा महत्तर प्रकाशपूर्ण ज्ञान की स्फुरणाओं की प्रतीक्षा करती है। सदा ऐसा ही करती हुई, यह अपने सक्रिय अंगों में भी तीन गुणों के संघर्ष तथा उनकी अपर्याप्त उपयोगिताओं एवं अवरोधक सीमाओं से अंतिम तौर पर मुक्त हो जाती है। क्योंकि अब यह निम्न प्रकृति उत्तरोत्तर एक उच्चतर शक्ति से प्रबल प्रेरणा अनुभव करती है।

अब केवल साक्षी तथा ज्ञाता ही न रहकर त्रिगुण के बंधन से मुक्त हुई आत्मा की स्थितिशील स्वतंत्रता का मुकुट है प्रकृति का सक्रिय रूपांतर। हमारे तीन करणों में (मन-प्राण-शरीर में) एक दूसरे पर प्रभाव डालते हुए तीन गुणों का सतत मिश्रण एवं विषम व्यापार अपनी साधारण अव्यवस्थित, विक्षुब्ध तथा अशुद्ध क्रिया एवं गति करना छोड़ देता है। अन्य प्रकार की क्रिया संभव हो जाती है, प्रारंभ होती, बढ़ती तथा पराकाष्ठा को पहुंचती है, एक ऐसी क्रिया जो अधिक सच्चे रूप में शुद्ध, अधिक प्रकाशयुक्त होती है तथा पुरुष और प्रकृति की गंभीरतम दिव्य परस्परलीला के लिये तो सहज एवं स्वाभाविक किंतु हमारी वर्तमान अपूर्ण प्रकृति के लिये असाधारण एवं अलौकिक होती है। उच्चतर शक्ति, आनंद और ज्ञान मन, प्राण तथा शरीर के परे के किसी स्रोत से प्रकट होकर नए सिरे से इनका दिव्यतर रूप गढ़ने के लिये इनपर अधिकार कर लेते हैं।

यहां हमारी निम्न सत्ता के त्रिविध गुण के विरोध-वैषम्य पार हो जाते हैं और दिव्य विश्व-प्रकृति का महत्तर त्रिविध गुण प्रारंभ होता है। यहां तम या जड़ता की अंधता का नाम निशान नहीं। तम का स्थान ले लेता है दिव्य शम एवं प्रशांत शाश्वत विश्राम जिसमें से मानो निश्चल एकाग्रता के परम गर्भ से कर्म तथा ज्ञान की लीला आविर्भूत होती है। यहां कोई राजसिक गति नहीं, कोई कामना नहीं, कर्म, सर्जन तथा धारण का कोई हर्षमय एवं शोकमय प्रयास नहीं, विक्षुब्ध आवेग की कोई सार्थक उथल-पुथल नहीं। रज का स्थान ग्रहण करती है आत्म-धृत शक्ति तथा असीम बल-क्रिया जो अपनी अत्यंत प्रचंड तीव्रताओं में भी आत्मा की अचल समस्थिति को डांवाडोल नहीं करती अथवा इसकी शांति के विशाल गहन व्योमों तथा प्रकाशमान अथाह गह्वरों को कलुषित नहीं करती। सत्य को पकड़ने तथा कैद करने के लिये चतुर्दिक् खोजते फिरते हुए मन के निर्माणकारी प्रकाश का यहां अस्तित्व नहीं, चिंताकुल या निश्चेष्ट विश्राम का यहां नाम नहीं। सत्त्व के स्थान पर प्रतिष्ठित होता है प्रकाश तथा आध्यात्मिक आनंद जो आत्मा की गभीरता एवं अनंत सत्ता से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकीभूत होता है और गुह्य सर्वज्ञता के प्रच्छन्न तेजःपुंज से सीधा समुद्भूत होनेवाले प्रत्यक्ष एवं सत्य ज्ञान से अनुप्राणित है। यह है महत्तर चेतना जिसमें हमें अपनी निम्न चेतना को रूपांतरित करना है, त्रिगुण की क्षुब्ध असंतुलित हलचल से युक्त अज्ञान की वर्तमान प्रकृति को इस महत्तर ज्योतिर्मय परा प्रकृति में परिवर्तित करना है।

यह परम समस्वरता तब तक नहीं प्राप्त हो सकती जब तक अहंकारमय संकल्प, चुनाव तथा कर्म बन्द न हो जाय और हमारी सीमित बुद्धि शांत न हो जाय। वैयक्तिक अहंभाव को बल लगाना छोड़ देना होगा, मन को मौन हो जाना होगा, कामनामय संकल्प को सर्वारंभपरित्याग करना सीखना होगा। हमारे व्यक्तित्व को अपने स्रोत में मिल जाना होगा और समस्त विचार तथा आरंभ को ऊर्ध्वलोक से उद्भूत होना होगा। हमारे कर्मों के गुप्त ईश्वर हमारे समक्ष शनैः शनैः प्रकाशित होंगे और परम संकल्प एवं ज्ञान की अभयछाया में दिव्य शक्ति को अनुमति देंगे और वह शक्ति विशुद्ध तथा उच्च प्रकृति को अपना यंत्र बनाकर हममें सभी कर्म करेगी; व्यक्तित्व का व्यष्टि-रूप केंद्र इहलोक में प्रकृति के कर्मों का भर्तामात्र होगा, उनका ग्रहीता तथा वाहन, उसकी शक्ति को प्रतिबिंबित करनेवाला तथा उसके प्रकाश, हर्ष तथा बल में ज्ञानपूर्वक भाग लेनेवाला होगा। यह कर्म करता हुआ भी अकर्ता रहेगा और निम्न प्रकृति की कोई प्रतिक्रिया इसे स्पर्श नहीं करेगी। प्रकृति के तीन गुणों का अतिक्रमण इस परिवर्तन की पहली अवस्था है, उनका रूपांतर इसकी अंतिम सीढ़ी है। इसी से कर्मों का मार्ग हमारी तमसाच्छन्न मानवीय प्रकृति की संकीर्णता के गर्त में से निकलकर ऊर्ध्वस्थित सत्य तथा प्रकाश के अबाध विस्तार में, बृहत् व्योम में आरोहण करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द के महाकाव्य के
एक सर्ग का श्री सुमित्रानंदन पंत द्वारा
हिन्दी रूपांतर

सावित्री

तृतीय पर्व 'भागवती माता' का चतुर्थ सर्ग

मातृ-दर्शन और वरदान

(संकलित अंश)

अपने मनोद्वार पर मातृशक्ति के दर्शन पाने पर मानव के हृदय में यह वाणी स्फुरित हुई :–

'ए सृष्टि के शिखरों पर आरोहण करनेवाले शक्ति-पुत्र,
प्रकाश की खोज में कोई भी तेरा साथी नहीं;
तू अकेला ही शाश्वत के द्वार पर खड़ा है।
तूने जो अधिकृत कर लिया वह तेरा है, अधिक की मांग मत कर।
ओ अज्ञान के आवेष्टन में अभीप्सा-रत आत्मा,
ओ अचेतन लोक से उठी हुई पुकार,
तू उन मनुष्यों की ओर से कैसे बोलेगी जिनके हृदय रुद्ध तथा मूक हैं,
अंधप्राय धरती को आत्मा की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का धाम कैसे बनाएगी?
या इस संज्ञाशून्य भूगोलक का ही भार कैसे हलका करेगी?
मैं मन से अग्राह्य रहस्य हूं,
मैं सूर्यों के कृच्छ्र प्रयास का लक्ष्य हूं;
मेरी आग और मधुरिमा ही जीवन के कारण हैं।
किंतु दुर्वह हैं मेरे भय और आनंद।
तू अपरिमेय अवतरण को सचेष्ट न कर,
मेरा गुह्य नाम विरोधी काल से मत कह;
मनुष्य अनंत का भार वहन करने के अक्षम हैं।
असमय ही सत्य का आविर्भाव अपूर्ण पृथ्वी को ध्वंस न कर दे।'

★

'केवल एक वर मांग, तेरी आत्मा विशालतर बने;
केवल एक सुख की चाह कर, मानवजाति ऊपर उठे।
अंध नियति तथा प्रतिरोधी शक्तियों के ऊपर
एक अविकार महत्तपःशक्ति अचल प्रतिष्ठित है,
अपना कर्मफल उसकी सर्वशक्तिमत्ता को सौंप दे
भगवान् के निर्दिष्ट समय पर सब वस्तुओं का रूपांतर हो जाएगा।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9473

सावित्री के पिता अश्वपति के मुख से मानव अभीप्साकुल होकर कहता है :-

'मैं मृत्युगामी दिवसों से कैसे संतोष करूं,
और पार्थिव विषयों की जड़ मर्यादाओं से,
मैं जो विश्व अवगुंठन से अंतरित
तेरे मुख की शोभा और गरिमा देख चुका हूं।
निर्मम नियति में तूने अपनी संतति को बांधा है!
कब तक हमारी आत्माएं निशा से संघर्ष करेंगी,
हम जो अमर शक्ति के वाहक हैं
और जाति के देवत्व के विधायक?'

*

'हे सत्य, तू जो अपने गुप्त सूर्य में संरक्षित है
तू जो प्रच्छन्न स्वर्गों में मातृशक्ति के महान् चिन्तनों का स्वर है,
उन तथ्यों से उद्भूत जो उसकी प्रकाशमय गहराइयों में अंतर्हित हैं,
हे ज्ञान ऐश्वर्य, जगत् जननी,
विश्व विधात्री, शाश्वत की कलाप्राण वधू,
परम रहस्य, पवित्र वाङ्मयी विद्याधिष्ठात्री,
हे विश्व आनंद की भास्वर स्रोत,
तू जो जगन्मुक्त, ऊपर भी अलभ्य है,
हे परम आनंद, जो सदैव मनुष्य के निभृत अंतर में निवास करता है,
जब कि मनुष्य तुझे बाहर खोजते और कभी नहीं पाते हैं!
तू अपनी शक्ति के पूतशुभ्र आवेश को साकार कर,
अपने एक सजीव रूप को पृथ्वी की ओर प्रेरित कर,
एक बार तेरा परम ज्ञान मर्त्य के मन में संचरण करे
तेरा प्रेम अनन्य भाव से मानव हृदय में स्पंदित हो,
ऐसा वर दे कि तेरी शोभा और स्वर्गीय श्री एक बार मूर्त्तिमान् होकर
पार्थिव पथ पर विचरे
एक महाशब्द शिखरों से उच्चरित हो सके
और एक महान् कर्म नियति के रुद्ध कपाट खोल दे!'

मानव को अपनी प्रार्थना अंधकार के गर्भ में डूबती हुई सी प्रतीत हुई। परम शिखर की ओर आरोहण असंभव सा जान पड़ा। किंतु शीघ्र ही, उत्तर के रूप में, एक व्यापक समर्थन की ध्वनि उसे सुनायी पड़ी। मातृशक्ति का सौन्दर्य शब्द रूप में प्रस्फुटित हो उठा और उसके अधरों पर अमरता का आनंद झंकृत हो उठा :-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ए शक्तिशाली अग्रदूत, मैंने तेरी पुकार सुन ली है।
एक शक्ति अवतरित होगी जो लौह नियम तोड़ देगी
और आत्मा के बल से प्रकृति की अंध नियति बदल देगी।
एक निःसीम मन आएगा जिसमें विश्व समा सकेगा,
एक शांति उद्रेकपूर्ण मधुर उत्कट हृदय
जो देवताओं के आवेगों से आंदोलित रहेगा।
समस्त शक्तियां और विशिष्टताएं उसमें समन्वित होंगी;
सुन्दरता धरा पर स्वर्गीय शोभा में विचरण करेगी,
आनंद उसके कुंतलों के मेघजाल में स्वप्न शयन करेगा,
और उसकी देह में, जैसे अपने वास-तरु में हो,
अमर प्रेम अपने प्रभा-दिव्य पंख फड़काएगा।
शोकहीन तत्त्वों का संगीत उसकी मोहक छवि बुनेगा;
पूर्ण की वीणाएं उसकी वाणी के स्वर मिलाएंगी,
स्वर्ग के स्रोत उसके हास में कलरव करेंगे,
उसके अधर ईश्वर के मधुकोष होंगे,
उसके अंग उसके परम हर्ष के सुनहले कलश,
और उसके उरोज स्वर्ग के आनंदाधिक्य के पुष्प स्तवक।
वह अपने निर्वाक् उर में परम ज्ञान को धारण करेगी
शक्ति उसके पास विजेता के खड्ग के समान होगी
और उसकी आंखों से शाश्वत का उल्लास झांकेगा।
मृत्यु के दारुण क्षण में एक बीज बोया जाएगा
स्वर्ग की एक टहनी मानव भूमि में रोप दी जाएगी;
एक अटल मनःशक्ति भाग्य को बदल देगी।'

अनंत प्रकाश में ज्योति-शिखा की तरह वह मातृमूर्त्ति फिर विलीन हो गयी। जिज्ञासु मानव में नवीन स्फूर्ति तथा साहस का संचार हुआ और वह द्रुततर विकास के लिये महत्तर कर्मों में प्रवृत्त हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरी

"राष्ट्रीय पुरस्कार"

आंध्र विश्वविद्यालय का दीक्षांत महोत्सव

(आंध्र विश्वविद्यालय आंध्र प्रदेश के उत्तरीय भाग में समुद्र तट पर, वाल्टेर नगर से कुछ अलग, उन्नत हरी-भरी भूमि पर, विशाल सांस्कृतिक आयोजना के रूप में स्थित है। अनंत ज्ञान, असीम समुद्र में मूर्त होकर स्थायी प्रेरणा देता प्रतीत होता है।

ऐसी मनोरम और ओजस्वी परिस्थिति में गत ११ दिसम्बर को विश्वविद्यालय का दीक्षान्त महोत्सव हुआ। छः-सात हजार की उपस्थिति के सामने कुलपति, मद्रास प्रांत के श्री गवर्नर महोदय ने शुरु में "राष्ट्रीय पुरस्कार" के श्री अरविन्द को भेंट किये जाने की घोषणा की। उन्होंने कहा कि वे श्रीअरविन्द को सम्मानित करके वास्तव में विश्वविद्यालय को सम्मानित कर रहे हैं। श्रीअरविन्द केवल भारत के ही नहीं हैं, वे विश्व के हैं। उसके बाद उपकुलपति ने राष्ट्रीय पुरस्कार श्रीअरविन्द को भेंट करते हुए भाषण दिया और फिर श्रीअरविन्द से प्राप्त संदेश पढ़ा। तदनन्तर दीक्षान्त की सामान्य कार्रवाई हुई, दीक्षान्त अभिभाषण हुआ तथा सफल विद्यार्थियों को प्रमाणपत्र दिये गये। कहा गया है सारा उत्सव गंभीर तथा ओजस्वी भाव और प्रेरणा से व्याप्त था।

२० दिसम्बर को श्री उपकुलपतिमहोदय पांडिचेरी पधारे और उन्होंने श्रीअरविन्द को वह पुरस्कार स्वयं अर्पित किया। उस समय वे लगभग ४० मिनट तक श्रीअरविन्द के पास रहे और उनका आशीर्वाद प्राप्त कर अतीव प्रसन्न हुए। –सं०)

श्री कट्टमंची रामलिंग रेड्डी का भाषण

कुलपतिमहोदय, 'राष्ट्रीय पुरस्कार' की स्थापना में हमारा लक्ष्य यह था कि विश्वविद्यालय के सदस्यों तथा समकालीन भारत के प्रेरणासंचारक महापुरुषों के बीच संपर्क स्थापित किया जाय–जो महापुरुष इतिहास का निर्माण करते हैं तथा चारों ओर छाये अंधकार में पथप्रदर्शन करनेवाली अमर ज्योतियों के तौर पर इतिहास में जीवित रहते हैं। यदि यही हमारा लक्ष्य था तो आज श्रीअरविन्द ने कृपापूर्वक हमारी यह भेंट स्वीकार करके हमें सफलता के शिखर पर पहुंचा दिया है। हम पुरस्कार प्रदान नहीं कर रहे हैं; हम श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं। जहां हम श्रीअरविन्द को यह भेंट मानवसंस्कृति के प्रति उनकी महान् सेवाओं के उपलक्ष में दे रहे हैं, वहां आंध्र विश्वविद्यालय का यह परम सौभाग्य है कि उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया है और इससे हमारा विद्यालय धन्य हो गया है।

भक्तिपूर्ण विनय के भाव में मैं श्रीअरविन्द को इस युग की षोडशकलापूर्ण विभूति के रूप में प्रणाम करता हूं। वे केवल एक राष्ट्र के महापुरुष ही नहीं, अपितु संपूर्ण मानवजाति के उद्धारकों में से हैं जो सब युगों और सब राष्ट्रों की संपत्ति होते हैं, ऐसे सनातन पुरुषों में से हैं जो, चाहे हम जानें या न जानें, अपनी शाश्वत उपस्थिति से हमारे रोम रोम में संचरित होते रहते हैं।

ऋषि-परंपरा हिन्दू संस्कृति की अत्यंत उज्ज्वल और अमूल्य विशेषता है। इसका उद्गम रहस्यमय प्राचीनता में विलुप्त हो गया है, पर इसका स्रोत कभी रुका नहीं है। यह अपनी उदात्त धारा तब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जारी रखेगी जब तक यह सनातन नहीं हो जाती। वैदिक युग ऋषियों का ही युग था। तदनंतर, एक के बाद एक बहुत से द्रष्टा हुए जिनमें गौतम सिद्धार्थ, मनुष्यजाति के श्रेष्ठ शिरोमणि-सिद्धपुरुष, सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हुए, और उपनिषदों के ऋषि-मुनि, महावीर, नानक, शिवाजी के प्रेरक रामदास, और हमारे अपने युग में दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, और श्रीअरविन्द जिन्हें हम आज अपना 'राष्ट्रीय पुरस्कार' अर्पित कर रहे हैं।

फ्रांस के एक महान् पुरुष ने श्रीअरविन्द को भारत के चरम ऋषि बताते हुए उनका जयजयकार किया है। सच पूछिये तो वे नवीनतम हैं, क्योंकि इस दुःख-बहुल मर्त्यलोक में, ऋषिगण आनंदवर्षिणी अमर जाति होते हैं और वे सदैव दूर दूर तक चमकने-वाली प्रकाश-रश्मियों से पुनः पुनः उन अद्भुत तारों की भांति जगमगाते रहते हैं जिन्हें ज्योतिषी आकाशीय प्रदेशों के ज्योतिस्तंभ कहते हैं।

श्रीअरविन्द अपनी प्रतिभा के क्षेत्र और विस्तार में अति उत्कृष्ट हैं। वे कवि, नाटककार, दार्शनिक तथा समीक्षक हैं और वेद, गीता तथा भारत की सब अनुपम श्रुति-स्मृतियों एवं इतिहास-पुराण के व्याख्याता एवं भाष्यकार हैं और वे इन सबसे भी अधिक ऊंचे एवं अवर्णनीय हैं, एक ऐसे सिद्ध पुरुष हैं जो विश्वात्मा से अपनी एकता उपलब्ध कर चुके हैं और अथाह गहराइयों में डुबकी लगाकर अतिशय अमूल्य एवं उज्ज्वल रत्न निकाल लाये हैं। परंतु श्रीअर-विन्द के व्यक्तित्व के ये अनेक पार्श्व विचार, कर्म एवं ध्येय की सजीव एकता से गुंथे हुए हैं। ये सबके सब उनकी अन्तःस्थित अजरामर ज्योति को अपने नाना रूपों में प्रतिक्षिप्त करते हैं।

मुझे श्रीअरविन्द के जीवन का ऐतिहासिक घटना-क्रम से वर्णन नहीं करना है। हमारे प्रोफेसर श्री श्रीनिवास आयंगर लिखित श्रीअरविन्द का भव्य जीवन-चरित स्वाध्याय के लिये सर्वसुलभ ही है। यह पुस्तक अतीव आकर्षक एवं ओजस्वी शैली में लिखी हुई है और इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं कि यह अंग्रेजी साहित्य में एक अत्युत्तम कृति समझी जा सकती है। श्रीअरविन्द से प्रसृत प्रभामण्डल में प्रकाशमान होने की अपनी तुच्छ इच्छा तथा क्षम्य धृष्टतावश मेरा यह स्मरण करना शायद अनुचित न होगा कि हम दोनों कैम्ब्रिज के स्नातक हैं यद्यपि वे मुझसे बहुत उच्च कक्षा में थे और कि बड़ोदा कालिज का उपाचार्य-पद उनके बाद मुझे ही प्राप्त हुआ। उनके पूर्व आश्रम में ही उनसे कुछ थोड़ा सा परिचय होने का सम्मान मुझे प्राप्त था। उनके कितने ही मित्र मेरे भी मित्र थे। बड़ोदा कालिज के आचार्य श्री ए. बी. क्लार्क ने एक बार मुझसे कहा, "अच्छा, तो आप श्रीअरविन्द घोष से मिले। क्या आपने उनकी आंखें ध्यान से देखीं? उनमें एक गुह्य ज्योति और तेज है। वे अगम तत्त्व के भीतर पैठ जाती हैं।" और साथ में उन्होंने यह भी कहा, "जहां जोन ऑफ आर्क (Joan of Arc) दिव्य शब्द सुनती थीं, वहां श्रीअरविन्द को बहुत संभवतः दिव्य दर्शन प्राप्त होते हैं।" क्लार्क जड़वादियों के जड़वादी थे। मुझे यह कभी समझ में नहीं आया कि वे, सांसारिक पर बहुत हंसमुख व्यक्ति, श्रीअर-विन्द के विषय में इस तब तक प्रच्छन्न सत्य की झांकी कैसे पा सके? परंतु क्या चपला की चौंधियानेवाली चमक, जो क्षणिक ही होती है, घनघोर घटा का गर्भ चीरकर प्रकट नहीं हो जाती? अलीपुर जेल में श्रीअरविन्द को एक वर्ष तक एकान्त और ध्यान का जो सुअवसर प्राप्त हुआ, वह उनकी जीवनचर्या की दिशा पलटनेवाला काल था। ब्रिटिश सरकार ने उनकी देह को कैद कर लिया पर उनकी आत्मा बंधनमुक्त हो गयी। सरकार का तो ऐसा आशय नहीं था किंतु जो अच्छे से अच्छे कार्य हम करते हैं वे, बहुधा अनजान में, स्वयं ही हो जाते हैं। देह बद्ध,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा मुक्त, यह उनके कारावास का विरोधाभास था। वहीं उन्हें प्रथम गुह्य अनुभव प्राप्त हुए तथा उन सनातन सत्यों का भी साक्षात्कार हुआ जो हमारे स्फोट-सिद्धांत के अनुसार, विश्वव्यापी आकाश में तैरते हुए से, नित्य-वर्तमान हैं। आत्मानुभव की प्राप्ति होने पर वे १९१० में पांडिचेरी जाकर एकांत-वास करने लगे। पर क्या कोई ऋषि वास्तव में कभी संसारत्यागी हो सकता है? वह शरीर की दृष्टि से एकांतसेवी भले ही हो जाय, किंतु प्रायः शरीर का एकांतवास इस बात का मंगलाचरण होता है कि आत्मा द्युलोक के शिखरों पर आरोहण कर सकल विश्व को व्याप्त कर ले। उनकी भौतिक सत्ता वा स्थूल शरीर पांडिचेरी में है; किंतु उनका प्रभाव? क्या हम देश में या काल में उसकी सीमा निरूपित कर सकते हैं? उनका आश्रम संसार का एक ज्योतिस्तंभ है और जाति एवं देश के भेदभाव के बिना वह श्रद्धाभक्तिमान् गभीरचेता व्यक्तियों को आकृष्ट करता है। काल-परिमाण की दृष्टि से वे ७६ वर्ष के हैं, पर वास्तव में न तो काल ही उन्हें स्पर्श कर सकता है और न पृथ्वी तथा उसकी मलिनताएं। उनकी आत्मा तारे के समान है और स्वतंत्र-निवास करती है।

श्रीअरविन्द में, साहित्य, दर्शन, तथा आत्मानुभव की साधना, एक ही चक्राकार पथ के रूप में परस्पर आश्रय एवं सामंजस्य द्वारा पृथ्वी से द्यौ की ओर आरोहण कर रही हैं। श्री श्रीनिवास आयंगर के सुन्दर सारभूत शब्दों में, "ऋषि ने सद्वस्तु का साक्षात् किया है; कवि ने अपना 'समाधि की आनंद-मग्न भूमिकाएं' विषयक स्तुतिगीत गाया है; दार्शनिक ने बुद्धि की परिभाषाओं में अन्तर्दृष्टि की व्याख्या करने का यत्न किया है; योगी ने चेतना में अभीष्ट परिवर्तन साधित करने के लिये एक पद्धति, बहुरूप प्रणाली ग्रथित की है; समाजशास्त्री ने भावी जगत् के संगठन के संबंध में महत्त्वपूर्ण निर्देश प्रस्तुत किये हैं; और सर्जनशील समीक्षक ने 'भावी काव्य' के लयतालों का संवेदन प्राप्त किया है और यह बताया है कि कैसे 'नवीन' कवि मूलभूत आध्यात्मिकता के पंखों पर विचरण करेगा तथा आत्मा की अपरिहार्य स्वरलहरी व्यक्त करेगा।"

कवि के रूप में श्रीअरविन्द का स्थान अतीव ऊंचा है। छन्दशास्त्र के अति कठिन रूप, मुक्तछन्द में, जो अकुशल कवियों के हाथों दुर्दशाग्रस्त होकर गद्यात्मक रूप धारण कर लेता है, उनका स्थान अनुपम एवं अत्युच्च है। 'उर्वशी', 'प्रेम और मृत्यु', और 'सावित्री', जो कथा भी है और प्रतीक भी, छवि एवं सौंदर्य की दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य में अद्वितीय हैं। 'षट्पदी' छंद में,–प्राचीन परिष्कृत 'षट्पदी' छंद में, जिसका आधुनिक देशकाल में प्रयोग करना भी कठिन है,–रची हुई उनकी 'अहना' और 'इलियन पर उषा' उच्च कोटि की रचनाएं हैं। 'सावित्री' काव्य अभी उदित और विकसित हो रहा है तथा अपनी श्रीशोभा के पूर्णप्रवाह को प्राप्त नहीं हुआ है, और जब ऐसा होगा तब यह महाभारत की अमर कथा में नया रंग-रूप, नवीन जीवन एवं आकर्षण पैदा कर देगा। अपनी अनेक समालोचनात्मक कृतियों में, एवं वेद तथा गीता की व्याख्याओं में, उन्होंने विशाल अनुसंधान में कवि की स्फुरणा, दार्शनिक के चिंतन तथा ऋषि की दृष्टि की पुट दे दी है। उनका एक वाक्य संयुक्त-राष्ट्रसंघ को प्रेरित करने तथा उसे आध्यात्मिक आधार एवं आश्वासन प्रदान करने में सहायक होगा–'विकास विविधता द्वारा सरल से जटिल एकता की ओर अग्रसर होता है। एकता की ओर मनुष्यजाति बढ़ रही है, और एक न एक दिन इसे अवश्य पा लेगी।' 'जटिल एकता' एक सुंदर सूक्ति है और आशा एवं आश्वासन की सुदूरस्पर्शी किरण है, यद्यपि आज हम सब जटिलता से अभिभूत हैं और अणु बंब की प्रलयंकर शक्ति के दबाव के बिना और किसी तरह एकता के पास पहुंचते नहीं दीखते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्वर विविधता के भीतर मानवीय एकता के निश्चित पर मंद विकास में श्रीअरविन्द की श्रद्धा ऐसी दृढ़ है कि वह प्रत्यक्ष प्रबल तथ्यों से क्षीण वा पराजित नहीं हो सकती। प्रत्युत यह एक ऐसी श्रद्धा है जो दृश्य तथ्य पर विजय पाने तथा उसे हृदय की इच्छा से अधिक मिलता-जुलता नया रूप देने में संलग्न है। उनका स्थान अवतारों की श्रेणी में है जो यह देखते हैं कि वर्तमान तो क्षणिक है; इसे मनुष्य के आशावाद के ऊपर छा जाने का अवकाश नहीं देना चाहिये।

श्रीअरविन्द की अनुपम विशेषता यह नहीं कि वे विद्वान् या दार्शनिक हैं बल्कि यह है कि वे एक योगी हैं जो प्रकाश प्राप्त कर चुके हैं तथा उसे आनंदपूर्ण प्रचुरता से प्रसारित करते हैं। वे दिव्य जीवन के अग्रदूत हैं। उनके लिये यह प्रत्यक्ष अनुभव है न कि विचारमात्र। इसे अन्य लोग भी प्राप्त कर सकते और इसके सहभागी हो सकते हैं। जिस आध्यात्मिक खोज के परिणामस्वरूप उन्हें महान् विजय प्राप्त हुई उसका स्वरूप वे श्री चित्तरंजन दास को जो अलीपुर अभियोग में उनके पक्ष के वकील थे, एक पत्र में इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं—'मुझे यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि मानवजाति जिस निरर्थक चक्र में सदा से चक्कर काट रही है उसमें से मनुष्य तब तक बाहर नहीं निकल सकता जब तक वह अपने को ऊंचा उठाकर नये आधार पर स्थित नहीं कर लेता। कैसे हमारे वर्तमान करण—बुद्धि, मन, प्राण, शरीर—इस महान् रूपांतर के सच्चे एवं पूर्ण साधन बनाये जा सकते हैं? यही समस्या थी जिसे मैं अपने अनुभव में सुलझाने का यत्न करता रहा हूं और अब मुझे इसके रहस्य का निश्चित आधार, विशाल ज्ञान तथा कुछ न कुछ प्रभुत्व प्राप्त हो गया है।' उन्होंने अपनी शिक्षा 'दिव्य जीवन (The Life Divine)' नामक ग्रंथ में प्रतिपादित की है। यह ग्रंथ मानव विचार एवं अभीप्सा के इतिहास में निर्णायक प्रगति के चिह्न के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा। सर फ्रांसिस यंग-हज़्बैण्ड ने इसकी इन शब्दों में स्तुति की है कि यह 'मेरे जीवनकाल में प्रकाशित सबसे महान् ग्रंथ है।' पाईथागोरस ने स्वर्ग के संगीत का वर्णन किया था। इस ग्रंथ में वर्णित है मानवता का संगीत जो पूर्ववत् विषादपूर्ण नहीं बल्कि द्युलोक की ओर आरोहण कर रहा है। श्रीअरविन्द का विश्वास है कि हम जीवन की उच्चतर अवस्था में विकसित होंगे; और यह विकास हमें अपने वर्तमान जीवन के बंधनों तथा दुख-दैन्य पर विजय पाने में समर्थ बनावेगा और हमें एकसार एवं शुद्ध गतिवाले जगत् की ओर, सामंजस्य एवं आनंद के जीवन की ओर, ले जायगा। विकास की यह प्रक्रिया यथार्थ है। यह यहीं और अभी—इहैव—निरन्तर क्रिया कर रही है और अपने को चरितार्थ किये बिना रुकेगी नहीं। समय आने पर मनुष्य वह नवजीवन प्राप्त करेगा जिसमें न तो दुखदर्द का नाम होगा और न ही मृत्यु की यंत्रणा।

श्रीअरविन्द इस शुभ दिन का आगमन अवश्यम्भावी बताते हुए हमारी निराशा दूर करते हैं। इस मृत्युलोक में वे अमर जीव हमें अमृतत्व का आश्वासन देते हैं। श्रीअरविन्द, संसार को आपकी आवश्यकता है, और अतएव आप अब तक हमारे साथ हैं।

कुलपतिमहोदय, अब मैं आंध्र विश्वविद्यालय की ओर से आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप कृपा करके यह 'राष्ट्रीय पुरस्कार'—जिसके साथ मेरा नाम जुड़ा होना मेरे लिये सौभाग्य का विषय है चाहे मैं इसके योग्य तो नहीं हूं—श्रीअरविन्द को, उनकी अनुपस्थिति में ही, भेंट कर दीजिये। मुझे संदेह है कि 'अनुपस्थिति में' यह पद-प्रयोग यहां ठीक नहीं घटता। कारण, चाहे श्रीअरविन्द अति एकांतवास का जीवन बिताते हैं, लोगों से बहुत ही कम मिलते हैं अथवा लोग भी उन्हें कदाचित् ही देख पाते हैं, फिर भी संसार के सभी भागों में उनके सहस्रों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त उन्हें प्रत्यक्ष उपस्थिति के रूप में अनुभव करते हैं। वे भूतल के प्राणी नहीं हैं और भूलोकवासियों से मिलते जुलते नहीं, किंतु आकाश हमें सब तरफ से व्याप्त किये हुए है। कुलपतिमहोदय, आप 'सर कट्ट-मंची रामलिंग रेड्डी राष्ट्रीय पुरस्कार' श्रीअरविन्द को भेंट करके आंध्र विश्वविद्यालय को सम्मानित कीजिये, और मैं इस धृष्टतापूर्ण कथन के लिये क्षमा चाहता हूं कि आप अपनेको भी सम्मानित कीजिये।

श्रीअरविन्द का संदेश

आपने मुझसे संदेश मांगा है और क्योंकि मैं अपना संदेश–यदि इसे यह नाम दिया जा सकता हो–आंध्र विश्वविद्यालय के लिये ही दे रहा हूं, अतः जो कुछ भी मैं लिखूं वह आपके विश्वविद्यालय, उसके कार्य, उसकी विशेषता तथा उसके कर्तव्य कर्म से संबद्ध होना चाहिये। परंतु इस संधिक्षण में, इस विकट काल में, जब कि इस देश के शासन एवं प्रबंध का रूप-स्वरूप ही नहीं अपितु इसके भविष्य का आदर्श, राष्ट्र के चरित्र का गठन एवं निर्माण, अन्य राष्ट्रों के संबंध से संसार में इसकी स्थिति तथा इसने स्वयं क्या बनना है इस विषय में इसकी अभिरुचि निर्धारित करनेवाले महत्त्वपूर्ण निर्णय किये जा रहे हैं तब इस ओर दृष्टिपात न करना मेरे लिये कठिन है। आज देश के सामने एक विकट समस्या उपस्थित है जिसका हमसे निकट संबंध है। इस समय मैं उसी को लेकर संक्षेप में कुछ कहता हूं। यह समस्या है, ब्रिटेन-निर्मित कृत्रिम मंडलों तथा प्रांतों की पुनर्रचना करके उन्हें स्वाभाविक विभागों की एक नई,–नई किंतु प्राचीन भारत द्वारा परीक्षित 'एकता में विविधता' के सिद्धांत पर प्रतिष्ठित–व्यवस्था में परिणत करने की मांग। हिमालय तथा समुद्र से परिवेष्टित, पृथक् अस्तित्व रखता हुआ भारत सदा ही एक विलक्षण जाति का घर रहा है। इस जाति की दूसरों से स्पष्ट भिन्न अपनी ही विशेषताएं रही हैं, अपनी ही विशिष्ट सभ्यता, जीवन-शैली, आध्यात्मिक गतिविधि, पृथक् संस्कृति, कला-कलाप एवं समाज-व्यवस्था रही है। इसमें जो कुछ भी प्रविष्ट हुआ है वह सब इसने अपने आपमें घुला मिला लिया है, सबपर भारतीय छाप लगा दी है, अत्यंत विभिन्न तत्त्वों को भी अपनी आधारभूत एकता के सांचे में ढालकर एकीभूत कर डाला है। परंतु यह लगातार ही विविध जातियों, प्रदेशों, राज्यों तथा, प्राचीनतर काल में, जनतंत्रराज्यों का भी और नाना उपजातियों एवं उपराष्ट्रों का समुदाय रहा है जिनका अपना अपना विशेष स्वभाव था और जिन्होंने सभ्यता एवं संस्कृति के नानाविध नमूने या रूप तथा कला एवं स्थापत्य के अनेक संप्रदाय विकसित किये। ये संप्रदाय भिन्न होते हुए भी सभ्यता तथा संस्कृति के सामान्य भारतीय आदर्श से अपना मेल बैठाने में सफल रहे। भारत को राजनीतिक तथा सांस्कृतिक तौर पर एक करने के लिये इन सब अनेकविध तत्त्वों को मिलाकर एक केंद्रीय चक्रवर्ती राज्य के अधीन, अभिन्न राजनीतिक अखण्डता के सूत्र में पिरो देने की प्रवृत्ति एवं अनवरत चेष्टा भारत के इतिहास में निरंतर देखने में आती है। यहां तक कि अतिभिन्न धर्म एवं समाजरचनावाली मुस्लिम जातियों के अकस्मात् आक्रमण से फूट-फुटाव पैदा होने के बाद भी राजनीतिक एकीकरण के लिये सतत प्रयत्न जारी रहा और संस्कृतियों के मिलन तथा पारस्परिक प्रभाव की प्रवृत्ति बनी रही; इन दो प्रत्यक्षतः विरुद्ध धर्म-विश्वासों से बने हुए साझे धर्म की खोज एवं रचना के लिये भी कई वीरतापूर्ण पुरुषार्थ किये गये और इस क्षेत्र में भी एक दूसरे पर प्रभाव पड़े। किंतु भारत के संपूर्ण इतिहास में राजनीतिक एकता पूरी तरह से कभी संपन्न नहीं हुई और

अनेक कारण थे,–प्रथम, देश की विशालता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा यातायात के साधनों की कमी जिससे इन सब विभिन्न जातियों को पास पास लाने में बाधा पड़ती थी; दूसरे, इसके लिये प्रयुक्त विधि, अर्थात् यह कि एक जाति या एक राजवंश शेष सारे देश पर सैनिक आधिपत्य करता था जिसके परिणाम-स्वरूप एक के बाद एक कितने ही राज्य हुए पर उनमें से कोई भी स्थायी नहीं रहा; अंत में, इन सब भिन्न-भिन्न राज्यों की सत्ता कुचलकर इन विभिन्न जातियों को घुला-मिला देने तथा इन्हें एक ही सारवस्तु और एक ही आकृति में बलपूर्वक ढाल देने के लिये किसी भी इच्छाशक्ति का अभाव। फिर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का पदार्पण हुआ। इसने केवल अपनी सुविधा के लिये ही सारे देश को नये सिरे से कृत्रिम प्रांतों में गठित किया। इसने प्रादेशिक जात्यनुसारी विभाजन के सिद्धांत की उपेक्षा की पर वह विभाजन मिटा नहीं डाला। क्योंकि मूल जातियों में से उपराष्ट्रों की एक स्वाभाविक व्यवस्था विकसित हो चुकी थी; ये उपराष्ट्र थे—चार द्राविड़ जातियां, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, सिंध, आसाम, उड़ीसा, नेपाल, उत्तर की हिन्दीभाषी जातियां, राजपूताना और बिहार; इनकी अपनी भिन्न-भिन्न भाषाएं, साहित्य तथा अन्य परंपराएं थीं। ब्रिटिश राज्य ने प्रांतीय शासन-प्रणाली से राज्य-प्रबंध करते हुए इन जातियों को मिलाया तो नहीं किंतु एक ही प्रकार के शासन-प्रबंध तथा अंग्रेजी भाषा द्वारा निकटतर परस्पर-व्यवहार का स्वभाव उनमें अवश्य डाल दिया और जिस प्रकार की शिक्षा इसने दी उससे एक अधिक विस्तृत और अधिक संग्रामशील रूपवाली देशभक्ति, स्वतंत्र होने की इच्छा और स्वतंत्रताप्राप्ति के संघर्ष में एकता की आवश्यकता का जन्म हुआ। स्वतंत्रता अधिगत करने के लिये पर्याप्त संघर्षकारी एकता संपादित हो गयी, किंतु जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई वह देश की पूर्ण एकता नहीं लायी। इसके विपरीत, भारत दो-राष्ट्रों के सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान और हिंदुस्तान में जानबूझकर बांट दिया गया और इसके जो घातक परिणाम हुए उन्हें हम जानते ही हैं।

ब्रिटेन से शासन-प्रबंध अपने हाथों में लेने पर यह अनिवार्य था कि हम न्यूनतम प्रतिरोध के मार्ग का अनुसरण करें तथा, कम से कम अभी, ब्रिटेन-निर्मित कृत्रिम प्रांतों के आधार पर अग्रसर हों; यह अल्पकालीन व्यवस्था अब, कम से कम अपने मुख्य अंशों में स्थायी होने के लिये, विभीषिका का रूप धारण कर रही है और कुछ लोग इसके स्थायी रहने में लाभ देखते हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि यह देश के एकीकरण में सहायक होगी और उन प्रादेशिक उपराष्ट्रों को कायम रखने की आवश्यकता से हमें मुक्त करेगी जिन्होंने भूतकाल में देश को अखंड एवं पूर्ण ऐक्य तथा एकरूपता से दूर रखा। नियंत्रित एकीकरण में ही वे एकमात्र सच्ची एकता देखते हैं, अर्थात् एक ऐसा राष्ट्र देखते हैं जिसमें नियत तथा एकसार राज्य-प्रबंध, भाषा, साहित्य, संस्कृति, कला, शिक्षा हों,—और ये सबके सब एक ही राष्ट्रीय भाषा के माध्यम से संचालित हों। ऐसा विचार भविष्य में कहां तक कार्यान्वित हो सकता है यह कोई अभी से नहीं कह सकता, पर अभी तो यह स्पष्टतया अव्यवहार्य है, और यह भी संदिग्ध है कि यह भारत के लिये वस्तुतः वांछनीय भी है कि नहीं। देश की प्राचीन विविधताओं के महान् लाभ भी थे और हानियां भी। इन भेदों ने देश को जीवन, कला तथा संस्कृति का और एकता में भी समृद्ध एवं सुचारु रूप से रंजित विविधता के अनेक सप्राण एवं स्पंदनशील केंद्रों का घर बनाया; सारा देश कुछ एक प्रांतीय राजधानियों या एक राजकीय मुख्य नगर में इस प्रकार नहीं सजा दिया गया था कि अन्य नगर और प्रदेश गौणभूत तथा अप्रसिद्ध या यहां तक कि सांस्कृतिक तौर पर प्रसुप्त रहें; संपूर्ण राष्ट्र के अंग अंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्राणों का पूर्ण संचार होता था और इससे समष्टि की सर्जनशील शक्ति अत्यधिक बढ़ती थी। अब आगे ऐसी कोई संभावना नहीं है कि यह विषमता भारत की एकता को संकट में डाल देगी या क्षति पहुंचावेगी। जो विशाल अंतराल उसकी जनता को घनिष्ठता तथा यथेष्ट परस्परव्यवहार से दूर रखते थे उनका पृथक्कारी प्रभाव आज विज्ञान की उन्नति एवं यातायात साधनों की आशु गति ने मिटा दिया है। संघशासन का विचार तथा उसके पूरी तरह से काम करने के लिये पूर्ण साधन उपलब्ध हो गये हैं और वे पूरे बल से क्रिया करेंगे। सबसे बढ़कर, देशभक्तिमय एकता की भावना जनता में इतनी दृढ़ता से जड़ पकड़ चुकी है कि वह आसानी से उखाड़ी नहीं जा सकती और न ही कम की जा सकती है, और यह भावना तब अधिक संकट में पड़ जायगी यदि उपराष्ट्रों की उचित अभीप्साएं तृप्त करने की अपेक्षा उनके जीवन की स्वाभाविक क्रीड़ा में बाधा डाली जायगी। स्वयं कांग्रेस ने भी स्वाधीनताप्राप्ति से पहले के दिनों में भाषा के आधार पर प्रान्तों के निर्माण का वचन दिया था, और इसे यदि तुरंत नहीं तो सुविधापूर्वक यथाशीघ्र कार्यान्वित करना सचमुच अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यक्रम होगा। भारत का राष्ट्रीय जीवन तब अपने स्वाभाविक सामर्थ्यों पर सुप्रतिष्ठित हो जायगा और जो 'विभिन्नता में एकता' का सिद्धांत सदा ही उसके लिये सहज एवं सामान्य रहा है तथा जिसकी चरितार्थता उसकी सत्ता तथा उसकी प्रकृति की मूल गतिविधि रही है, वह 'एक' में 'बहु' का सिद्धांत, उसे अपने स्वभाव एवं स्वधर्म के सुनिश्चित आधार पर स्थापित कर देगा।

यह प्रगति वास्तव में उसके भविष्य की अनिवार्य दिशा समझी जा सकती है। क्योंकि द्राविड़ प्रादेशिक जातियां स्व-शासक अस्तित्व के लिये अपना पृथक् अधिकार मांग रही हैं; महाराष्ट्र भी वैसी ही रियासत की आशा करता है और इसका अर्थ यह होगा कि गुजरात में भी ऐसी ही अवस्था उत्पन्न होगी और फिर ब्रिटेन-निर्मित मद्रास तथा बंबई के महाप्रांत लुप्त हो जायंगे। पुरानी बंगाल प्रेजिडेंसी पहले ही भंग हो चुकी थी और उड़ीसा, बिहार तथा आसाम अब स्व-शासित प्रादेशिक जनपद हैं। मध्यप्रांत तथा युक्तप्रांत के हिन्दीभाषी भाग के विलीनीकरण से यह प्रक्रिया पूरी हो जायगी। भारत का विभाजन दूर होने से, व्यापक प्रवृत्ति के इस परिणाम में कुछ हेर फेर भले ही हो पर उसमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होगा। तब फिर रियासतों तथा प्रादेशिक जनपदों का संगठन ही संयुक्त भारत का स्वरूप होगा।

इस नई शासनव्यवस्था में आपका विश्वविद्यालय अपना विशेष कार्य और सार्थकता प्राप्त करेगा। इसका जन्म अन्य भारतीय विश्वविद्यालयों के जन्म की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ है; उनकी स्थापना विदेशी सरकार के सूत्रधारों ने भारत में अपनी ही सभ्यता प्रचलित करने के साधन के रूप में की तथा वे प्रांतों के प्रधान प्रधान नगरों में स्थित थे और केवल विश्वविद्यालयसंबंधी उद्देश्योंवाले, शिक्षा देने तथा परीक्षा लेनेवाले संगठन थे: बनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालयों का उद्भव भिन्न प्रकार से हुआ पर वे देश के दो मुख्य धार्मिक समाजों की सेवा करनेवाली अखिलभारतीय संस्थाएं थीं। आंध्र यूनिवर्सिटी का निर्माण आंध्र के देशभक्तों के उपक्रम से हुआ है और यह प्रांत की राजधानी में नहीं किंतु एक आंध्र नगर में स्थित है और एक प्रादेशिक जाति के जीवन की सजग रूप में सेवा कर रही है। बलिष्ठ और वीर्यवान् और पराक्रमी जाति का वासस्थान, भारत के राजनीतिक जीवन में भूत में इसने जो भाग लिया उसके कारण महिमाशाली, कला, स्थापत्य, मूर्त्तिनिर्माण, संगीत में अपनी सफलताओं से गौरवान्वित आंध्र अपने अतीत की सर्वश्रेष्ठ स्मृतियों पर दृक्पात करता हुआ उन राज्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और राजवंशों की शृंखला में अपना स्थान देखता है जिन्होंने देश के बहुत बड़े भाग पर शासन किया; यह विजयनगर के अंतिम हिन्दू साम्राज्य की गौरव-गरिमा की अधिक नई स्मृति पर दृष्टि डालता है; यह एक ऐसा इतिहास है जो किसी भी जाति का मुख उज्ज्वल कर सकता है। आपका विश्वविद्यालय ज्ञानज्योति और विद्या, शिक्षा और संस्कृति के केंद्र के रूप में अपना उच्च स्थान ग्रहण कर सकता है, वह केंद्र आंध्र के युवकों को अपने पूर्वजों के अनुरूप एवं योग्य बनने के लिये शिक्षित कर सकता है: महान् भूत के परिणामस्वरूप उतने ही महान् या उससे अधिक महान् भविष्य का जन्म होना चाहिये। केवल विज्ञान ही नहीं वरन् कला भी, केवल पुस्तकीय शिक्षा तथा अभिज्ञता एवं ज्ञान-संग्रह ही नहीं अपितु संस्कृति तथा चरित्र में विकास, सच्ची शिक्षा के अंग हैं; व्यक्ति को अपनी क्षमताएं विकसित करने में सहायता देना, भावी विचारक एवं रचयिता तथा सूक्ष्मदर्शी एवं कर्मवीर व्यक्ति पैदा करने में सहायक होना, इसके कर्तव्य का अंग है। इसके अतिरिक्त, प्रादेशिक जाति का जीवन अपनी ही चारदीवारी के भीतर बंद नहीं रहना चाहिये; इसके युवकों को भारत की अपने जैसी अन्य जातियों के जीवन से भी संपर्क रखना होगा; व्यापार एवं व्यवसाय में तथा जीवन के अन्य व्यावहारिक क्षेत्रों में और साथ ही मन तथा आत्मा के विषयों में भी उनसे मिलकर काम करना होगा। और फिर, उन्हें आंध्र के नागरिक ही नहीं अपितु भारत के नागरिक होना सीखना है; राष्ट्र का जीवन उनका जीवन है। आज हमें ऐसे सर्वोत्कृष्ट व्यक्तियों के निर्माण की आवश्यकता है जिन्हें सब महान् राष्ट्रीय मामलों या प्रश्नों की पूरी समझ हो और जो राष्ट्र की सभाओं में तथा राष्ट्रीय हित के प्रत्येक काम-धंधे में, जहां प्रदेशवासियों के सहयोग एवं सहायता की आवश्यकता हो, आंध्र का प्रतिनिधित्व कर सकें। एक इससे भी विशाल क्षेत्र है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र, जिसमें भारत को देश के सभी भागों से सुयोग्य एवं सच्चरित्र व्यक्तियों की जरूरत होगी। क्योंकि वह अभी से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में गण्यमान्य एवं ख्यातिप्राप्त देश है और समय बीतने पर यह स्थिति अति महान् अनुपात में उन्नत होती जायगी; समय पाकर संभवतः वह उन प्रभावशाली राष्ट्रों में अपना आसन ग्रहण करेगा जिनकी वाणियां सबसे प्रबल तथा जिनका नेतृत्व एवं कार्य संसार के भविष्य का निर्णय करनेवाले होंगे। इस सबके लिये उसे ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जिनकी शिक्षा एवं बुद्धि, प्रतिभा एवं चरित्र-बल अत्युच्च कोटि के हों। इन सब क्षेत्रों में आपका विश्वविद्यालय महान् सेवा तथा बड़े भारी महत्त्व का कार्य कर सकता है।

इस समय, अपनी स्वाधीनता के द्वितीय वर्ष में, राष्ट्र को और अनेक अति महत्त्वपूर्ण समस्याओं तथा अपने समक्ष खुलती हुई बृहत् संभाव्यताओं के प्रति जागरित तथा सतर्क होना है और साथ ही उन विपत्तियों एवं कठिनाइयों के प्रति भी जिनका यदि बुद्धिमत्ता से प्रतिकार न किया गया तो वे उग्र रूप धारण कर लेंगी। युद्ध के बाद की अस्तव्यस्त जागतिक स्थिति हमारे सामने है जो संकटों तथा क्लेशों एवं क्षतियों से पूर्ण है और एक अन्य आपत्ति की विभीषिका से हमें त्रस्त कर रही है। उस आपत्ति का निराकरण सब देशों के सम्मिलित प्रयत्न से ही किया जा सकता है और उसका सच्चे अर्थों में प्रतिकार तभी किया जा सकता है यदि एक ऐसे विश्व-सम्मेलन के लिये प्रयत्न किया जाय जैसा सानफ्रांसिस्को में आयोजित किया गया था पर जो कार्यरूप में अब तक भी बहुत सफल नहीं हुआ है; अब भी प्रयत्न जारी रखने तथा ऐसे नए उपाय ढूंढ़ निकालने की आवश्यकता है जो अतीत तथा वर्तमान के भयानक विभाजनों से समस्वर विश्वव्यवस्था की ओर कठिन संक्रमण को अधिक सहज बना दें; क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके बिना सतत संकट एवं संहार से छुटकारा कदापि नहीं हो सकता। स्वतः भारत के लिये और भी अधिक गंभीर प्रश्न हैं, क्योंकि संभव है कि कुछ एक प्रलोभक पथों का अनुसरण करके वह अन्य देशों जैसा एक देश बन जाय; समृद्ध वाणिज्य-व्यवसाय, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का प्रबल संगठन तथा अपरिमित सैनिक बल विकसित कर ले, शक्ति-राजनीति (power-politics) के दांव-पेंच खेलने में उच्च कोटि की सफलता पा ले, अपनी प्राप्तियों और अपने हितों की उत्साहपूर्वक रक्षा तथा वृद्धि करने लगे, संसार के विस्तृत भाग पर प्रभुत्व पा ले, परंतु इस प्रत्यक्ष गौरवशाली अभ्युदय में अपने स्वधर्म का परित्याग कर दे तथा अपनी आत्मा खो बैठे। उस अवस्था में प्राचीन भारत और उसकी भावना संभवतः सर्वथा विलुप्त हो जायगी और केवल अन्य देशों के समान एक और देश हमारे देखने में आयगा और यह न तो संसार के लिये और न हमारे लिये ही कोई वास्तविक लाभ की वस्तु होगी। प्रश्न यह है कि क्या वह बाह्य जीवन में अधिक निर्बाध रूप में उन्नति करे पर अपने आध्यात्मिक अनुभव एवं ज्ञान की दृढ़रक्षित ऐश्वर्यराशि सर्वथा खो दे? यह विधि का दुःखद व्यंग्य होगा यदि भारत ने अपनी आध्यात्मिक पितृसंपत्ति ठीक ऐसे समय गंवा दी जब शेष सारा जगत् आध्यात्मिक सहायता तथा रक्षाकारी प्रकाश पाने के लिये उत्तरोत्तर उसकी ओर झुक रहा है। ऐसा नहीं होना चाहिये और निःसंदेह ऐसा होगा भी नहीं; परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी आशंका ही नहीं है। अवश्य ही अन्य अनेक विकट समस्याएं भी इस देश के सामने हैं या बहुत शीघ्र ही सामने आवेंगी। इसमें संशय नहीं कि हम इन्हें सफलतापूर्वक पार करेंगे, किंतु हमें यह सचाई अपने आपसे ओझल नहीं कर देनी चाहिये कि पराधीनता के सुदीर्घकाल तथा हमें पंगु एवं क्षत विक्षत करनेवाले उसके परिणामों के पश्चात् यदि हमें भारत का सच्चा भविष्य चरितार्थ करना है तो महान् आन्तर एवं बाह्य उद्धार तथा परिवर्तन, विशाल आन्तर तथा बाह्य विकास नितांत आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोक के पथ पर

(१)

ऐसा हो कि मेरी आंखें भगवान् के रूप के सिवाय और कुछ न देखें, मेरे कान भगवान् की वाणी को छोड़ और कुछ न सुनें, मेरा मुख भगवान् के नाम के अतिरिक्त और कुछ न बोले।

★

अन्य सब प्रेमों का त्याग कर दो, तभी भगवान् का प्रेम पाओगे।

★

भगवान् तुम्हारी सब प्रार्थनाएं पूरी नहीं करते–सो तुम्हारे मंगल ही के लिये नहीं करते। स्नेहमयी माता क्या अबोध शिशु के प्रत्येक हठ को पूरा करती हैं?

अपने अज्ञानवश मैं जिसे परम श्रेय मानता हूं, वस्तुतः वही कदाचित् बिल्कुल भी श्रेय न हो।

भगवान् केवल तुम्हारे अंतरात्मा के प्रयोजन को ही सार्थक करते हैं। अन्तःपुरुष की स्पृहा ही अन्तर्यामी भगवान् की इच्छा होती है।

★

हुकुम देना उसे ही शोभा देता है जो स्वयं हुकुम को शिरोधार्य कर सकता है। जो किसी हुकुम को नहीं मान सकता–यहां तक कि अपने हुकुम को भी नहीं–वही उच्छृंखल और अत्याचारी होता है।

साथ ही, जो अपनेको असहाय बोध करके–बाध्य होकर–हुकुम मानता है, उसी का नाम है दास, और उसी की परिणति है विनाश।

मनुष्य के हुकुम को स्वेच्छा से मानने का परिणाम है संयम, शृंखला, समष्टिगत कर्मसिद्धि।

जो भगवान् के हुकुम को मानकर चलता है, वही मुक्ति, व्यक्तिस्वातंत्र्य, पूर्ण आत्मचरितार्थता ला[भ] करता है।

★

संसार में दुःख-दैन्य रोग-जरा-मृत्यु का साम्रा[ज्य] है, कारण मनुष्य अज्ञान में डूबा है, अचेतन है, अप[नी] सत्य सत्ता का ज्ञान अथवा उसकी चेतना उसे नहीं; कारण, उसने अपने आपको तामस और राज[सी] प्रकृति एवं सृष्टि के अंतर्भुक्त कर रखा है।

जिस सीमा तक वह अपने को सात्त्विकी प्रकृ[ति] के बीच ऊपर अवस्थित कर सकेगा, ऊर्ध्व के प्रका[श] को जितना ही अपने प्राणों में–अपनी देह में–ढा[ल] सकेगा, उसी हद तक वह दुःख-दैन्य रोग-जरा-मृत्यु के दासत्व से मुक्त हो सकेगा।

★

सांसारिक विजय के भीतर से होकर भगवा[न्] तक पहुंचा जा सकता है; सांसारिक पराजय के प[थ] से भी भगवान् तक पहुंचा जा सकता है।

जिस शक्ति-सामर्थ्य के द्वारा सांसारिक ज[य] प्राप्त की जाती है, वही शक्ति-सामर्थ्य आध्यात्मि[क] विजय में भी विशेष सहायक हो सकती है।

किंतु ऐसा नहीं है कि सांसारिक विजय की शक्ति-सामर्थ्य न होने से अध्यात्मपथ में अक्षमता-विफलता ही हाथ आना अनिवार्य हो।

कई बार भगवान् सांसारिक जीवन में पग पग पर पराजय की ही सृष्टि करते हैं जिससे मनुष्य लौटकर उन्हीं के सम्मुखीन खड़ा होवे–सब प्रकार के सांसारिक अवलंब को वे छीन लेते हैं जिससे केवल उन्हीं पर निर्भरता जागे। यह तो भगवान् की परम करुणा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो सचमुच ही भगवान् की ओर बढ़ना चाहता है, उसकी सारी त्रुटियों को भगवान् ही सुधार लेते हैं, उसका सारा बल भगवान् ही जुटा देते हैं-पंगुं लंघयते गिरिम्।

पुरातन जीवन-पूर्वतन जन्म-की बात सोचने विचारने की कोई आवश्यकता नहीं : भुला दो उस सबको। तुम क्या थे-इसके द्वारा तुम्हारे अन्तरात्मा का परिमाप नहीं किया जायगा।

अपनी दृष्टि को निबद्ध करो भविष्य की ओर। तुम क्या होना चाहते हो, तुम्हारा इष्ट क्या है, इसी आस्पृहा के प्रवेग में तुम्हारे यथार्थ स्वरूप का परिचय छुपा है।

★

कर्म अपने आपमें तनिक भी दिव्य अथवा अदिव्य नहीं होता; कर्म दिव्य अथवा अदिव्य हो उठता है कर्मी की अन्तश्चेतना के प्रभाव से।

जिस कर्म की नींव कर्मी की निष्कामता, अनासक्ति, निर्ममत्व, समर्पण पर होती है, वही दिव्य कर्म बन जाता है। इसी लिये हम देखते हैं कि जिसे अर्जुन ने आरंभ में 'घोर कर्म' मानकर त्याग करना चाहा था, उसी को अंत में भागवत कर्म के रूप में ग्रहण करना पड़ा।

★

सदा सर्वदा शांत और स्थिर रहोगे।

समस्त व्याधियों की महौषधि है स्थिरता और शांति।

स्थिरता और शांति के भीतर से ही आती है शुद्धि और मुक्ति।

मन की स्थिरता और शांति मन में लाती है ज्योति को-सत्य अव्यर्थ ज्ञान को।

हृदय की स्थिरता और शांति लाती है स्निग्ध तृप्ति को-अनाविल आनंद को।

प्राणों में स्थिरता और शांति लाती है संहत सामर्थ्य, अश्रान्त कर्मपटुता।

देह में स्थिरता और शांति से आता है आरोग्य-स्वास्थ्य।

-नलिनीकान्त गुप्त

(अनुवादक-श्री मोहनलाल वाजपेयी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता का अधिकारी

(अप्रैल, '४८ के अंक से आगे)

अन्याय के दमन और न्याय की रक्षा को लक्ष्य में रखकर युद्ध करना क्षत्रिय का नैतिक धर्म है। पांडवों पर हुए अत्याचारों से यह अनुमान किया जा सकता है कि जिन व्यक्तियों ने स्वयं अपने भाइयों पर इस प्रकार के अत्याचार किये हैं उन्होंने दूसरों पर कम अत्याचार नहीं किये होंगे। उन सबको लक्ष्य में रखकर न्याय, धर्म और सदाचार की रक्षा के लिये युद्ध करना क्षत्रिय-धर्म के अनुसार अर्जुन का कर्तव्य है। परंतु इस अवसर पर उसे यह धर्म भी सदोष दिखलायी देता है। एक ओर जहां यह क्षात्रधर्म न्याय और सदाचार की रक्षा के लिये युद्ध को कर्तव्य बतलाता है दूसरी ओर वही धर्म अपने परम पूजनीय आचार्य पितामह आदि की रक्षा और पूजा का भी आदेश देता है। किंतु इस युद्ध में तो उनकी हत्या करनी पड़ेगी और गुरुहत्या, पितृहत्या जैसे पाप का भागी बनना पड़ेगा। इसमें तो धर्म के बजाय उलटा अधर्म ही होगा। यदि इस ओर से सर्वथा आंख मींच ली जाय और प्रजा के ही न्याय और सदाचार पर दृष्टि रखी जाय तो इस उद्देश्य की पूर्ति भी इस युद्ध से होने की आशा नहीं है। कारण कुल, जाति और देश के जो श्रेष्ठ धार्मिक सदाचारी वीर क्षत्रिय धर्म की रक्षा करनेवाले हैं जब वही युद्ध में मारे जायंगे तो उनके अभाव में धर्म की रक्षा करनेवाला कौन होगा! चोर, डाकू, लुटेरे, दुराचारी राज्य करेंगे। इससे कुल-मर्यादा टूट जायगी, स्त्री-चरित्र भ्रष्ट हो जायगा, कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जायगा, धर्म के स्थान पर अधर्म का साम्राज्य हो जायगा। और इस सबका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर होगा, हम ही पाप के भागी और नरकगामी होंगे। यह माना कि दोष दूसरे पक्षवालों का है। किंतु उनकी बुद्धि लोभवश अपने कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म का विवेक करने में असमर्थ है (लोभोपहतचेतसः)। इस कारण वह इस युद्ध से होनेवाले अनर्थ को देखने में भी असमर्थ है। हमें तो इस युद्ध के परिणामस्वरूप कुलधर्म और जातिधर्म का विनाश स्पष्ट दिखलायी दे रहा है। अज्ञानपूर्वक पाप करनेवाला व्यक्ति कथंचित् अपने दोष के लिये क्षन्तव्य हो सकता है किंतु ज्ञानपूर्वक करनेवाला उसके उत्तरदायित्व से नहीं बच सकता। इस अवसर पर धर्म की रक्षा का केवल एक ही उपाय है और वह है हमारा युद्ध का परित्याग कर देना। यदि युद्ध के इन अनर्थकारी परिणामों को देखते हुए भी हम युद्ध का परित्याग नहीं करते तो केवल अपने स्वार्थ, राज्यसुख के लोभ के कारण। धर्म और न्याय की रक्षा की दुहाई देना बहानामात्र है, आत्मवंचना है:

अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

अर्जुन को इस अवसर पर अपना नैतिक क्षात्रधर्म भी अधर्म और पापरूप जान पड़ता है। अतः वह इस धर्म की भावना से भी युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

अर्जुन साहंकार त्रिगुणाधीन मनुष्य है। युद्ध के जो उद्देश्य उसके सामने आते हैं और जो परिणाम उसे दिखलायी देते हैं वे वहीं हैं जो कि एक साहंकार और त्रिगुणाधीन मनुष्य के लिये संभव हैं। ये परिणाम उसे पहले ज्ञात न हों यह बात नहीं है। किंतु उसने इनपर अभी तक पूरी तरह विचार नहीं किया था। युद्ध के अवसर पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति के प्रभाव से उन्हें उसके हृदयपटल पर भली प्रकार अंकित कर दिया है, जिन निकृष्ट भावनाओं से साधारण मनुष्य युद्ध में प्रवृत्त हुआ करता है और जिनसे वह अभी तक होता रहा उन्हें और उनके दोषों को उसे गुप्त रूप में एक प्रकार की सूक्ष्म दृष्टि प्रदान करके उसकी अंतर्दृष्टि के सामने नग्न रूप में चित्रित कर दिया है। इस सबका उसपर यह प्रभाव होता है कि उसके अंगों में पीड़ा होने लगती है, मुख सूख जाता है, शरीर में कंपन और रोमांच हो जाता है, गांडीव धनुष हाथ से छूटा जाता है, त्वचा में जलन होने लगती है, उससे वहां खड़ा नहीं रहा जाता, मन में चक्कर सा आने लगता है। ये परिणाम वही हैं जो कि एक साहंकार और त्रिगुणाधीन मनुष्य के लिये ऐसी परिस्थिति में संभव हैं। अतः वह अभी तक भी अहंकारबद्ध त्रिगुणाधीन ही है। किंतु अपने धर्म का पालन करते करते उसका अहंकार सात्त्विक हो गया है; अपने विकासक्रम में और भगवान् के प्रभाव से वह ऐसी स्थिति में पहुंच गया है कि जिन उद्देश्यों से साधारण साहंकार और त्रिगुणाधीन मनुष्य युद्ध कर सकता है वे उसे निकृष्ट, असंबद्ध, हानिकर और अधर्मरूप प्रतीत होने लगे हैं और इस कारण वह उनका परित्याग करना चाहता है। वह अहंकारमुक्त और त्रिगुणातीत होना चाहता है। अब उसके सामने दो मार्ग हैं। या तो उसे अपने कर्मों और संपूर्ण संसार को दुःखमय जानकर इनका परित्याग कर देना चाहिये और संन्यास ग्रहण करके जंगलों में तपोमय जीवन व्यतीत करना चाहिये अथवा युद्ध के किसी ऐसे उच्च आदर्श का, ऐसे उद्देश्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिसके लिये युद्ध करने में पाप की संभावना न जान पड़े। अर्जुन को अभी तक किसी ऐसे आदर्श या उद्देश्य का ज्ञान नहीं है अतः वह दूसरे मार्ग पर चलना चाहता है। यही उसके युद्धपरित्याग का प्रधान कारण है।

इस समय उसके मन में अपने कर्तव्यसंबंधी अनेक प्रकार के परस्परविरोधी व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक विचारों में संघर्ष हो रहा है। वह यह निर्णय नहीं कर सका है कि उसका वास्तविक धर्म या कर्तव्य इस परिस्थिति में क्या है। वह धर्मसंकट में पड़ा है और उसे अत्यंत तीव्र शोक हो रहा है। वह शिष्यभाव से अपने सारथि भगवान् गुरु की शरण में जाता है और उनसे यह प्रार्थना करता है कि जिसमें मेरा श्रेय हो वही निश्चितरूप में बतलाइये :

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

गीता के उपदेश का यही प्रसंग है।

अर्जुन यद्यपि क्षत्रिय है, वह लौकिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करनेवाला कर्मशील व्यक्ति है। शांत एकान्त में रहकर आत्मा और अनात्मा जैसे गहन विषयों पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करनेवाला ज्ञानी या ऋषि नहीं है। उसने इस अवसर पर आत्मा और अनात्मा जैसे किसी सूक्ष्म विषय पर प्रश्न नहीं किया है और गीता में आगे भी जो प्रश्न उसने किये हैं उनसे भी यही पता चलता है कि वह कोई गंभीर तत्त्वचिंतक नहीं है। उसने जो जिज्ञासा इस समय प्रकट की है वह स्थूल रूप में युद्ध करने या न करने रूप अपने कर्तव्य से संबंध रखनेवाली ही जान पड़ती है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बिना जिज्ञासा किये युद्ध जैसी साधारण घटना के अवसर पर आत्मा, प्रकृति, ईश्वर, यज्ञ, भक्ति जैसे गंभीर विषयों के उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी? क्या भगवान् गुरु के जिसमें अर्जुन की पूर्ण श्रद्धा है, यह कह देने से कि मेरा निश्चित मत है कि युद्ध करना ही तेरा धर्म है यह कार्य होना संभव नहीं था? प्रश्नकर्त्ताओं को युद्ध के अवसर पर इतने बृहद् अध्यात्मज्ञान का उपदेश अस्वाभाविक और अप्रासंगिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान पड़ता है। परंतु यह उन्हीं व्यक्तियों के लिये है जिन्होंने अर्जुन की समस्या को ठीक ठीक समझने का प्रयत्न नहीं किया है। अर्जुन ने निःसंदेह आत्मा, अनात्मा, ईश्वर जैसे विषयों पर प्रश्न नहीं किया है अपितु अपने कर्तव्य की जिज्ञासा की है। परंतु उसके साथ ही अपने श्रेय की भी अभीप्सा की है। श्रेय दो प्रकार का होता है लौकिक और पारलौकिक। युद्ध का आदेश देनेमात्र से विजय प्राप्त होने पर उसे राज्य, ऐश्वर्य, संपत्ति-रूप लौकिक श्रेय अवश्य प्राप्त हो सकता है किंतु आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञानरूप परम श्रेय, सच्चा श्रेय प्राप्त नहीं हो सकता। अतः यदि उसके गुरु भगवान् उसका सच्चा श्रेय चाहते हों तो उसे उन्हें यह भी देना ही चाहिये। प्रश्न केवल यह रह जाता है कि अर्जुन इसका अधिकारी है या नहीं। पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन अपने विकासक्रम में इस स्थिति को पहुंच चुका है कि अपने ऊपर अनेक प्रकार के अमानुषिक अत्याचार करनेवालों को भी वह अपना बंधु समझता है, शत्रु नहीं मानता। अपना घोर अपमान होने पर भी क्रोध नहीं करता, समर्थ होते हुए भी शत्रुओं से बदला लेने का विचार नहीं करता। राज्य छिन जाने पर भी उसे फिर प्राप्त करके सुख-भोग की इच्छा नहीं करता। उसे धर्म के, आचार के सामान्य नियमों से वैराग्य है, लौकिक और स्वर्गीय विषयों से वैराग्य है। उसे इतना तीव्र शोक हो रहा है कि समस्त भूमि के असपत्न राज्य की तो बात ही क्या यदि देवताओं का आधिपत्य भी मिल जाय तब भी उसके दूर होने की आशा नहीं है। इस प्रकार के शोक की वास्तविक निवृत्ति का केवल एक उपाय है, वह है आत्मज्ञान, दूसरा नहीं है, जैसा कि शोकग्रस्त नारदजी छान्दोग्योपिनषद् में कहते हैं :–

तरति शोकमात्मविद्। (७।१।३)

वह शिष्यभाव से अपने गुरु की शरण में जाता है और उनसे श्रेय की प्रार्थना करता हुआ पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ इसका भार उनपर ही छोड़ देता है। ऐसी स्थिति में अन्तर्यामी भगवान् को अर्जुन में वे सभी गुण दिखलायी देते हैं जो कि उनके 'उत्तम रहस्य', 'गुह्याद् गुह्यतम', 'सर्वगुह्यतम' ज्ञान के अधिकारी में होने चाहियें। अतः जिससे अर्जुन का शोक वास्तविक रूप में दूर हो सके और जिसमें उसका सच्चा श्रेय है उस आत्मज्ञान से ही गीता का प्रारंभ होता है। आत्मज्ञान का सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रारंभिक उपदेश देकर फिर गुरु उसे कर्म करने की ऐसी युक्ति बतलाते हैं, उसे ऐसे कर्मयोग का उपदेश देते हैं जिसके अनुसार कर्म करने पर उसके समस्त कर्म न केवल यही कि वे बंधन और प्रतिकूल फल देनेवाले नहीं होंगे अपितु आत्मा और भगवान् की प्राप्तिरूप परम श्रेय का साधन हो जायंगे। वह कर्मयोग संक्षेप में इस प्रकार है : फल की कामना का त्याग करके अनासक्त भाव से, समबुद्धि होकर, निरहंकार, निर्मम, निर्द्वंद्व हो-कर भक्तिपूर्वक भगवदर्पणभाव से यज्ञरूप में कर्म करना। इसकी व्याख्या के लिये उन्हें कर्म, भक्ति, यज्ञ के स्वरूप का और जीव के जगत्, प्रकृति और ईश्वर से संबंध का और इनके स्वरूपों का भी प्रतिपादन करना आवश्यक हुआ। और उसके संशय की पूरी तरह निवृत्ति के लिये प्रार्थना करने पर दिव्य दृष्टि प्रदान करके उसे अपने दिव्य विराट् स्वरूप का भी दर्शन कराना पड़ा। इस प्रकार अर्जुन की परिस्थिति और समस्या के अनुसार गीता का स्वाभाविक रूप में विकास होता स्पष्ट दिखलायी देता है। इसमें लेशमात्र भी अस्वाभाविकता या अप्रासंगिकता नहीं है।

—केशवदेव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिव्यरथी अग्नि

जीवन क्या है? यदि एक कवि इसे 'Vale of tears', दुःख-सागर, कहता है तो दूसरा इसे ऐसा मदिरालय समझता है जिसमें आनंद की मदिरा का दौर सदा चलता रहता है। ऐसी उलझन से निकालनेवाली दृष्टि हमें विशेष रूप से श्रीअरविन्द के दर्शन में मिलती है। कवियों ने जीवन को यात्रा बताया है। परंतु इसे केवल यात्रा कह देने से हमें संतोष नहीं होता। यात्री कौन है, उसकी यात्रा की क्या रीति है और क्या उद्देश्य है? इस प्रकार के प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। इनका उत्तर हमें ऋग्वेद में मिलता है जिसको श्रीअरविन्द ने विस्तार-पूर्वक भलीभांति स्पष्ट किया है। यह यात्री अग्नि है जो मनुष्य-देहरूपी रथ में बैठा है।

त्वं विक्षु प्रदिवः सीद आसु
क्रत्वा रथीरभवो वार्याणाम्।

(त्वं) तू (प्रदिवः) प्राक्तन दिनों का है और (आसु विक्षु) इन प्रजाओं में (सीद) बैठा हुआ है और (क्रत्वा) संकल्प के द्वारा उनके लिये (वार्याणाम्) वरणीय पदार्थों का (रथीः) रथी (अभवः) हो जाता है।

अग्नि एक रथी है जो निश्चेतन जड़ता (Inconscient matter) की रात्रि से अतिचेतन सत्य (Superconscient truth) के उजाले में सब पदार्थों को ले जा रहा है। इस यात्रा को श्रीअरविन्द ने क्रमविकास (Evolution) कहा है। भ्रमण तो एक उच्छृंखल आदमी भी करता है जो इधर उधर व्यर्थ मारा मारा फिरता है परंतु इस 'रथी' की यात्रा इस प्रकार का भ्रमण नहीं है। भाप भी अस्तव्यस्त सब जगह फैली हुई है। इस रूप में यह शक्ति तो है परंतु कार्य कुछ नहीं करती। इससे जगत् को कोई लाभ नहीं। परंतु यदि इस भाप को किसी स्थान में घेरकर किसी कार्य पर लगाया जाय तो यह उच्छृंखल नहीं रहती, वरन् भांति भांति के कार्य करने लगती है, रेल चलाती है, चक्की चलाती है तथा लकड़ी चीरती है। इसी प्रकार यह अग्नि मनुष्य के यंत्रभूत शरीर में बंधी हुई है। यदि यह उच्छृंखल होती और कार्य करने के लिये कोई यंत्र-संगठन न होता तो यह कुछ भी न कर पाती। दूसरे मंत्र में ऋषि ने अग्नि को अभ्रान्त, अमूढ़ कहा है।

इममु त्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसः।
यमङ्कूयन्तमानयन्नमूरं श्याव्याभ्यः॥ ६.१५.१७

(इमं उ अग्निम्) इस अग्नि को ही (वेधसः) कर्मविधाता लोग (मन्थन्ति) मंथन करके निकालते हैं (अथर्ववत्) जैसे अथर्वा ने निकाला था। (यं अमूढं) जिस अमूढ़, अभ्रान्त शक्ति को वे (अङ्कूयन्तं) उसकी कुटिल गति में (श्याव्याभ्यः) अंधियारी रात्रियों में से (आनयन्) बाहर लाये।

शरीरयंत्र के इस महत्त्व की ओर श्रीअरविन्द ने ही हमारा ध्यान पूर्णरूप से आकर्षित किया है। बिना यंत्र के कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। प्रायः मनुष्य शरीर को एक पिंजरा कहते हैं जिसमें आत्मा बंद है। यह कैद उनकी दृष्टि में व्यक्ति के बड़े दुःख का कारण है और वे इसमें कोई लाभ नहीं देख सकते। परंतु वेद के अनुसार अग्नि के बंधन में ही कल्याण है। स्थूल तत्त्व का रूपांतर केवल उसमें अग्नि के बंधन से ही होता है। तोता और मैना अपना सुरीला राग तब ही निकालते हैं जब वे पिंजरे के रूप में आकर बंधते हैं। मुरली की मधुर ध्वनि तब ही निकलती है जब वायु बंसरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बंधती है और उसको प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। अग्नि मनुष्यदेह में एक अभ्रांत शक्ति है जिससे यह यंत्र सर्वदा चालित होता है।

चलानेवाली शक्ति को तंत्रशास्त्र ने भी भली भांति समझाया है परंतु उसका ध्यान इस शक्ति के संगठन पर इतना नहीं गया जितना श्रीअरविन्द का गया है। इस कार्य-साधिका पूर्णत्वप्रदायिका शक्ति को उन्होंने अपनी पुस्तक 'माता' में महासरस्वती के रूप में समझाया है।

महासरस्वती संसार के संपूर्ण संविधान की एक एक बात, एक एक अंग का पर्यवेक्षण करती है।

जिस प्रकार भाप वाष्पाधान में बंद होती है और वहां से फिर जैसी कारखाने के स्वामी की इच्छा होती है वैसे ही चलायी जाती है कहीं चक्की पर, कहीं कोल्हू पर, कहीं प्रकाश करने के यंत्र पर, इसी प्रकार यह अग्नि भी किसी और शक्ति के प्रभाव से चलती है। इस अग्नि के पीछे कोई और शक्ति है जो स्वयं 'माता' है। जिस ओर उसका दबाव पड़ता है उस ओर यह चलती है। मां के इस दबाव को एक मंत्र में वायु कहा गया है।

वि ते विष्वग्वातजूतासो अग्ने
भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति।

(अग्ने) हे अग्नि! (ते भामासः) तेरे प्रकाश (वातजूतासः) वायु से प्रेरित किये गये (विष्वक्) चारों तरफ (विचरन्ति) विचरते हैं, (शुचे शुचयः) वे ऐसे पवित्र हैं जैसे कि हे पवित्र! तू है।

एक ओर तो यह अग्नि उस वायु या मां के दबाव से शक्ति ग्रहण करती है और दूसरी ओर स्वयं रचना करती है। जिस प्रकार एक बालक नाभि द्वारा अपनी मां के रचनात्मक तत्त्वों को लेकर अपने अस्तित्व का संसार या अपना भौतिक मंडल बनाता है उसी प्रकार अग्नि प्रत्येक वस्तु की नाभि और मनुष्य की नाभि में ठहरी हुई दोनों प्रकार से कार्य करती है। यह उच्चतर गोलार्ध और निम्नतर गोलार्ध का संधिस्थान है। इस कारण इसको वेद के एक मंत्र में यज्ञों की नाभि कहा गया है।

नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां
महामाहावमभि सं नवन्त।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां
यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः॥ ६.७.२

वे सब देव अग्नि के पास (अभिसंनवन्त) इकट्ठे होकर आये, जो अग्नि (यज्ञानां नाभिं) यज्ञों का नाभि-स्थान है, (रयीणां सदनं) ऐश्वर्यों का घर है, (महामाहावम्) युद्ध में महान् प्रकार का विपय है। (अध्वराणां रथ्यम्) मार्ग के कर्मों के रथी (यज्ञस्य केतुं) यज्ञ की अन्तर्ज्ञानरूपी आंख उस (वैश्वानरं) विश्वमय दिव्य पुरुष को (देवाः अजनयन्त) देवों ने उत्पन्न किया।

इसको 'ऐश्वर्यों का घर' भी कहा गया है क्योंकि यह जो शक्तियां प्राप्त करती है वे सबकी सब यह जगत् को दे देती है। मनुष्य का शरीर एक बड़ा यंत्रालय है जिसमें ज्ञान की नाना प्रकार की शक्तियां अपने आप अग्नि की जमा की हुई शक्ति के जोर से गति में आती रहती हैं। जब वे पूर्ण शक्ति से चलेंगी तो जितनी विद्याओं के चमत्कार और भेद मनुष्य से छिपे हैं वे सब स्पष्ट हो जायंगे। यही ऐश्वर्य हैं अन्तर्ज्ञान और अन्तः-स्फुरण आदि के जिनकी ओर अग्नि रथी बनकर सबको लिये जा रही है।

इसके चलने की रीति भी अति विचित्र है। यह इस निम्न जीवन के वन में एक वृषभ की तरह तोड़-फोड़ करती जाती है। जैसा कि भारद्वाज ऋषि ने कहा है :-

त्वं त्या चिदच्युताग्ने पशुर्न यवसे।
धामा ह यत्ते अजर वना वृश्चन्ति शिक्वसः॥

(अग्ने) अग्नि! (त्वं) तू (पशुः न यवसे) अपने चरागाह में स्थित पशु के समान है और (त्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युता चित्) अच्युत वस्तुओं को भी ग्रास करती है (यत् ह ते शिक्वसः धामाः) तेरी प्रदीप्ति के प्रकाश (अजर) हे अजर! (वना वृश्चन्ति) जंगलों को टुकड़े टुकड़े कर देते हैं।

यह रीति रूपांतर करने की है। यह अपने आवरणों का बलिदान करती रहती है और ज्यों ज्यों बलिदान अधिक होता जाता है त्यों त्यों इसकी ज्वाला का तेज और अधिक बढ़ता जाता है। इस प्रकार स्थूल तत्त्व का रूपांतर होता है। यह खनिज-जीवन से वनस्पति-जीवन और वनस्पति-जीवन से पशु-जीवन में आती है। फिर अनेक प्रकार के शरीरों या जन्मों में प्रवेश करके मनुष्य बनकर इसको जीव से आत्मा बनने का अवसर मिलता है। परंतु अभी इसकी यात्रा का अंत नहीं हुआ। यही अग्नि मनुष्य को आगे ले जाकर विज्ञानमय सत्ता के पद पर पहुंचावेगी।

अपनी रूपांतर करने की रीति से ही यह मनुष्य का कल्याण करती है। आकाश में भाप स्पर्शगम्य वस्तु नहीं है परंतु बिजली की शक्ति से जब वह विद्युद्धाराविष्ट होती है तो वह जम जाती है, बादल बन जाती है। इसी प्रकार स्थूल तत्त्व भी विद्युत् से घटित है। इसलिये स्थूल तत्त्व के रूपांतर के लिये यह आवश्यक है कि इसको विघटित किया जाय। इसके बिना रूपांतर नहीं हो सकता। यह विघटन का कार्य अग्नि करती है जिसका श्रीअरविन्द ने 'ग्रास करना (devour)' शब्द से चित्रण किया है और 'The Secret of the Veda–Agni, the illumined Will' में अग्नि को ग्रास करनेवाली कहा है :–

"भौतिक जगत् में वह सामान्य भक्षक (ग्रास करनेवाली) और उपभोक्ता है। साथ ही पवित्री-कर्त्ता भी है, जब वह भक्षण करती और उपभोग करती है तब भी वह पवित्र करती है।"

क्योंकि अग्नि हमारा बहुत लाभदायक कार्य कर रही है इसी कारण इसको मित्र कहा गया है। यह अग्नि हमारा रथी है जो हमें मन की धुंधली रात से उत्तम अतिमानस के प्रकाश में ले जायगी।

यूं तो प्रकृति अपना योग इस 'रथी' के द्वारा सर्वदा करती ही रहती है परंतु मनुष्यदेह मिलने पर योग सचेतन क्रिया बन सकती है। इससे व्यक्ति अपने प्रकाशमय लक्ष्य पर शीघ्र पहुंच सकता है। इस सचेतन योग के अनुशीलन में उसे चाहिये कि वह अपने अहंकार को पूर्ण रूप से इस अग्नि–दिव्यरथी–के हाथ में अर्पण कर दे और अपने विचार और इच्छाओं से जरा भी परिभ्रांत न हो।

–जगदीशशरण अग्रवाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'द' का उपदेश : उपनिषद् की एक कथा

देवता, मनुष्य और असुर सबको ब्रह्मा ने उत्पन्न किया है। सभी एक ब्रह्मा के संतान हैं, इसलिये भाई भाई हैं।

तीनों भाई धीरे धीरे बड़े हुए। विद्या सीखने की उनकी अवस्था हुई। वे इकट्ठे होकर सोचने लगे... ब्रह्मा हमारे पिता हैं, पूज्य हैं, उन्हीं के पास शिक्षाप्राप्ति के लिये जाना चाहिये। यह सोचकर वे प्रजापति ब्रह्मा के पास गये और उनके आश्रम में शिष्यों की भांति रहकर ब्रह्मचर्य पालन करने लगे।

इस प्रकार रहते उन्हें बहुत समय बीत गया। देवताओं का मन निर्मल होता है, वे धीरे धीरे अपने अंदर कुछ विकास अनुभव करने लगे। एक दिन प्रजापति के पास पहुंचकर उन्होंने निवेदन किया—भगवन्! हमें कुछ उपदेश दीजिये।

प्रजापति मुस्कराये और बोले 'द'। फिर जरा ठहरकर उन्होंने पूछा, मेरा तात्पर्य तो तुम समझ गये होगे।

देवता लोग सभी एक स्वर में बोल उठे, 'हां, समझ गये।'

'क्या समझे?'

—'दाम्यत'। आपने हमें कहा है 'दमन करो, दमन करो।'

प्रजापति यह सुनकर प्रसन्न हुए और कहने लगे, 'हां, तुमने ठीक समझा।'

देवताओं में अनेक गुण थे, कुछ अभिमान भी। दीर्घकाल के ब्रह्मचर्य और साधना के जीवन से वे इस त्रुटि को जान गये थे। प्रजापति के मुख से 'द' सुनते ही वे समझ गये पिता कहते हैं, 'दमन करो, दमन करो।'

कुछ समय के बाद मनुष्य भी उपदेश के लिये प्रजापति के पास पहुंचे। प्रजापति ने फिर केवल वही अक्षर 'द' ही कहा। और जब उन्होंने मनुष्यों से उसका अर्थ पूछा तो वे भी एक स्वर से बोल उठे, 'हां, हम समझ गये।'

'क्या?'

—'दत्त'। आपने कहा है, 'दान करो, दान करो।'

प्रजापति सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले, 'हां, तुमने ठीक बूझा।'

मनुष्य स्वभाव से लोभी होते हैं। दीर्घकाल के साधनाभ्यास से उनका चित्त कुछ शुद्ध हो गया था और वे अपने लोभी स्वभाव को किसी अंश में जान गये थे। प्रजापति के मुख से 'द' सुनते ही वे समझ गये कि प्रजापति उन्हें दान और त्याग की प्रेरणा कर रहे हैं।

अब असुर प्रजापति के पास पहुंचे। वे भी बहुत समय तक ब्रह्मचर्य का पालन कर चुके थे। जब उन्होंने उपदेश के लिये प्रार्थना की तो प्रजापति ने फिर वही एक अक्षर 'द' कहा। असुर प्रसन्न हुए—वे भी प्रजापति का तात्पर्य समझ गये थे। प्रजापति के पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया—आपने कहा है, 'दयध्वम्—दया करो, दया करो।' प्रजापति मुस्कराये और बोले—'हां, तुमने भी ठीक जाना।'

असुरों की प्रकृति थी क्रूर और हिंसक, प्रजापति के मुख से 'द' सुनते ही उन्हें लगा कि प्रजापति कह रहे हैं, 'दया करो, दया करो।'

हमारे पितामह प्रजापति का वही उपदेश आज भी सुन पड़ता है। आकाश में जब बादल गरजते हैं तो गरज में प्रजापति की वही वाणी सुनायी देती है, बिजली चमकती है तो वही 'द, द, द' खिल उठते हैं और ध्वनि होती है 'दाम्यत, दत्त, दयध्वम्' और ऐसा मालूम होता है कि भगवान् बादल के गर्जन में कह रहे हैं, 'दमन करो, दान करो, दया करो।'

—जगदीशचन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'द' का उपदेश : : ऋषियों की शिक्षण-शैली

उपनिषदों के अनेक प्रकरण गुरु-शिष्य-संबंध को मूर्त्त रूप में उपस्थित करते हैं और उनमें शिक्षा-शास्त्रीय गंभीर तथ्य निहित हैं। आज दूसरे प्रकार के वातावरण के अभ्यस्त जब हम उपनिषद् की किसी प्राचीन कथा को पढ़ते हैं तो बहुत अटपट-सा अनुभव करते हैं। हम महसूस करते हैं कि दीर्घ समय तक तो जिज्ञासु गुरु के आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य ही पालन करते रहते, फिर जब कुछ शिक्षा-उपदेश के लिये प्रार्थना करते, तो उत्तर मिलता एक अक्षर! यह कैसी शिक्षा! आजकल दिन में तीन-चार-पांच घंटे अध्यापक-उपाध्याय कितने परिश्रम से पढ़ाते हैं, और विद्यार्थियों का ज्ञान कैसा दिनोंदिन बढ़ता जाता है!

जब मनुष्य बौद्धिक शिक्षण और आध्यात्मिक विकास के क्रमों को मिला-जुला देगा तो, अवश्य, ही, वह अटपट-सा अनुभव करेगा। उपनिषदों के ऋषि विचारों के संग्रह को तथा चिंतन-शक्ति के विकास को भी शिक्षा नहीं मानते थे। उनका उद्देश्य था आत्मा का जागरण, जीवन की मूलशक्ति का प्रवाहित होना; उस केंद्रीय तत्त्व का विकास जो मन, बुद्धि आदि सभी करणों को स्वतः ही प्रस्फुटित कर देता है। इस वास्तविक शिक्षण के नियमों को वे खूब जानते थे और उन्हें ही जानने की हमें आवश्यकता होगी यदि हम ऊपरी कौशल के प्रलोभन में न पड़कर मानवीय व्यक्तित्व के वास्तविक शिक्षण की चिंता करेंगे।

सबसे पहले तो हमें यह जानने की आवश्यकता है कि ज्ञान,—प्रकृति और समाज का व्यावहारिक ज्ञान नहीं, बल्कि अपने स्वरूप का, संसार के स्वरूप का, तथा उनके यथार्थ संबंध का ज्ञान, जो हमें व्यावहारिक ज्ञान के ठीक प्रयोग करने की योग्यता देता है,—बाहर से इंद्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता। वह तो चित्त-शुद्धि द्वारा, मन पर जो बहिर्मुख संस्कारों के आवरण हैं उनके दूर होने से और आत्मा के प्रकट होने से स्वयं अंदर से जाग जाता है। गुरु के आश्रम में चिरकाल तक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए रहने का अर्थ, वास्तव में, गभीर है। इसका अर्थ है जिज्ञासा और अभीप्सा के भाव में गुरु के आध्यात्मिक वातावरण का सेवन करना, संयम, नियम, सत्संग और स्वाध्याय आदि से लाभ उठाना, उत्तरोत्तर चित्त-शुद्धि द्वारा आधार को तैयार करते जाना। जब आधार एक स्थिति की शुद्धता प्राप्त कर लेता है तो साधक शुद्ध आंतरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर कोई विशेष जिज्ञासा गुरु से निवेदन करता है। परंतु आध्यात्मिक गुरु का शिक्षण का प्रधान साधन तो आत्मप्रेरणा है। उनका बाह्य शब्द तो संकेतमात्र ही होता है। साधना-अभ्यास से अपेक्षाकृत शुद्ध होकर जिज्ञासु आन्तरिक प्रेरणा से गुरु के निर्देश को ग्रहण करता है। वह निर्देश वह कुछ विकास के बाद ही प्राप्त करने का अधिकारी हुआ है और वह उसके एक नए विकासक्रम का आधार बन जाता है। साधक उसे ही एक समय तक उत्तरोत्तर चरितार्थ करता चला जाता है। इस प्रकार वह उत्तरोत्तर नई नई अनुभूतियां प्राप्त करता है।

उपनिषदों के आध्यात्मिक शिक्षण का क्रम अत्यंत मनोवैज्ञानिक है। उपदेश अथवा प्रेरणा सदा साधक की वर्तमान विकास-अवस्था और प्रकृति से संबंध रखती है। इस कथा में तीन प्रकृतियों की कल्पना की गयी है, अनेक-गुण-संपन्न देव-प्रकृति, क्रूर असुर-प्रकृति और संग्रहशील मानव-प्रकृति। ये तीनों प्रकृतियां मानव-स्तर पर भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भी वर्तमान हैं तथा विश्व-सत्ता के स्तर पर देव, असुर और मानव तीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार के प्रधान अस्तित्व भी हैं, जो अपने अपने स्वभाव से जगत्-विकास में उपयोगी काम करते हैं। प्रजापति ब्रह्मा उन तीनों के—वे एक दूसरे से कितने ही भिन्न और विरोधी क्यों न हों—स्रष्टा तथा गुरु हैं।

उपनिषद् की यह कथा, इसे इन दोनों में से किसी भी रूप में हम देखें, तीनों प्रकार की प्रकृतियों के लिये खूब मार्मिक उपदेश देती है और अत्यंत ही मनोवैज्ञानिक रूप में।

उपनिषद् की इस परिचित कथा में कितने गंभीर तथ्य निहित हैं।

—इन्द्रसेन

शरणागति

मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य आत्यंतिक आनंद की प्राप्ति है और आत्यंतिक आनंद परमात्मा में है। अतएव परमात्मा की प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये परमात्मा की शरणागति के समान सरल, सुगम, सुखसाध्य साधन अन्य कोई नहीं। वाल्मीकि रामायण में श्रीराम ने कहा है :—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

'जो व्यक्ति एक बार भी मेरी शरण आता है और 'मैं तेरा हूं' इस प्रकार पुकारकर प्रार्थना करता है, उसे मैं प्राणिमात्र तथा वस्तुमात्र से अभय प्रदान करता हूं। यह मेरा अटल व्रत है।'

परंतु शरणागति की ठीक परिभाषा क्या है? केवल मुख से कह देना 'हे भगवन्! मैं आपकी शरण हूं' शरणागति का स्वरूप नहीं है। वरन् शरीर और संसार में अहंता-ममता से रहित होकर केवल एक परमात्मा को ही अपना सर्वस्व समझना, तथा अनन्य भाव से एक उन्हीं का चिंतन करते हुए उनकी आज्ञानुसार समस्त कर्मों को निःस्वार्थ भाव से करते रहना, यही सब प्रकार से परमात्मा की अनन्य शरण लेना है।

सब कुछ परमात्मा को अर्पित कर देने का अर्थ घरद्वार छोड़कर संन्यासी हो जाना या कर्मों को त्यागकर कर्महीन हो बैठना नहीं, वरन् सांसारिक वस्तुओं पर हमने भूल से जो ममता आरोपित कर रखी है अर्थात् उनमें जो अपनापन मान रखा है उसे उठा देना। परमात्मा की वस्तुओं को उनको अर्पित कर देना है। वस्तुएं तो उन्हीं की हैं। हम उन्हें भ्रम से अपनी मान लेते हैं, इसी से छिनने के समय हमें रोना भी पड़ता है। यदि हम अपनी इस भूल को मिटाकर यह समझ लें कि जो कुछ है सो परमात्मा का है, हम तो उनके सेवकमात्र हैं, तो फिर कुछ भी कष्ट न रहे। इस बुद्धि के आ जाने पर ममता चली जाती है और शरणागति-भावना दृढ़ हो जाती है। तब साधक को किसी प्रकार की कोई चिंता नहीं रहती। जो फिर भी चिन्ता करता है, उसने, वास्तव में, परमात्मा की शरण ज्ञानपूर्वक ग्रहण नहीं की। शरण ग्रहण करने पर भी यदि शरणागत को चिंता करनी पड़े तो वह शरण ही कैसी? जो शरण में आ जाता है उसकी चिंता उसके स्वामी को ही करनी होती है।

जो जाको शरणो लियो, ताकहं ताकी लाज।
उलटै जल मछली चले, बह्यो जात गजराज॥

—प्रताप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द-दर्शन

चौथी विचारधारा

खण्ड–व्यष्टि

(१)

सांत और अनंत

नव-जात बालक के अनुभव का स्वरूप क्या होता है, यह बड़े कुतूहल का विषय है। पर यह बतला सकना अत्यंत कठिन है। अनुभव के प्रारंभिक विकास-क्रम को देखते हुए मनोवैज्ञानिक अनुमान लगाते हैं कि वह अनुभव अत्यंत धुंधला और व्यापक-सा होता होगा, जैसे-कुछ जब कुहरा छाया हुआ होता है। परंतु फिर जैसे सूर्य के उदय होने से कुहरा थोड़ा थोड़ा हल्का पड़ने लगता है और वस्तुएं, पहले अत्यंत स्थूल-से रूप में फिर धीरे धीरे स्पष्ट दीखने लगती हैं, उसी तरह बालक भी अपने विकास के साथ साथ उस धुंधले और व्यापक अनुभव-क्षेत्र में पहले मां का स्तन या दूध की बोतल तथा अपनी मां वा धाई देखने-पहचानने लगता है, फिर कुछ खिलौने और तदनंतर अन्यान्य पदार्थ। इस विकास में दो प्रेरक बल काम करते हैं, एक उसकी आन्तरिक मांगें, भूख, प्यास, खेलादि की प्रवृत्तियां और दूसरे बाह्य परिस्थिति के आघात-संघात।

आठ-दस वर्ष का बालक अनेक पदार्थ जानता-पहचानता है और उन्हें शब्दों द्वारा भी व्यक्त करने लगता है। उन्हें जोड़-तोड़कर वह नए नए संयोग भी रचने लगता है। अनेक बार जब उसकी इच्छा पूरी नहीं होती तो वह खिन्न हो जाता है और वस्तुओं की विषमता आदि पर चिंतन भी करने लगता है। जैसे वह और बड़ा होता है उसका वस्तु-ज्ञान और बढ़ जाता है। फिर एक विकास-स्थिति में वह शुद्ध ज्ञान के लिये, क्रियात्मक उपयोगिता और आवश्यकता के लिये नहीं, वस्तुओं के संबंधों को जांचने लगता है और उनका संतोषजनक समन्वय विचारने का यत्न करता है। जब मानव शुद्ध ज्ञान के लिये अपने अनुभव की भिन्न वस्तुओं में एक समन्वय खोजने लगता है तब उसमें दार्शनिक का जन्म होता है। ये वस्तुएं पश्चिम में बाह्य प्रकृति के पदार्थ रही हैं, भारत में विशेष रूप से आन्तरिक भाव, आवेग और उनके द्वंद्व और चीन में सामाजिक व्यवहार के तथ्य। इसी से दर्शन में भिन्न भिन्न शैलियां हो गयीं। प्रत्यक्ष ही, दार्शनिक सामान्य अनुभव के 'बहुत्व' में 'एकत्व' खोजता है। "चरम तत्त्व के सभी प्रश्न समन्वय के ही प्रश्न हैं" श्रीअरविन्द का यह वाक्य हमें यहां फिर स्मरण आयगा।

आधुनिक पश्चिमी दार्शनिक समन्वय शुद्ध बौद्धिक विचार-रचना के रूप में खोजता है। इसके विपरीत भारतीय गवेषणा के लिये यह आवश्यक रहा है कि ज्ञाता स्वयं ज्ञेय के साथ एकरसता, समकक्षता तथा एकात्मता प्राप्त करे। इसके बिना वह उसे जानने का अधिकारी नहीं हो सकता। इसी लिये भारत में योग दार्शनिक जिज्ञासा का अनिवार्य अंग रहा है। मनुष्य वैश्व समन्वय को अच्छी तरह अधिगत तभी कर सकता है जब वह स्वयं अपने अंदर उचित समन्वय को साधित करे। यदि उसके अंतःकरण में मन, बुद्धि चित्तादि में विषमता है, उसके ज्ञान, कर्म और भक्ति में विरोध है तो वह सत्तात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समन्वय को यथार्थ रूप में जानने में सफल नहीं हो सकता। प्रौढ़ मानव के सामान्य अनुभव में, प्रत्यक्ष ही, प्रधानता अनेक सांत पदार्थों की है। ये पदार्थ दो प्रकार के हैं। एक, बाह्य, मेज कुर्सी वगैरा जिन्हें हम आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं, दूसरे, आंतरिक सुख, दुख, रुचि, अरुचि आदि, जिन्हें हम अन्तर्निरीक्षण द्वारा जानते हैं। बाह्य पदार्थ सामूहिक रूप में जगत् कहे जाते हैं और आंतरिक मानव या व्यक्ति। इस प्रकार दो विशाल समन्वय पैदा हो जाते हैं। परंतु सामान्य प्रौढ़ व्यक्ति इन दोनों से परे एक विशालतर सत्ता को भी स्वीकार करता है। इनकी मर्यादा निर्धारित करने के लिये वह एक ईश्वर को भी मानना आवश्यक समझता है।

इस प्रकार हमारा सामान्य अनुभव अनंत विविधतापूर्ण होने पर भी तीन विशाल समन्वयकारी विचारों में संगठित है। इससे हम अपने अनुभव और संसार को समझने में तथा क्रियात्मक जीवन-निर्वाह में बड़ा सुभीता महसूस करते हैं।

परंतु दार्शनिक, अवश्य ही, असाधारण प्राणी है। उसकी जिज्ञासा असीम है और धीरज अपार। वह 'यथार्थ' के लिये मर मिटता है। मानव-व्यक्ति, जगत् और ईश्वर के आपसी संबंधों का प्रश्न उसके लिये विशेष महत्त्वपूर्ण है। वह सत्ता संपूर्ण का यथार्थ समन्वय चाहता है।

हम इससे पहली विचारधारा में कह चुके हैं कि पूर्ण सत्ता एकत्वमय अस्तित्व ही हो सकती है, उसके कई खंड नहीं हो सकते। 'जो कुछ भी है' वह अंत में जरूर सुसंगठित और संबद्ध होना चाहिये। यह हमारे चिंतन की अनिवार्य मांग है। यदि यह युक्ति ठीक है तब हम सांत पदार्थ, ईंट-पत्थर, पेड़-पौधा, बिल्ली-कुत्ता, राम-श्याम, तथा असीम देश और काल में प्रसारित अनंत जगत् संपूर्ण सत्ता की दो स्थितियां ही स्वीकार कर सकते हैं। ये दो सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं हो सकते। सांत और अनंत, व्यष्टि और समष्टि सत्ता के दो पक्ष मानने होंगे। फिर इन दो व्यक्त सत्ताओं के परे, व्यक्तिगत रूपों तथा विश्वमय प्रकृति के परे, एक अव्यक्त परात्पर-तत्त्व भी, जिसकी ये अभिव्यक्तियां हैं, मानना होगा। संपूर्ण सत्ता को यदि हम पूर्ण ब्रह्म कहें तो विश्वमय प्रकृति तथा उसके व्यक्तिगत रूप पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्तियां माननी होंगी। इस अभिव्यक्ति का प्रेरक आशय एकमात्र आनंद की चरितार्थता और वृद्धि ही हो सकता है।

हमें अपनी तत्त्व-विवेचना में इन तीन अंगों को समझने का अच्छे प्रकार यत्न करना होगा। पहले जरा हम व्यष्टि और समष्टि के संबंध विचारें; मानो राम, मानव-विशेष और मानव-जाति के। राम में मानव-जाति के निर्विशेष तथ्य सभी मौजूद हैं, और साथ में कुछ विशेष गुण भी। १९वीं सदी के पश्चिमी प्रकृतिवाद ने जाति की तथ्यता पर विशेष बल देकर भूल की थी। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने परमाणु-विश्लेषण द्वारा यह स्थिर कर दिया है कि परमाणु के विद्युत्-कणों की गतियों में एक प्रकार की अनिवार्य अनिश्चितता (indeterminacy) है जिससे हर एक परमाणु, वास्तव में, एक अद्वितीय सत्ता बन जाता है। इससे व्यष्टि की विशिष्टता, सविशेष की विशेषता, का अपूर्व महत्त्व हो जाता है। राम में मानव-जाति के व्यापक गुण हैं, इससे व्यष्टि समष्टि पर निर्भर करती है। परंतु सामान्य नियम अपने आपको चरितार्थ भी सविशेषों में करते हैं। इससे समष्टि व्यष्टि पर निर्भर करती है। वास्तव में, एक व्यष्टि समष्टि को किसी विशेष रूप में ही प्रकट और अभिव्यक्त करती है। राम मानव-जाति की एक अद्वितीय अभिव्यक्ति और चरितार्थता है।

जहां १९वीं सदी के प्रकृतिवाद के लिये वैश्व गतियां और नियम ही अर्थपूर्ण थे वहां भारतीय अध्यात्मवाद में बुद्ध और शंकर के मतानुसार जीव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जगत् दोनों ही तुच्छ, त्याज्य और माया हैं। उनके अनुभव ने उन्हें दो मौलिक तथ्य दिये थे। एक, अहंकारमय मानवी व्यक्तित्व जो दुःख और अविद्या-ग्रस्त है और दूसरे सार्वभौम अपार-शांति-पूर्ण शून्य अथवा समं ब्रह्म। इन दो प्रत्यक्षतः विरोधी तथ्यों में समन्वय संभव नहीं प्रतीत हुआ। इसी लिये जीव का जगत् से मुक्ति प्राप्त कर शून्य या निर्गुण ब्रह्म में लय हो जाना ही मानवजीवन का उच्चतम ध्येय बन गया। परंतु यह परिणाम, वास्तव में, अनिवार्य नहीं था। यहां प्रश्न पैदा होता है दो प्रत्यक्षतः विरोधी भावों के समन्वय का, अहंकारमय मानवी व्यक्तित्व अर्थात् सांत, सापेक्ष सत्ता और ब्रह्म अर्थात् अनंत, निरपेक्ष सत्ता का, स्थिति और गति का, शांति और सक्रियता का, सगुणता और निर्गुणता का। एक प्रकार का युक्तिशास्त्र एक पक्ष को आग्रहपूर्वक सत्य कह देता है और दूसरे को असत्य। परंतु एक विशालतर युक्तिशास्त्र उन विरोधी भावों को, ठीक क्योंकि उनमें आत्यंतिक विरोध है, अनिवार्य रूप में संबद्ध तथा अन्योन्य-आश्रयी मानता है। यहां एक दृष्टांत से हम इस आवश्यक विचार को स्पष्ट करने का यत्न करेंगे।

क्या मेरे सामने रखी हुई मेज मुझे बाधित नहीं करती कि मैं उसे जानने के लिये उसे सीमित करने-वाली वस्तुएं जानूं तथा फिर उन वस्तुओं को सीमित करनेवाली अन्यों को और फिर और आगेवालियों को, और ऐसा ही करता जाऊं जब तक मैं अंत में उस असीम और अनंत को प्राप्त नहीं कर लेता जो, वास्तव में, सब वस्तुओं की सब सीमाएं निर्धारित करता है? व्यवहार में ऐसा करने की जरूरत नहीं पड़ती। परंतु यह तो प्रत्यक्ष ही है कि हर एक वस्तु का पूर्ण ज्ञान अंत में हमें उस सत्ता तक ले जायगा जो सब सीमाओं का आधार है और इसलिये स्वयं असीम है। उपनिषद् के जिज्ञासु को उसी सद्वस्तु की खोज होती थी। वह जानना ही वह मूल वस्तु चाहता था जिसके जानने से अन्य सब वस्तुएं जानी जाती हैं। सांत और अनंत, अवश्य ही, संबद्ध हैं। श्रीअरविन्द के शब्दों में "सांत अनंत का विरोध नहीं, उसकी एक अवस्था है", (लाईफ डिवाईन, भाग २ (१) पृ. २७४)। सांत अनंत की एक अवस्था है यह वाक्य अत्यंत सारगर्भित है और इस तथ्य में गंभीर दार्शनिक सत्य तथा समाधान निहित है। यह तथ्य और सत्य समझ लेने से व्यक्ति और जगत् की यथार्थता को जानने में विशेष आपत्ति नहीं रह जाती। इसके विपरीत यदि सांत और अनंत को परस्पर-विरोधी माना जाय तो, अवश्य ही, दोनों इकट्ठे सत्य नहीं हो सकते। यदि अनंत अथवा निरपेक्ष सत्य है तो सापेक्ष संसार असत्य होगा ही।

व्यष्टि का संबंध परात्पर के साथ भी वैसा ही घनिष्ट है जैसे समष्टि के साथ। वैश्व सत्ता, अपने व्यष्टिगत तथा समष्टिगत रूपों की अभिव्यक्ति का स्वरूप है। यह जरूर किसी व्यापक और बृहत्तर सत्ता की अपेक्षा रखती है। प्रश्न पैदा होता है, यह परात्पर तत्त्व व्यष्टि और समष्टि से कैसे संबद्ध है? हम पहले कह चुके हैं श्रीअरविन्द के लिये यदि संपूर्ण सत्ता एकत्वमय तत्त्व है और यदि हमें अपने अनुभव के किसी क्षेत्र को प्रवंचना कहकर टाल नहीं देना तो उपनिषद् का यह विचार कि जगत् आनंदवृद्धि का कर्म तथा व्यापार है, सर्वोत्तम दार्शनिक विचार है। इस विचार को स्वीकार करने के बाद हमारे लिये यह उत्तरदायित्व जरूर पैदा होता है कि फिर यहां दुःख क्यों है? इस उत्तरदायित्व को निभा सकने का हमें विश्वास है और ठीक स्थान पर इस प्रश्न का हम सविस्तार विचार करेंगे।

व्यष्टि जो समष्टि से इतने घनिष्ठ रूप में संबद्ध है परात्पर तत्त्व के साथ भी वैसे ही संबद्ध है। यदि विश्व ब्रह्म की आनंद-क्रिया है तो, अवश्य ही, परात्पर तत्त्व इस क्रिया के प्रति अरुचिपूर्ण नहीं हो सकता। व्यष्टि तब एक बिंदु माननी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ेगी जिसमें परात्पर सत्ता अभिव्यक्त होती है अथवा हर सांत पदार्थ उसकी एक अद्वितीय अभिव्यक्ति मानना होगा। श्रीअरविन्द के शब्दों में "व्यष्टि समष्टि और परात्पर सत्ता की अभिव्यक्ति है . . . यह (व्यष्टि) समष्टि ही है जो केंद्रीभूत तथा ग्रहणशील हो गयी है, यह परात्पर सत्ता के साथ सम-तत्त्व और सम-स्वभाव है।" (लाईफ डिवाईन, भाग २ (१) पृ.२७४)।

प्रकृति हमें व्यष्टियों के अनेक स्तर उपस्थित करती है। मिट्टी के ढेले, ईंट और पत्थर भी व्यष्टि हैं। इनका संगठन एक प्रकार का है। धातु एक उच्चतर संगठन उपस्थित करते हैं। पेड़-पौधे और उच्चतर। फिर पशु। अंत में मनुष्य एक अद्भुत व्यक्तिरूप पेश करता है। जहां पशु में बहिर्मुखी चैतन्य नया समन्वयकारी साधन है; वहां मनुष्य में वह चैतन्य अंतर्मुखी भाव विकसित करके एक नवीन संभावना खड़ी कर देता है। मनुष्य अहंकार की बहिर्मुखी रचना से सज्ञान होकर, उसे अतिक्रांत कर अपने अंदर आत्म-तत्त्व को चरितार्थ करता है। इस चरितार्थता से वह विश्वात्मा के साथ अपनी तदात्मता भी चरितार्थ करता है तथा परात्पर ब्रह्म के साथ एकत्व अनुभव करता है। इस प्रकार योग की शैली से व्यष्टि, समष्टि और परात्पर तत्त्व का एकत्व अनुभव-सिद्ध हो जाता है।

परंतु यह 'एकत्व' अद्वैतवाद के 'एकत्व' से भिन्न है। यह 'बहुत्व-शून्य' नहीं, 'बहुत्वपूर्ण' है। वास्तव में, 'एकत्व' के विचार के कारण दर्शन में बेहद कठिनाई पैदा हो चुकी है। यदि 'एकत्व' का अर्थ यह लिया जाय कि वह शून्य एकरसता है तो अनिवार्य रूप में ही जागतिक व्यवहार तथा मानवी व्यक्तित्व असत्य हो जायंगे। परंतु हमारा अनुभव नित्य 'एकत्व' को 'बहुत्व' के बीच प्रकट करता है; हमारे शरीर के अनेक अंग हैं, परंतु वे एकत्व-पूर्ण हैं।

एकत्व और बहुत्व परस्पर-विरोधी नहीं, परस्पर-पूरक हैं, यथार्थ 'एकत्व' सदा अनेक तत्त्वों में अपने आपको सिद्ध करेगा। इसके बिना एकत्व का अर्थ ही क्या होगा? व्यष्टि, समष्टि और परात्पर सत्ता एकत्वपूर्ण हैं अर्थात् पूर्ण ब्रह्म में ये तीनों संयुक्त हैं पर अपना अपना अस्तित्व भी रखती हैं। किसी भी अवस्था में जगत् और आत्मा ब्रह्म में लीन नहीं हो जाते। वे नित्य हैं, ब्रह्म ही की तरह। पर ब्रह्म को वे सीमित नहीं करते। वे ब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं, और इस रूप में मानो अनेक संभावनाओं में से निरपेक्ष ब्रह्म ने अपने स्वतंत्र संकल्प से इन्हें चरितार्थ करना स्वीकार किया। इस प्रकार अनंत संभावनाओं में से एक निश्चित संभावना के रूप में ब्रह्म में ये सनातन-सत्य हैं।

हमने पहले कहा था कि 'एकत्व' और 'बहुत्व' का समन्वय ही हर दर्शन का विशेष उत्तरदायित्व होता है। 'एकत्व' पर अधिक बल दे देने से जगत् और आत्मा संदिग्ध बन जाते हैं और 'बहुत्व' पर ज्यादा जोर दे देने से पूर्ण सत्ता का एकत्वमय रूप शिथिल पड़ जाता है। श्रीअरविन्द-दर्शन का 'एकत्व' और 'बहुत्व' का समाधान हमें विशेष ध्यान से देखना होगा। यहां हम इसके आधारभूत समन्वय की रूप-रेखा देख पाये हैं। और उसमें व्यष्टि के महत्त्वपूर्ण स्थान को कुछ विशेष रूप में। उपसंहाररूप सारी स्थिति को श्रीअरविन्द के शब्दों में हम फिर कह देते हैं। "विश्व पूर्ण ब्रह्म का असीम देश और काल में प्रसार है, व्यष्टि उसका सीमित देश और काल में संगृहीत क्षेत्र।" (भाग १, पृ. ६९)। तथा "व्यष्टि का अतिमात्र महत्त्व, जैसे यह विकास-क्रम में उन्नत होती जाती है, बढ़ता जाता है। यह विश्व का अत्यंत आश्चर्यजनक और अर्थपूर्ण तथ्य है, क्योंकि विश्व सघन रूपरहित 'निर्ज्ञान' (Nescience) से उद्भूत हुआ है, जहां न चेतना है न व्यष्टिभाव।" (भाग २ (२) पृ. ७०४)। मानव में व्यष्टि एक अन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यतम रूप को प्राप्त होती है। क्योंकि जागतिक विकास मानव में ही ब्रह्म की पूर्ण सचेतन अभिव्यक्ति की संभावना चरितार्थ करता है। मानव ही सचेतन प्रयत्न द्वारा अहंकार की सीमाओं से अपने आपको मुक्त कर सकता है और पृथ्वी पर ब्राह्मी चेतना का प्रकाश प्रकट कर सकता है। श्रीअरविन्द कहते हैं, "मानवता की मुक्ति निर्णायक भागवत क्रिया की प्रधान गति है। यह प्रारंभिक भागवत आवश्यकता है तथा ऐसी धुरी है जिसपर बाकी सब कुछ निर्भर करता है।" (भाग १, पृ.६२)

—इन्द्रसेन

मार से

हे मार, मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूं।....

मार, उस दिन तुम्हारी भारी विजय हुई थी जब तुमने वसन्त के प्रांगण में पुष्पशरों से उन परम निष्ठुर योगिराज शंकरजी को विचलित, विमुग्ध और विस्मृत करके अपना अर्थ सिद्ध किया था।

और..... और .....

उस दिन भी तुम सफल रहे जब कि परम उदासीन राजकुमार सिद्धार्थ ने यशोधरा देवी को अपना बनाकर एकांत विराग का सूनापन भंग किया था।

और .....

और भी कितने तपस्वियों ने मुंह की खाई होगी, यह कौन कह सकता है? ....

तो, हे मार, यदि दीन और दुर्बलप्राण मानव की क्षण भर में ही दुर्गति हो जाय तो इसमें क्या आश्चर्य! ....

मार, यह सच है कि शिवजी ने पुनः आत्मस्थ होकर तुम्हारे कुचक्र को पहचान लिया और अपने प्रचण्ड क्रोधानल में तुम्हें स्वाहा करके 'कामारि' का विरुद धारण किया।

और ....

यह भी सत्य है, मार, कि शाक्यमुनि गौतम ने अपने बुद्धत्व के प्रकाश में तुम्हारा आर-पार देख लिया और स्वयं 'करुणार्णव' बन गये। ...

परंतु, हे मार, भगवान् आशुतोष ने जो तुम्हें पुनः जीवित करके अरूप-रूप प्रदान कर दिया, सो, अच्छा नहीं किया। क्योंकि तब तुम्हारी शक्ति बहुगुणित हो गयी और तुम्हारा बल अप्रतिहत! ...

सच मानो, हे मार, अत्यंत सावधान, कुशल और जाग्रत् जीव को भी तुम्हारे आक्रमण की गति-विधि का पता नहीं मिल पाता। स्वप्न में या जागरित में, सत्ता के किस स्तर पर, आधार के किस भाग में, किस प्रकार से तुम विजय-प्रवेश पाते हो, यह एक अकथ कहानी है। अभागा मानव हाथ मलता ही रह जाता है। ...

पर, हे मार, इस निम्न गति के कब तक दास बने रहोगे, और मानवता के प्रति यह कलंक कब तक ढोते रहोगे? ...

हे मित्र मार, जरा ठहरो, देखो। सुनो, यह दिव्य वाणी कहां से आ रही है! मित्र, यह तो साक्षात् परम करुणामय आनंदपुरुष ही तुम्हें पुकार रहे हैं। तुम्हें वहां तक तो जाना ही पड़ेगा; भागने से काम नहीं बनेगा, मित्र!

हे प्यारे प्रेम के देव तुम्हारा स्थान वही आनंदलोक है। वही आनंदगाम तुम्हारा परमधाम है। तुम्हारी यथार्थ जन्मभूमि वही आनंदपुरी है। जिस दिन तुम उस आनंदज्योति से ज्योतित होकर पृथ्वीतल पर अपनेको विकीर्ण करोगे उसी दिन तुम कृतार्थ हो सकोगे और शायद... उसी दिन तुम्हारा सारा कलंक भी धुल जायगा!

बोलो, आह्वान स्वीकार है?

—रघुवीरशरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मन नहीं टिकता, क्या करें ?"

इस लेख का शीर्षक एक वास्तविक प्रश्न था जो अनेक जिज्ञासुओं तथा साधकों ने आचार्य अभयदेवजी से पत्र द्वारा अथवा मौखिक रूप में पूछा। प्रश्न मानव-प्रकृति से संबद्ध है और साधक के लिये सदा प्रथम अभ्यास होता है। आचार्यजी ने अपने उत्तरों को सामान्य हित के लिये यहां एक क्रम में रख दिया है। लेख का यह अंतिम खण्ड है, इसके तीन खण्ड पहले अप्रैल तथा नवम्बर '४७ और फरवरी '४८ में प्रकाशित हो चुके हैं।—सं०

(१५)

मन चंचल क्यों होता है, यह देखना चाहिये। मन जब भटके तो पता लगाना चाहिये कि वह कहां से भटका। इसके लिये अच्छा उपाय यह है कि जब पता लगे कि मन तो भटक गया है तब उलटा सोचकर उस स्थान पर आ जाना चाहिये जहां से मन भटका था। कुछ समय तक तो मन के भटक जाने पर भी पता ही नहीं होता कि मन भटक गया है, मन अनभीष्ट दिशा में सोचता ही जाता है। अचानक जब एकाग्रता का हमारा संकल्प हमें जगा सा देता है तो याद आता है कि मैं तो एकाग्र हो अमुक ध्यान करने (या अमुक जप करने, अमुक विचार करने या अमुक दिशा में एकतान अभीप्सा करने आदि) बैठा था। जागने पर देखना चाहिये कि उस समय मन में क्या विचार आ रहा है, फिर सोचना चाहिये कि मैं इस विचार पर कैसे पहुंचा अर्थात् इस विचार से पहले क्या विचार आया था, इससे पहली विचार-शृंखला क्या थी, इस तरह सोचते सोचते उस विचार को जा पकड़ना चाहिये जिसके द्वारा सबसे पहले मन ध्यान से भटका था। उस प्रारंभिक विचार पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि वह मन में क्यों आया। उसका कारण जानना चाहिये। इससे मालूम होगा कि मन को ध्यान से हटाने, भटकाने, चंचल करने का क्या कारण हुआ है। इस खोज में हम प्रायः इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि हमारी कोई आसक्ति, राग, मोह या भय-आशंका ही मन की एकतान गति में चुपके से बाधक हो जाती है। यह ज्ञान हमारे मन की शुद्धि में बहुत ही सहायक होगा।

तुम कहते हो कि इस अभ्यास में तो बहुत समय लगता है। सो तो देना ही होगा। समय और है किस कार्य के लिये। कुछ तो जो तुम निरर्थक बातों में या गपशप में बिताते हो उसमेंसे बचा सकते हो। मैं तो तुम्हें यह भी कहना चाहूंगा कि धनोपार्जन के कार्यों की तथा जिन्हें तुम देशसेवा या समाजसेवा कहते हो उन कार्यों की अपेक्षा भी यह अपने अंदर अपने मन का खेल देखना और समझना अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह बहुत बड़ी प्राप्ति का साधन है। यह समय खोना नहीं, समय द्वारा बहुत उत्कृष्ट उपार्जन करना है।

(१६)

जैसे शारीरिक तौर पर एक स्थिर, अडोल आसन से बैठने की महिमा तुम अनुभव करते हो वैसे ही क्या मानसिक तौर पर भी स्थिर अडोल आसन लगाने की अर्थात् सतत एक भाव में, एक मनःस्थिति में अडोल बने रहने की, बल्कि कार्य करते हुए भी मन की शांत अनुत्तेजित समस्थिति बनाये रखने की महिमा, शक्ति और फल— अपेक्षया बहुत ही उत्कृष्ट

CC-0. In Public Domain, Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में—तुम अनुभव नहीं कर सकते, कल्पना में नहीं ला सकते ?

(१७)

आप मन की स्थिरता के लिये मुझसे सहायता चाहते हैं। पर मैंने भी मन की स्थिरता कहां प्राप्त कर ली है ? शायद अपेक्षया मेरा मन कुछ स्थिर है, पर मुझे भी अपने तौर पर मन के स्थिर, अचंचल न होने की वैसी ही शिकायत है जैसे आपको। जैसी स्थिति में अब मन की चाहता हूं वैसी नहीं हो पाती इसकी मुझे भी शिकायत है। पर मैं तो यत्नशील हूं और आशापूर्ण हूं, सो आपको भी कहता हूं कि आप भी यत्न करते जाइये। मन के स्थिर होने, हो सकने में संशय की तो कुछ भी गुंजायश नहीं।

(१८)

उपाय यह है कि शांति की अभीप्सा की जाय। शांति मन में अवतरित हो, उतरे यह सच्चे दिल से चाहा जाय।

(१९)

निश्चल-नीरवता का अर्थ (जो कुछ मैं समझा हूं) है मन की निःशब्द शांति, ऐसी शांति, निश्चलता जिसमें कोई शोर, शब्द, आवाज भंग नहीं डालती, नहीं डाल सकती। चुप, मौन की शांति। अपार अगाध चुप्पी। मानो चारों तरफ हजारों लाखों मील तक भी किसी शब्द, ध्वनि, आहट का अभाव।

गुरुकुल में मैं बच्चों को कहता था कि जब तुम्हें शोर करने को कहें तो तुम ऐसा कोलाहल करो कि कनखल तक तुम्हारी आवाज पहुंचे। पर जब चुप रहने को कहें तो ऐसे चुप होओ कि मानो तुम्हारे आश्रम में कोई जीव है ही नहीं। सुई गिरने की आवाज भी जहां खलती है ऐसी (अंग्रेजी में जो pin-drop silence कही जाती है) निःशब्दता ही नहीं किंतु जहां अपने सांस तक की आवाज भी विघ्नकारक प्रतीत होती है ऐसी शांति हो। मेरा अभिप्राय है कि इसी दिशा में मन के अंदर निःशब्दता की स्थायी, गहरी और व्यापक अभीप्सा करते जाओ तो तुम निश्चलनीरवता पर पहुंच जाओगे।

'योग के आधार' पुस्तक में मन की अचंचलता, स्थिरता, शांति, निश्चलनीरवता आदि का भेद स्वयं स्पष्ट करके बताया गया है। अपनी समझ के अनुसार संक्षेप में मैं यों कह सकता हूं कि अचंचलता में चंचलता का न होना, न रहना मुख्य बात है। स्थिरता में चंचलता के अभाव पर जोर नहीं है किंतु स्थिर, जमे हुए रूप पर है, फिर भी इसमें न हिलने जुलने का भाव है। किंतु शांति में अभावात्मकता बिलकुल नहीं है। शांति एक वस्तु है, वह किसी का निषेधरूप नहीं है। निश्चल-नीरवता का वर्णन मैं ऊपर कर ही चुका हूं। ऐसे और शब्द भी हो सकते हैं। पर शांतिद्योतक ये सब शब्द अत्यंत परस्परसंबद्ध हैं।

(२०)

मन की निश्चलता के विषय में दो तीन भावनाएं हैं जो मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। आपको भी वे अच्छी लगेंगी या सहायक होंगी यह मैं नहीं कह सकता। तो भी मैं उन्हें लिखता हूं।

१—गीता का यह वर्णन :—

'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।'

एक दीपशिखा जिसकी लौ एकसार तनिक भी, जरा भी, इधर उधर हिले जुले बिना निरंतर जल रही है, स्थिरतया जल रही है—यह कल्पना, यह भावना मुझे बहुत ही हृदयग्राहक लगती है। मन ऐसा निश्चल होकर प्रकाशमान हो ऐसा जी चाहता है। दीपशिखा ऐसी वस्तु है जो जरा सी वायु से भी हिल सकती है, फिर भी वह जरा भी न हिले।

२—श्रीअरविन्द ने 'योग के आधार' में प्रारम्भ में ही एक जगह लिखा है कि जैसे निर्मल शांत आकाश में कोई पक्षी उड़ते हुए आते हैं और उसे पार करके चले जाते हैं वैसे ही विचार हमारे स्थिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनरूपी विस्तृत आकाश में निर्लिप्त होकर आवें जावें। यह दृष्टांत भी मुझे बहुत प्रिय लगता है। इसका ध्यान आते ही मन की स्थिरता का अभीष्ट चित्रण सामने आ जाता है।

३–योगदर्शन पढ़ते हुए जब 'निस्तरंग-महोदधि-कल्पं' यह पद पढ़ा था तभी बहुत प्रिय लगा था। और इससे मन की शांत विशालता का चित्र हृदयपटल पर ऐसे सुन्दरतया अंकित हुआ है कि मिटता नहीं–'विशाल समुद्र जिसमें कोई तरंग नहीं उठ रही।'

–अभ...

(समाप्त)

कविता-कुञ्ज–

जीवन चक्र

यह जग हरा भरा रहता है।
चाहे कुछ हो जीवन का यह, चक्र सदा चलता रहता है॥
कितने पत्ते झड़ जाते हैं;
कितने फूल बिखर जाते हैं।
फिर भी नव पल्लव पुष्पों से, वन हंसता-खिलता रहता है॥
जितना जल आगे जाता है;
उतना ही पीछे आता है।
यों ही सरिता में पानी का, स्रोत सदा बहता रहता है॥
जैसा कल था, अब वैसा है;
कल भी होगा, अब जैसा है।
सदा पुराना होकर यह जग, नित्य नया बनता रहता है॥
कभी चांदनी, कभी अंधेरा;
कभी रात है, कभी सवेरा।
ऊपर नीचे होकर पहिया, आगे को बढ़ता रहता है॥

–वंशीधर विद्यालंकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मां से—

मां कर दो मेरा उत्थान।
इस निश्चेष्ट सुप्त जीवन में, भर दो शक्ति महान् ॥

ये जो मेरे अर्ध चेतनावाले तन-मन-प्राण।
इनमें दिव्य सत्य हो उज्ज्वल, जीवन हो गतिमान् ॥

धीर वीर गंभीर भाव हो, प्रज्ञा प्रतिभावान्।
साहस अतुल धैर्य बलशाली, हो विवेक-विज्ञान ॥

निखिल यंत्रणा पाप वेदना, रोग शोक अज्ञान।
इन सबका उन्मूलन कर दो, करो दया का दान ॥

प्राणावेग वासना कलुषित, करतीं मन को ग्लान।
निश्चल नीरव शान्ति सुधा का, जननी कराओ पान ॥

अति विनीत श्रद्धायुत होकर, धरूं हृदय में ध्यान।
दयामयी दो दर्शन अब तो मैं तेरी संतान ॥

—आनंद मुनि

जीवन के संग गति भी जागे!

गति में अपनी तत्परता हो,
गति में अपनी अक्षरता हो,
ऐसी शक्ति कि जिसको छूकर, युग की मौन प्रगति भी जागे!
जीवन के संग गति भी जागे!

जागे चेतन में सोया जड़,
जागे हिमगिरि, तरु, बन, बीहड़,
ऐसा अमिय बहे कि जगत् में, मृतक जगे, जीवित भी जागे!
जीवन के संग गति भी जागे!

भाग्य जगे कर्मों को लेकर,
सत्य जगे धर्मों को लेकर,
मेरी कविता जगे विश्व में
मानव के मर्मों को लेकर,
नवयुग की निस्तब्ध-निशा में, बनकर उषा-नियति भी जागे!
जीवन के संग गति भी जागे!

—शांति एम. ए.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय–

विचार और अभीप्सा

कैसा सौभाग्य !

मेरे एक मित्र आश्रम आये। उत्तर भारत से पांडिचेरी आना अपने आपमें साहस का काम है। उनके लिये तो यह अचिंत्य-सा ही था। उनका उग्र बुद्धिवाद तथा अहम्मन्य परिपूर्णता आश्रम के प्रति अभेद्य सुरक्षा प्रतीत होती थी।

फिर भी उन्होंने आने के लिये लिखा। आज्ञा मिल गयी और वे आये। बड़े ध्यान से आश्रम की व्यवस्था देखते रहे। व्यवस्था की ओर ही उनका ध्यान जाता था, उसी के क्रम और संगठन के बारे में वे बार बार पूछते थे और उसे देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य और आनंद हुआ।

परंतु व्यवस्था की मर्यादा बतलाते हुए व्यवस्थापिका श्री माताजी का जिक्र आना अनिवार्य था। उनका आशय, भाव और उद्देश्य जतलाये बिना उनकी आश्रम की आयोजना भला कैसे कोई समझा सकता था। मेरे मित्र को आश्रम प्रिय लगता था; उसका संगठन, आश्रमवासियों का प्रसन्न, चितारहित भाव तथा युवकों और बालक-बालिकाओं का पढ़ना-पढ़ाना और खेल-कूद–सबके सब बहुत अच्छे थे। परंतु इस जीवन की रचयित्री श्री माताजी तथा मूलप्रेरक श्रीअरविन्द के व्यक्तित्व उनके लिये कुछ आपत्ति पैदा करते थे।

मेरे लिये अपूर्व प्रश्न पैदा हुआ, मैं उनकी प्रतिक्रियाएं अधिक ध्यान से देखने लगा और उनके कारण ढूंढ़ने लगा। कर्म से कर्म करनेवाला नित्य बड़ा होता है। कर्त्ता की चेतना में कर्म कैसे अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुआ, यह देखकर ही कर्म का प्रकट रूप पूरी तरह जाना जाता है।

एक बार उन्होंने कह ही दिया आपके यहां की मानवपूजा मुझे नहीं भाती। मानव आखिर मानव है, उसे मानव ही मानना चाहिये। मानव कहीं देवता थोड़े हो सकता है !

मैं उनकी कठिनाई समझ गया। मुझे अंदर ही अंदर गुदगुदी हुई, भाव उदय हुआ "जिसे हम पूजते हैं वह क्या मानव है ?" पर मैंने इसे व्यक्त होने से रोक लिया। मैं उन्हें ठेस नहीं पहुंचाना चाहता था। सोचा, किसी के लिये सत्य तब सत्य बनता है जब वह स्वयं विकसित होकर उसका कुछ स्पर्श प्राप्त कर लेता है।

मुझे अपने पहले दिन स्मरण आये। मैं ईश्वर में विश्वास रखता था, आत्मा को यथार्थ तत्त्व मानता था, उपनिषद् और गीता का कुछ अध्ययन भी किया करता था। परंतु ईश्वर था केवल चिंतनीय विषय ही, आत्मा थी एक मान्य वस्तु ही। जिन-जिन साधु महात्माओं से संपर्क हुआ था वे भी जब सत्य-भाव में कहते तो इन्हें ऐसा ही बतलाते। मैं भी अनुभव किया करता था, मानव मानव सब अल्पज्ञ हैं।

फिर याद आया वह अवसर जब आश्रम में पहुंचा था। संगठन या व्यवस्था की तरफ मेरा ज्यादा ध्यान नहीं गया था। मैं हैरान होता था देख देख कि यह भगवान् के लिये कुछ ऐसी खोज है मानो वह प्राप्य ही हो। उस खोज ने मुझे बेहद आकर्षित किया और मैं आश्रम के वातावरण में उतरने लगा, उसकी व्यापक अभीप्सा मुझे अपने अंदर अनुभव होने लगी, मैं उस अभीप्सा के स्रोत से भी किंचित् संबंध अनुभव करने लगा। आत्मा और परमात्मा क्रियात्मक ध्येय प्रतीत होने लगे और श्री माताजी अधिकारपूर्ण गुरु। श्री माताजी मुझे सहज रूप में आकर्षित करने लगीं और मैं स्वाभाविक रूप में उनके प्रति अर्पित अनुभव करने लगा। उस समर्पण में मैं ऐसा संतोष अनुभव करने लगा जो मैंने पहले किसी बड़े से बड़े मानव के संबंध में भी अनुभव न किया था। मेरे लिये वे मानव रहीं ही न थीं।

मुझे प्रमाण की आवश्यकता न थी पर एक अवसर आया, माताजी थोड़े से व्यक्तियों को कुछ समझा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रही थीं। वास्तव में, किसी के प्रश्न का उत्तर था, उन्होंने गंभीर तथा अपूर्व सत्यता के भाव में कहा "मैं एकत्व को इस समय, व्यवहार में भी, उसी तरह अनुभव करती हूं जैसे तुम्हारे, अनेकों के, अलग अलग रूप को।" श्री रामकृष्ण ने भी एक मौके पर विवेकानंद को साफ कह ही दिया था कि मैं भगवान् को इस समय भी ऐसे ही देख रहा हूं जैसे तुम्हें। उस गंभीर वातावरण में उस गंभीर सत्य के चिंतन में हम लोग डूब गये। अपूर्व आह्लाद में मैंने अनुभव किया "कैसा सौभाग्य, हम ऐसी चरितार्थता, ऐसी दिव्य चेतना मानव के रूप में देखते हैं, उससे व्यावहारिक संबंध लाभ करते हैं, उसके प्रति दुःख और रोष प्रकट करते हैं तथा उसे प्रत्यक्ष आदर्श के रूप में भजते हैं।"

बुद्धिवादिता और अहंमन्यता व्यक्तित्व के ऊपरी आवरण ही तो हैं। फिर जैसे उग्र रूप में वे किसी में होते हैं, वैसे ही उसकी गहराई में एक अपूर्णता की भावना बनती चली जाती है, एक अज्ञात मांग और भूख पैदा होती जाती है।

मेरे मित्र आश्रम खूब देख चुके थे। उन्होंने अब परोक्ष-से ढंग में ही माताजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। वे मिले। मिलने के बाद की जो उनकी स्थिति थी वह मेरे लिये विशेष अनुभव था। उनके भाव में अपूर्व सरलता थी। उनका व्यक्तित्व विशेषतया बौद्धिक और नैतिक विधिनिषेधों का दृढ़ संगठन था। वे उन्हें उस समय कैसे तिलांजलि दे एक बालक के रूप में निखर पड़े थे! अपूर्व सरलता और सत्यता थी उनके भाव में। उन्होंने स्वयं भी अनुभव किया कि वे किसी विशेष व्यक्तित्व के संपर्क में आये हैं।

पर जो उस व्यक्तित्व के साथ कुछ अधिक संपर्क पैदा कर पाये हैं, चाहे श्री माताजी की पुस्तकों के मनन-निदिध्यासन से अथवा साक्षात् संबंध से, वे उस व्यक्तित्व को किसी और ही रूप में जानते हैं। वे उसे, अपनी प्रेममयी माता के रूप में अनुभव करते हैं, उसपर ही अपना सारा भरोसा रखते हैं और उसी से जीवन का पूरा संतोष चाहते हैं। बालक के लिये जैसे उसकी मां उसका सारा संसार होती है, वैसे ही माताजी उनके लिये पूर्ण जगत् हैं। उन्हें ही आज २१ फरवरी को, उनके जन्म-दिन के अवसर पर, वे अपनी हार्दिक कृतज्ञता भेंट करते हैं।

अखिलभारतीय दर्शन-महासभा

उपनिषदों में ऋषियों-मुनियों की सभाओं और गोष्ठियों का अत्यंत सरस वर्णन मिलता है, अपूर्व वार्तालापों का विशद वृत्तान्त, विचारों और अनुभूतियों का विलक्षण विनिमय। ऐसे सम्मेलनों से आध्यात्मिक तथा सामान्य लोक-जीवन को, अवश्य ही, नया प्रोत्साहन और नया पथप्रदर्शन प्राप्त होता होगा।

हमारा वर्तमान जीवन सामान्य रूप में तत्त्ववेत्ताओं से प्रेरणा और प्रोत्साहन की उतनी मांग नहीं करता जितनी राजनीतिज्ञों से। आज के जीवन के कर्णधार राजनेता हैं, तत्त्ववेत्ता नहीं। यह शुभ है अथवा अशुभ इसे हम यहां विचारने नहीं जा रहे फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि राजनेता यदि वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का तथ्य तात्त्विक रूप में नहीं जानते तो वे देश और जाति की वास्तविक सेवा करने में सफल नहीं हो सकते। दूसरी ओर व्यक्ति दर्शन-शास्त्र के अध्ययनमात्र से ही दार्शनिक या तत्त्ववेत्ता नहीं बन जाते। 'सत्य' सनातन वस्तु होते हुए भी मानव के लिये सतत जिज्ञासा और अनवरत खोज का विषय है। वह नित्य नए नए रूपों में प्रकट होता है, मानव इतिहास की हर अवस्था नई दार्शनिक स्थिति है और नई जिज्ञासा और नए प्रयत्न की अपेक्षा रखती है। इसके बिना अनिवार्य रूप से ही जीवन रूढ़िग्रस्त तथा संकुचित और असमर्थ बन जायगा। वास्तव में, दार्शनिक चिंतन और अनुभव अपने समय की संस्कृति को प्राण और प्रेरणा देते हैं, क्योंकि वे मौलिक और आधारभूत होते हैं। वही अन्य विचारों की दिशा और रूप निर्धारित करते हैं।

दिसम्बर के तीसरे सप्ताह में देश के कोने कोने से दर्शन के उपाध्याय बम्बई में एकत्र हुए और, अवश्य ही, यह सम्मेलन बड़े महत्त्व का था। सम्मेलन के सभापति थे डा० शिशिर कुमार मैत्र, बनारस हिन्दूविश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रधान उपाध्याय। उन्होंने अपने सभापति के भाषण द्वारा सम्मेलन का जो पथ-प्रदर्शन किया वह, अवश्य ही, मौलिकतापूर्ण तथा ओजस्वी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने कहा कि पूर्व और पश्चिम की दर्शन-शैलियों में एक मौलिक अंतर है। पश्चिम भौतिक विज्ञान की प्रेरणा के अधीन विशेष रूप से प्राकृतिक तथ्यों के निरीक्षण और संग्रह में यत्नशील रहा है। उन तथ्यों के सामान्य नियम ही उसकी जिज्ञासा का विषय रहे हैं। इस विज्ञानवाद ने एक प्रकार के बुद्धिवाद को दृढ़ किया जिसके फलस्वरूप दार्शनिक जिज्ञासा का विषय भी शुद्ध सत्ता (Existence) बन गयी, ऐसी सत्ता जो केवल ज्ञेय वस्तु ही है, परन्तु किसी प्रकार भी मानव के लिये क्रियात्मक प्राप्तव्य ध्येय नहीं, न भावात्मक अभिरुचि का विषय है। पश्चिम की परिभाषा में हम कहेंगे सत्ता (Existence) और मूल्य (Value) दो भिन्न तत्त्व हैं। मूल्य, जो वांछनीय है, जो ध्येय और उद्देश्य है, वह उद्देश्य चाहे तात्कालिक हो या दूर-कालिक, परोक्ष हो या अपरोक्ष या सर्वोपरि और नितांत अंतिम, मानव जीवन के क्रियात्मक पक्ष की अपेक्षा रखता है। वह शुद्ध ज्ञानात्मक और बौद्धिक नहीं, वह दर्शन के लिये विचारणीय नहीं।

इसके विपरीत, पूर्वी दर्शन-शैली के लिये जो सत है वह शिव भी है, वह सुन्दर भी है। सत् अपने आप-में सत्य भी है। अतः सत्ता और मूल्य का पृथक्-करण कृत्रिम है, अस्वाभाविक है। पूर्वी शैली मानवी व्यक्तित्व को ज्ञानात्मक और क्रियात्मक दो पक्षों में बांटने को तैयार नहीं। व्यक्तित्व ऐक्यपूर्ण है, उधर चरम तत्त्व भी जरूर ऐक्यपूर्ण है। अतः व्यक्तित्व तथा सत्ता दोनों में किसी प्रकार का विभाजन अनुचित है।

सभापतिमहोदय ने अपने भाषण में पश्चिम के कृत्रिम विभाजन के अशुभ परिणाम भी खूब बल-पूर्वक जतलाये, इस समय के सांस्कृतिक संकट के यथार्थ कारणों पर अच्छा प्रकाश डाला।

रचनात्मक रूप में उन्होंने कहा कि संपूर्ण सत्ता एक विकसनशील क्रम है जिसमें उत्तरोत्तर नए नए मूल्य प्रकट होते हैं। जड़ में प्राण एक नया मूल्य प्रकट हुआ था, फिर मन एक और। इसके बाद अन्य उच्चतर मूल्य भी उत्तरोत्तर प्रकट होते जायंगे। यहां प्रकट होनेवाले मूल्य पूर्ण चेतना के वास्तव में क्रमिक अवतरण ही हैं। आपने कहा कि गीता और उपनिषदें इस दार्शनिक विचार की पूरी पुष्टि करती हैं तथा यह जीवन और सत्ता के समाधान के लिये अत्यंत संतोषजनक विचार है। इसमें पूर्ण सत्ता अनुचित रूप में सत् तथा मूल्य में खण्डित नहीं कर दी गयी तथा इस विचार के आधार पर एक अत्यंत सुडौल सांस्कृतिक जीवन रचा जा सकता है। यह विचार जीवन और जगत् के संबंध में अस्वीकारात्मक भाव भी नहीं रखता तथा जीवन-विकास के लिये अपूर्व प्रेरणा और प्रोत्साहन देता है क्योंकि इसके अनुसार जगत्-विकास के स्वाभाविक क्रम में मन और मानसिक चेतना के परिणामभूत सुख-दुःखादि सभी द्वंद्व अतिक्रांत हो जायंगे और मानव आत्मा की स्थिति प्राप्त करेगा। इस प्रकार मानव सहज रूप में ही पूर्ण आनंद की ओर विकसित हो रहा है।

डा० मैत्र कहते हैं कि "मेरे विचार में इस दर्शन के सर्वप्रमुख प्रतिनिधि श्रीअरविन्द हैं, जिन्होंने अपने महान् ग्रन्थ, 'दि लाइफ डिवाइन', में इसके आधारभूत सिद्धांतों का निरूपण किया है।" (Presidential Address: Whither Philosophy?–पृ. ४२)

हमने ऊपर कहा है कि पश्चिमी दर्शनशैली प्रधान रूप से सत् की ही विशेष उपासक रही है। परंतु फिर भी ऐसे दार्शनिक कई हुए हैं जिनका दर्शन मूल्यप्रधान कहा जा सकता है अथवा जो दोनों पक्ष ऐक्यपूर्ण भाव में रखना चाहते हैं। पश्चिम में इस शैली के प्रमुख विचारक अलेग्जेण्डर (S. Alexander) हैं। इनके अतिरिक्त हार्टमैन (N. Hartmann) तथा ब्रेडले (Bradley) ये दो और उल्लेखनीय हैं।

परंतु डा. मैत्र का कहना है कि, "आज जितने दर्शन हैं उन सबमें श्रीअरविन्द का दर्शन सबसे अधिक सुसंगत तथा विकसित मूल्य-केंद्रित दर्शन है। उनके सारे दर्शन का आधार ही है मूल्यों का एक दूसरे के बाद चढ़ते क्रम में प्रकट होने का विचार। असल में उनके लिये विकास का अर्थ इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है कि उच्च से उच्चतर मूल्य प्रकट होते जायं। विकास की हर अवस्था एक प्रधान मूल्य है। दृष्टांत के लिये, जिस विकास की अवस्था तक हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुंच चुके हैं, उसका प्रधान मूल्य मन है। इसी लिये मन हमारी सब प्रकार की प्रवृत्तियां, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक आदि निर्धारित करता है। परंतु श्रीअरविन्द के लिये विकास (evolution) सृष्टि (creation) का ठीक उलट है अर्थात् उस प्रारंभिक स्रोत की ओर लौटना जहां से सृष्टिक्रम एक अवतरण था। यदि यह ठीक है तो विकास मन पर समाप्त नहीं हो सकता, यह जरूर ही आगे चलता जायगा जब तक उच्चतम मूल्य अर्थात् सच्चिदानंद तक नहीं पहुंच जाता। तब भी अगले मूल्य, अर्थात् अतिमन, के प्रकट होने पर जगत् में एक मौलिक परिवर्तन आ जायगा। पर इसका यह मतलब नहीं कि हमारे वर्तमान मूल्य जड़, प्राण और मन नष्ट हो जायंगे। वे तब रूपांतरित हो जायंगे।" पृ. ५६-५७।

डा० मैत्र ने, अवश्य ही, श्रीअरविन्द-दर्शन का संदेश बड़े विश्वास और बलपूर्वक दर्शन-महासभा में सुनाया। इसका सर्वांगीण ब्रह्मवाद अपने मूल्य-दर्शन के रूप में ओजस्वी प्रेरणा के साथ उपस्थित किया। अपने सहयोगियों को मौलिक भारतीय शैली में चिंतन करने के लिये आहूत किया। हम आशा करते हैं उनकी प्रेरणा और आवाहन देश में मौलिक दार्शनिक प्रवृत्ति पैदा करने में सफल होगा।

विभिन्नता में एकता

किसी देश व राष्ट्र के लिये स्वाभाविक रूप में उसकी सुरक्षा पहली चिंता होती है, सांस्कृतिक विकास और उसके लिये प्रयोजनीय वैयक्तिक अथवा प्रांतिक व प्रादेशिक स्वतंत्रता की बात पीछे सोची जाती है। यह विचार स्वतःसिद्ध-सा प्रतीत होता है और आज के जगत् में जहां शक्ति और सत्ता के लिये एक अदम्य-सी होड़ चल रही है हर राष्ट्र अपनी रक्षा के लिये चिंतित है और आंतरिक एकता संपादित करने के लिये व्यग्रता से यत्नशील है।

यह एकता प्रायः विचार, मत, भाव और कर्म में एक ही प्रकार के होने में मानी जाती है। राष्ट्र के नागरिक अधिकांश में एक ही विचार, एक ही मत, एक ही भाव और भावना, और एक ही कर्म-प्रवृत्तिवाले हों, यह एकता का उद्देश्य माना जाता है। ऐसी एकता में स्वभावतः बल अनुभव किया जाता है। इसमें एक प्रकार का बल होता भी है।

परंतु एकता का विचार, वास्तव में, इतना सरल नहीं। हम एक दृष्टांत की सहायता से इस विचार की गहराई तक जाना चाहेंगे। हमारे शरीर के अनेक अंग हैं, और उनमेंसे हर एक अपने ही ढंग का है, एक अलग प्रकार के काम के लिये ही उपयुक्त है। शरीर के हित के लिये प्रत्येक अपनी अपनी भेंट चढ़ाता है, अलग अलग सेवा बजा लाता है। अब देखने की बात यह है कि क्या विविध-धर्मी अंगों से युक्त होने के कारण शरीर की एकता अधिक समृद्ध नहीं हो जाती तथा वह संपूर्ण रूप में अधिक शक्तिशाली नहीं हो जाता। प्रत्यक्ष ही, यह एकता अधिक समृद्ध है और ठीक विविधता के कारण ही शरीर अधिक शक्तिशाली है। अवश्य ही, उन विविध अंगों को एक ही शरीर के हित के लिये काम करना होगा, यद्यपि वे काम करेंगे स्वतंत्रतापूर्वक अपनी अपनी शैली तथा योग्यता के अनुसार।

यहां हमारे सामने एकता के दो विचार हैं। एक तो वह जिसमें विविधता और भिन्नता एकता की विरोधी और नाशक मानी जाती हैं और दूसरा वह जिसमें एकता सिद्ध होती ही है विविधता और भिन्नता के बीच तथा उनके द्वारा। पहले प्रकार की शैली को ही कठोर एकनियमितता (regimentation) कहते हैं। यह विचार पश्चिम के बुद्धिवाद तथा धर्म से, जो मंतव्यों (creed) के विषय में आग्रहशील है, पूर्णतया संगत है। परंतु भारतीय आध्यात्मिक अनुभव ने जीवन का एक उच्चतर तथ्य ढूंढ़ निकाला था। उसने अपने आध्यात्मिक अनुभव में देखा कि आत्मा वह अपूर्व अस्तित्व है जो हमारे जीवन की सब परस्पर-विरोधी अभिव्यक्तियों को समान रूप में अंगीकार करता है तथा आश्रय देता है। इसी लिये हिन्दूधर्म मंतव्यात्मक (credal) नहीं। यह किन्हीं विश्वासों के लिये व्यक्ति को बाधित नहीं करता। यह तो अनुभव को प्रेरित और विकसित करना चाहता है। भारत का सामान्य सांस्कृतिक जीवन भी उसी एकता के उच्चतर तथ्य पर आधारित था। व्यक्तियों, तथा जातियों और प्रदेशों को स्वतंत्र विकास की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज्ञा थी। आधारभूत सिद्धांत, अवश्य ही, सभी के लिये एक थे। उसका जो परिणाम हुआ उसकी गवाही हमारा हजारों वर्ष का लंबा इतिहास दे रहा है। इतने विस्तृत देश में, आजकल के यातायात के साधन न होते हुए भी, एक अखण्ड एकता चरितार्थ हो गयी, जिसने अनेक पश्चिमी इतिहासज्ञों को चकित कर दिया।

अभी गत दिसम्बर को जब आंध्र विश्वविद्यालय ने अपना विशिष्ट 'राष्ट्रीय पुरस्कार' श्रीअरविन्द को भेंट किया, तब श्रीअरविन्द ने अपने संदेश में विशेष रूप से यही बतलाया कि हमारे राष्ट्रीय जीवन की एकता का रूप क्या होना चाहिये। अथवा क्या भाषावार प्रांत और अपेक्षाकृत स्वतंत्र सांस्कृतिक उपक्षेत्र बनने चाहियें कि नहीं? उन्होंने कहा कि आज कितने ही लोग देश के कठोर एकीकरण के पक्ष में हैं। वे सारे देश में एकता और समान-मर्यादित शासन, भाषा, संस्कृति, साहित्य, कला तथा शिक्षा चाहते हैं। श्रीअरविन्द ने कहा, संभव है कि इससे भारत अन्य प्रगतिशील देशों की तरह उद्योग, व्यापार, विज्ञान, सैन्यबल आदि में प्रभावशाली हो जाय। परंतु इससे वह अपना स्वधर्म, अपनी आत्मा खो बैठेगा। फिर वे बड़े मार्मिक शब्दों में कहते हैं, "यह विधि का दुःखद व्यंग्य होगा यदि भारत ने अपनी आध्यात्मिक पितृ-संपत्ति ठीक ऐसे समय गंवा दी जब शेष सारा जगत् आध्यात्मिक सहायता तथा रक्षाकारी प्रकाश पाने के लिये उत्तरोत्तर उसकी ओर झुक रहा है।"

देश का इतिहाससिद्ध स्वधर्म इस बात की मांग करता है कि हम अपनी संस्कृति तथा राजनीतिक जीवन 'विविधता में एकता' (Unity in Diversity) के सिद्धांत पर गठित करें। इस संबंध में उनका कहना है, "भारत का राष्ट्रीय जीवन तब अपने स्वाभाविक सामर्थ्यों पर सुप्रतिष्ठित हो जायगा और जो 'विभिन्नता में एकता' का सिद्धांत सदा ही उसके लिये सहज एवं सामान्य रहा है तथा जिसकी चरितार्थता उसकी सत्ता तथा उसकी प्रकृति की मूल गतिविधि रही है, वह 'बहु' में 'एक' का सिद्धांत, उसे अपने स्वभाव एवं स्वधर्म के सुनिश्चित आधार पर स्थापित कर देगा।"

हममेंसे अनेक को यह भय है कि प्रांतिक और प्रादेशिक स्वतंत्रता हो जाने अर्थात् भाषावार प्रांतों के बन जाने से प्रादेशिक एकता दृढ़तर हो जायगी और संभव है उससे सार्वदेशिक एकता कमजोर पड़ जाय। इस भय को हमें, वास्तव में, और तरह से दूर करना चाहिये। सार्वदेशिक मर्यादाएं ऐसी सुदृढ़ रहनी चाहियें ताकि अंत में हर एक प्रदेश अपने आपको भारत का अंग समझे, उसपर निर्भर अनुभव करे और अपने सर्वोत्तम विकास की भेंट से देशमात्र को समृद्ध और सम्मानित करने में गर्व माने। इस आशंका के संबंध में श्रीअरविन्द का कहना है कि संघतंत्रीय संविधान और शासन तथा सार्वदेशिक भक्ति की भावना सार्वदेशिक एकता के लिये पर्याप्त सुरक्षा है। इसके विपरीत, यदि देश के सांस्कृतिक उपक्षेत्रों को निज-विकास की स्वतंत्रता न दी जाय तो देश की एकता को जरूर भय हो सकता है।

आंध्र विश्वविद्यालयवाला श्रीअरविन्द का संदेश प्रत्यक्ष ही, देश के लिये अत्यंत सामयिक पथ-प्रदर्शन है। यह संदेश सीधे तो भाषावार प्रांतों के प्रश्न से संबद्ध है परंतु वैसे यह एक ऐसा आधारभूत विचार प्रस्तुत करता है जो देश के नवनिर्माण के लिये व्यापक रूप से उपयोगी है। हमें प्रसन्नता है कि 'दार कमीशन' का विपरीत विचार होने पर भी जयपुर में नेताओं ने भाषावार प्रांतों के प्रश्न पर पुनः विचार करना उचित समझा है।

श्रीअरविन्द के पथ-प्रदर्शन के लिये कई जगह सुन्दर भावना देखकर भी हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। दृष्टांत के लिये 'माडर्न रिव्यू' ने भाषावार प्रांतों के प्रश्न पर लिखते हुए कहा है कि "हम जानते हैं कि इस प्रश्न पर प्रकाश डालने के लिये अपने ज्ञान तथा अन्तर्दृष्टि के कारण श्रीअरविन्द से अधिक योग्य व्यक्ति दूसरा कोई नहीं है।"

श्रीअरविन्द का मुख्य कार्य अवश्य ही यौगिक है—मानव चेतना के रूपांतर की भूमिका तैयार करना परंतु उनके यौगिक कार्य के लिये देश और जगत् के अनुकूल वातावरण अपेक्षणीय हैं और स्वाधीनता के बाद उन्होंने दो-तीन बार देश के सम्मुख अपने विचार भी रखे हैं। हम आशा करते हैं कि देश उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यता और महत्त्व अनुभव कर उनसे लाभ उठावेगा।

आश्रम का खेल-विभाग

एक समय था जब आश्रम में बच्चे थे ही नहीं, युवक भी कम थे। पर आश्रम के क्षेत्र में विस्तार हुआ, बच्चे आये, युवक आये। स्कूल खुला और खेल-विभाग संगठित हुआ। इस समय सायंकाल प्रतिदिन लगभग १५० लड़के-लड़कियां आश्रम के विभिन्न क्रीड़ास्थलों में इकट्ठे होते हैं और अनेक प्रकार के खेलों में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।

बहुतों को आश्चर्य होता है कि योग आश्रम में स्पोर्ट्स का क्या स्थान! श्रीअरविन्द से किसी ने अपनी यह शंका प्रकट भी की। उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि अवश्य ही उस प्रकार के योग-आश्रम में जिसका उद्देश्य ब्रह्म में लीन होना और जगत् से कूच कर जाना हो, ध्यान, चिंतन आदि के सिवाय और किसी चेष्टा-क्रिया का स्थान नहीं हो सकता। परंतु, श्रीअरविन्द ने कहा कि, इस आश्रम का उद्देश्य तो जीवनमात्र रूपांतरित करना है, जीवन के सारे क्षेत्र में भागवत प्रेरणा को व्यापक रूप में चरितार्थ करना है, इसलिये यहां जीवन के किसी भी पक्ष के प्रति अस्वीकारात्मक वृत्ति ग्रहण नहीं की जा सकती।

इस फरवरी महीने से खेल-विभाग एक त्रैमासिक भी निकालने जा रहा है। इसका नाम होगा "Bulletin of Physical Education"। इसके लिये श्रीअरविन्द ने एक संदेश दिया है जिसमें उन्होंने विशेष रूप से राष्ट्रीय दृष्टिकोण से खेलों की उपयोगिता दर्शायी है। परंतु उस संदेश में एक-दो स्थल ऐसे हैं जिनसे उनकी आध्यात्मिक विकास के लिये उपयोगिता भी प्रकट होती है। वे कहते हैं कि खेलों की एक अत्यधिक उपयोगिता "तात्त्विक और सहज शारीरिक चेतना" (The essential and instinctive body consciousness) को जाग्रत करना है। इस संबंध में "योग के आधार" (Bases of Yoga) में श्रीअरविन्द ने जो भौतिक चेतना (Physical consciousness) पर लिखा है वह विशेष सहायक है।

परंतु उस संदेश में उन्होंने इस आध्यात्मिक पक्ष की अधिक व्याख्या नहीं की। राष्ट्रीय दृष्टि से ही समझाया है कि खेलों से किस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य तथा चरित्र के अनेक उपयोगी गुण, साहस, तितिक्षा, कर्मशीलता, शीघ्र-निर्णय करने की शक्ति, मिलकर काम करने की योग्यता, हार-जीत को समभाव में लेने की वृत्ति, प्रतिस्पर्धी के प्रति सद्भाव आदि आदि गुण विकसित होते हैं। इन अनेक सद्गुणों की सविस्तर व्याख्या करने के बाद वे कहते हैं "खेलों को आश्रम में स्थान देने के लिये ये ही अपने आपमें काफी हैं। यद्यपि इनके अतिरिक्त और भी कारण हैं जिनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।" हम अपनी खेल-विषयक नई पत्रिका का अभिवादन करते हैं और अभीप्सा करते हैं कि खेल, यहां तथा व्यापक रूप से, शारीरिक स्वास्थ्य, चरित्र तथा मानवी व्यक्तित्व की भौतिक चेतना के विकास में विशेष सहायक हों। —इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-परिचय

Savitri : A Legend and a Symbol
Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry

अदिति के गतांक में हमने श्रीअरविन्द के महाकाव्य 'सावित्री' की कुछ एक पंक्तियों का हिन्दी गद्य में रूपांतर दिया था और एक नोट में आशा प्रकट की थी कि कभी कोई प्रतिभाशाली हिन्दी कवि ही 'सावित्री' को हिन्दी पाठकों के लिये उचित रूप में प्राप्य बना सकेगा। इस अंक में सावित्री का एक सर्ग, संकलित अंशों में, देकर हमें जो हर्ष हो रहा है वह हम व्यक्त नहीं कर सकते। हिन्दी रूपांतर श्री सुमित्रानंदनजी पंत का है, जो हिन्दी के प्रतिभाशाली कवि ही नहीं हैं बल्कि श्रीअरविन्द की आध्यात्मिक प्रेरणा से निश्चित सम्पर्क भी रखते हैं। वे श्रीअरविन्द का काव्य हिन्दी में उपस्थित करने के लिये विशेष रूप से उपयुक्त हैं।

इस अवसर पर हम 'सावित्री' का रूप, आशय और विषय कुछ विस्तार में भी समझने का यत्न कर सकते हैं।

सावित्री-सत्यवान् की कथा महाभारत का एक मनोरम और ओजस्वी प्रसंग है। सावित्री सत्यवान् को अपना वर चुन लेती है। और जब नारद उसे यह बतला भी देते हैं कि सत्यवान् विवाह के ठीक एक वर्ष बाद मर जायगा तब भी वह अपने निश्चय पर यथापूर्व दृढ़ और आग्रहशील रहती है। वर्ष बीतते देर नहीं लगती और सत्यवान् की अंतिम घड़ी आ उपस्थित होती है। जंगल में लकड़ी काटते हुए उसके सिर में एकदम पीड़ा हो उठती है। उत्कट प्रतीक्षा के भाव में सावित्री उसका सिर अपनी गोदी में रख कुछ उपचार करने लगती है। यमदेव प्रकट होते हैं और सत्यवान् की आत्मा ले चल देते हैं। सावित्री शव को छोड़ उनके पीछे पीछे हो लेती है। सब प्रकार के कष्टों को झेलती हुई वह बराबर पीछे पीछे चलती चली जाती है। प्रत्यक्ष ही, वह वर्ष भर से इस कर्म के लिये अपनी अभीप्सा और संकल्प दृढ़ करती आ रही थी।

यमदेव सावित्री की भक्ति, तितिक्षा और अभीप्[सा] से प्रभावित होकर उससे कुछ वर मांगने को कह[ते] हैं, पर कह देते हैं सत्यवान् के प्राण नहीं मांग[ने] होंगे। वह अपने अंधे सास-ससुर के लिये नेत्र मांगत[ी] है। यमदेव प्रदान करते हैं। परंतु जब वे आ[गे] चले सावित्री फिर पीछे ही पीछे है। वे एक औ[र] वर मांगने को कहते हैं। सावित्री इस बार अप[ने] पिता के लिये सौ पुत्र मांगती है और उसे वह प्रदा[न] हो जाता है। परंतु सावित्री अभी संतुष्ट कहां हु[ई] थी। यमदेव फिर बढ़े और वह भी उनके पीछे। तीसरा वर मांगने का उसे फिर मौका मिला। उस[का] कुछ साहस बढ़ गया था, उसने कहा "महाराज, अप[ने] पति सत्यवान् से मेरे सौ पुत्र हों।" यमदेव को य[ह] वर देना पड़ा और उन्होंने प्रसन्न होकर सत्यवा[न्] को पुनर्जीवित कर दिया। इस प्रकार सावित्री [ने] अपनी अडिग और स्थिर अभीप्सा के बल पर यम[-] देव पर विजय पायी, मृत्यु को जीत लिया।

श्रीअरविन्द ने अपने काव्य को उपशीर्षक भ[ी] दिया है—एक उपाख्यान तथा प्रतीक। उपाख्या[न] के रूप में तो इस कथा का एक अंग ही आधार है[,] परंतु वास्तविक काव्य में उतना भी बहुत कम दी[ख] पड़ता है। वहां तो पाठक जगत् की उषा, सृष्ट्यु[-] त्पत्ति के गुह्य कर्म के भावात्मक और ओजस्वी चित्रण देखता है, जगत् के क्रमिक विकास के—जड़[,] प्राण और मन के—सोपानों के रूप-स्वरूप अनुभ[व] करता है तथा सृष्टि की अधिष्ठात्री शक्ति भागवती माता के वैभव का साक्षात्कार करता है। अभी त[क] जो तीन पर्वों के चौबीस सर्ग प्रकाशित हुए हैं उनक[े] विषय प्रधान रूप में इस प्रकार ही हैं। परंतु यह पू[रे] काव्य का शायद दशांश ही है। पूरा काव्य संभवत[ः] जीवन-विकास की चरम सीमा, अमृतत्व तक क[ा] विशद चित्रण उपस्थित करता है।

इस सारे चित्रण में प्रतीक के रूप में भी, प्रत्यक्ष ही, सावित्री का चरित्र ही प्रधान पात्र तथा प्रेरणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। परन्तु सावित्री किस वैभव, शक्ति और क्रिया की द्योतक है? वह भागवती कृपा की दिव्य शक्ति है जो मानव को मर्त्यरूप से अमृतत्व तक ले जाने में यत्नशील है, जो मानव को दुःख और अज्ञान से निकालकर आनंद और प्रकाश की ओर ले जा रही है, जो, वास्तव में, विकासक्रममात्र को भागवत अभिव्यक्ति की चरम अवस्था के लिये वैश्व पुरुषार्थ द्वारा तैयार कर रही है। श्रीअरविन्द के अपने काव्यमय शब्दों में सावित्री–

A prodigal of her rich divinity,
Her self and all she was she had lent to men,
Hoping her greater being to implant
That heaven might native grow in mortal soil.

अर्थात् 'प्रगाढ़ देवत्व की खरचीली, सावित्री–उसने अपनी आत्मा तथा जो कुछ वह थी मनुष्यों को दे दिया जिससे वह अपने उच्चतर अस्तित्व को मर्त्यभूमि में स्थापित कर सके, जिससे स्वर्ग इहलोक के लिये स्वाभाविक हो जाय'–यही चरित्र और प्रेरणा सारे महाकाव्य की केंद्रीय गति है। यही इसका ओज और प्राण है और इसे ही काव्यरस का रसिक पढ़ते हुए निरंतर अनुभव करता है।

सावित्री के अतिरिक्त सत्यवान् सत्यपूर्ण अतिमानसिक चेतना है जिसे सावित्री वरती है और जिसे मृत्यु पर विजय पाकर वह पूर्णरूप से प्राप्त कर लेती है। अश्वपति, सावित्री के पिता भी काव्य में पात्र के रूप में प्रकट होते हैं। जहां सावित्री भविष्यत् और रूपांतर की प्रतिनिधि है वहां उसके पिता भूत और वर्तमान के प्रतिनिधि हैं, वे प्रतिष्ठित मान-मर्यादाओं के पोषक और रक्षक हैं।

इस काव्य के विषय को देखते हुए कोई इसे दार्शनिक काव्य भी कह सकता है। परंतु, वास्तव में, यह वर्णन अशुद्ध होगा। इसका उद्देश्य युक्तियों द्वारा किसी विश्वास को पैदा करना नहीं। यह केवल भाषा में ही छन्दमय नहीं। यह सर्वथा अनुभव की गंभीर भावमय गतियों और प्रेरणाओं को व्यक्त करता है यद्यपि अनुभव का क्षेत्र सामान्य ऐन्द्रियिक, बौद्धिक, तथा सामाजिक, राजनीतिक तक सीमित नहीं। इसका अनुभव-क्षेत्र विशाल है, जहां विविध स्तर हैं और एक एक स्तर प्रगाढ़ अनुभव का पूरा जगत् है। श्रीअरविन्द सावित्री में इन अनेक जगतों के ही अनुभव बौद्धिक रूप में ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव की पूर्ण सजीवता के साथ उपस्थित करते हैं। और पाठक पढ़ते हुए उन जगतों और क्षेत्रों को केवल बुद्धि से नहीं बल्कि अपने पूर्ण व्यक्तित्व से तन्मय होकर अनुभव करता है। और जितना वह गंभीर अन्तरात्मा की स्थिति से पढ़ेगा उतना ही वह इसका रस अधिक अनुभव कर पायगा। अवश्य ही 'सावित्री' पढ़ना 'भागवत जीवन (The Life Divine)' पढ़ने से भिन्न है।

'सावित्री' किसी भी अर्थ में दार्शनिक काव्य नहीं। यदि कोई श्रेणीगत नाम देना हो तो इसे आध्यात्मिक काव्य कहा जा सकता है, क्योंकि यह आध्यात्मिक अनुभवों की प्रेरणा और बल को व्यक्त करता है। विषय की विलक्षणता के कारण श्रीअरविन्द को अंग्रेजी छन्दशास्त्र में तथा भाषा-प्रयोग में कई तरह से नवरचना करनी पड़ी है जो अनेक विशेषज्ञों की दृष्टि में अंग्रेजी काव्यमात्र के लिये अपूर्व महत्त्व की वस्तु है।

श्रीकृष्णप्रेम अपने जन्म, शिक्षा और रुचि से अंग्रेजी काव्य के विशेषज्ञ हैं। भारतीय अध्यात्मवाद के अनन्य प्रेमी और भक्त भी हैं, वास्तव में हिन्दू वैष्णव संन्यासी हैं। वे, प्रत्यक्ष ही, 'सावित्री' जैसे महाकाव्य के मर्म को अनुभव करने में विशेष समर्थ हैं। एक लेख के अंत में, उपसंहार-रूप में, आप कहते हैं, "ऐसा काव्य या तो उस आदि समय में लिखा जा सकता था जब अभी चिंतनशील बुद्धि का प्रभाव नहीं जमा था या फिर तब जब उस विशेष विकास-युग का चक्र पूरा हो जाने के बाद जीवन उससे परे पुनः एकत्व में स्थापित होने जा रहा हो। इस बार, अवश्य ही, यह . . . बुद्धि के युग के अनुभव और शक्ति से समृद्धतर होगा। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा आशापूर्ण शगुन है कि इस निराशा और अंधकार के समय में सावित्री प्रकट हुई है। आओ, हम उषा का अभिनंदन करें।"

–इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्र-समालोचना

विश्व-दर्शन, भारत सरकार, देहली। सम्पादक—श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, वार्षिक चन्दा ६)

आजकल यह बिल्कुल असंभव हो गया है कि कोई बुद्धिमान् नागरिक अपने देश की स्थिति, बिना संपूर्ण जगत् की स्थिति जाने, समझ सके। अतः अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों की चर्चा के लिये विशेष पत्रों की आवश्यकता निर्विवाद है और 'विश्व-दर्शन' का प्रकट होना अवश्य ही शुभ और प्रसन्नतादायक है।

'विश्व-दर्शन' के हमने पांच अंक देखे हैं और उन्हें संपूर्णतया बहुत अच्छा पाया है। जहां अन्य देशों के विषय में सुन्दर चित्रादि सहित सामान्य ज्ञान की सामग्री है वहां गंभीर सामयिक प्रश्नों पर विवेचनात्मक लेख भी हैं। पत्र अत्यंत रोचक है तथा शिक्षाप्रद है। हमें विश्वास है पत्र व्यापक रूप में अंतर्राष्ट्रीय चिंतन प्रेरित करेगा तथा उसका अच्छा शिक्षण करेगा।

राजनीतिक प्रश्नों के साथ साथ हमें पत्र में सांस्कृतिक चर्चा के लिये भी अवकाश दिखायी दिया है। हमें आशा है कि इस पक्ष पर पर्याप्त बल रहेगा। जहां मानव मानव को संस्कृति के नाते जानने-पहचानने लगता है, वहां घनिष्ठता, जानकारी और सहानुभूति पैदा होती है। केवल राजनीतिक ढंग से जो संबंध बनते हैं वे अपेक्षाकृत उथले होते हैं।

आज देश देश के साथ संबंध पैदा करता है, परंतु लाभ-हानि के व्यापारिक-से हिसाब-किताब लगाकर। भारत ने अपने अच्छे समय में शायद और ही दृष्टि से काम लिया था। इसके अतिरिक्त भी भारतीय चेतना में 'मनुष्यमात्र' के लिये विशेष भावना है। इस परंपरा-सिद्ध तथा आध्यात्मिक अनुभव से परिपुष्ट चेतना के आधार पर ही हमारी आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय भावना विकसित होनी चाहिये। तभी उसमें मौलिकता होगी तथा निजी बल भी। इसके बिना, आशंका हो सकती है, हमारा अंतर्राष्ट्रीय चिंतन पश्चिम की कहीं फीकी नकल ही न हो जाय।

—इन्द्रसेन

लेखक-परिचय

श्रीमती शांति—विदुषी तथा प्रसिद्ध कवयित्री और लेखिका। 'भारत जननी' (इलाहाबाद) की संपादिका। आपकी 'जीवन के संग गति भी जागे!' कविता इस अंक में प्रकाशित है। हम कृतज्ञ हैं।

श्री प्रताप—श्रीअरविन्द साधनालय पन्ना के सदस्य। योग में लगनवाले। स्वभावतः समर्पणभाव की साधना पर आपका भाव केन्द्रित है।

श्री जगदीशचन्द्र—श्रीअरविन्द के अध्ययनशील साधक हैं। उपनिषदों की कथाओं तथा उनकी आध्यात्मिक प्रेरणाओं में विशेष रुचि रखते हैं। "'द' का उपदेश" उसी रुचि का फल है। उनसे और कथाओं की हम आशा रखते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोगी

श्रीअरविन्द की एक अत्यंत सरल तथा लोकप्रिय पुस्तक "The Ideal of the Karmayogin" का हिन्दी अनुवाद है। राष्ट्रनिर्माण के आधारभूत तथ्यों का विशद निरूपण है। आज इसका पथप्रदर्शन हमारे लिये विशेष उपयोगी है। दाम—कार्ड बोर्ड-सजिल्द २।।)

योगविचार

श्रीअरविन्द-योग पर एक अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह है। इसके कुछ एक लेख ये हैं—जीवन और योग, योग का उद्देश्य, मनोविज्ञान और योग, श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग, श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातंजल योग। पहला लेख श्रीअरविन्द का, योग-समन्वय में से, है। अन्य लेख आश्रम के अनुभवी साधकों के हैं। मूल्य २।।)

योगदीक्षा

श्री अनिलवरण राय का श्रीअरविन्द के साथ योगजिज्ञासा-विषयक पत्र-व्यवहार है। एक ओर से जिज्ञासा, शंका और प्रश्न हैं, दूसरी ओर से आश्वासन, समाधान और उत्तर। सारा वातावरण अपूर्व है।

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४८ की पूरी चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ५), सजिल्द ६।।)। सन् ४७ के केवल अगस्त और नवम्बर अंक। दाम प्रति अंक १।।)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

कर्मयोगी	२।।)	वेद-रहस्य (सजिल्द)	९)
योगदीक्षा	१)	वेद-रहस्य (अजिल्द)	८)
चार साधन	।।)	उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
योगविचार	२।।)	इस जगत् की पहेली	१।)
विचार और झांकियां	।।।)	जगन्नाथ का रथ	।।।)
दयानन्द	।।।)	श्रीअरविन्द के पत्र	।।)
नये वर्ष की प्रार्थनाएं	।)	धर्म और जातीयता	१।।)
दुर्गास्तोत्र	।)	गीता की भूमिका	१।।।)
अदिति माता	१)	मातृवाणी	२।)
गीताप्रबन्ध	६।।)	सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
माता	।।।)	वार्षिक प्रार्थनाएं	=)
योगप्रदीप	।।।)	श्रीअरविन्द और उनका योग	।।=)
योग के आधार	२।)	पूर्णयोग	१।।)

फोन: कार्यालय ८२८३ — **श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली** — फोन: घर २५१८

(स्थान—एस. एन. संडर्सन एण्ड को.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वर्ष ७ अङ्क २

वाचनालय,
गुरुकुल कांगड़ी.

अप्रल १९४९

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडीचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द

प्रकाशक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर
नई देहली

मूल्य
एक अङ्क १।)
वर्ष भर के चारों अङ्क ५)

विदेश का चन्दा
एक अङ्क ३।। शिलिंग   वार्षिक १२।। शिलिंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

छव्वीसवीं कला

२४ अप्रैल १९४९ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना

सार्वजनिक पुस्तकालयों को अदिति आधे दाम पर मिल सकती है।

'अदिति' की प्रेरणा

१. अदिति साधना की, क्रियात्मक जीवन-विकास की पत्रिका है। इसमें साधारणतया मौलिक अनुभवपूर्ण लेखों को ही स्थान दिया जाता है। सामान्य ज्ञान का प्रचार इसका उद्देश्य नहीं।

२. अदिति अपने पाठकों से साधकभाव की अपेक्षा करती है। इसके विषय को वे पढ़ें, विचारें और अपने अंदर रमने दें। इसके भाव और भावनाएं उनका सामान्य वातावरण बन जायं। तब जो स्फूर्त्ति और प्रेरणा वे अपने अंदर अनुभव करेंगे वही अदिति की सफलता की द्योतक होगी।

३. आत्म-जागरण ही व्यक्तित्व-निर्माण का मूल कारण है। सामान्य मनोवैज्ञानिक शैलियां व्यक्तित्व की मूल शक्ति को प्रचालित नहीं कर पातीं। उनका कार्य और क्षेत्र बहुत सीमित है। भारतीय योगविद्या ही जीवन की वास्तविक नव-सृष्टि कर सकती है, उसके अंदर भागवत इच्छाशक्ति की असीम और अजेय धारा प्रवाहित कर सकती है।

४. यह भारतीय योगविद्या आज श्रीअरविन्द के अनुभव में एक विशेष क्रियाशील रूप को प्राप्त हुई है। उसी रूप की प्रेरणा से अदिति का जन्म हुआ है और उसे ही अदिति साधक-पाठकों तक पहुंचाना चाहती है।

५. श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि एक अद्वितीय समन्वय है। आज हम अपने आपको पक्ष-विपक्षों और विविध वादों के जाल में जकड़े हुए अनुभव करते हैं। श्रीअरविन्द की समन्वयात्मक दृष्टि हमें अनुभव करा देती है कि इन वादों से संघर्ष करने की अपेक्षा इनसे जरा ऊपर उठकर इन्हें देखने से ये परस्परविरोधी नहीं परस्परपूरक दिखायी देने लगते हैं। यह चमत्कारक दृष्टि ही अदिति की प्रेरणा है, इसे ही अदिति प्रसारित करना चाहती है।

Le Directeur : Haradhan Bakshi
Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
214—49—750

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

अदिति, अप्रैल १९४९

राधा की प्रार्थना	श्री सुमित्रानंदन पंत	७३
मातृवचनामृत–		..
प्रार्थना व ध्यान		७५
बनाना और तोड़ना		७६
क्या सीखा ?	श्री वंशीधर	८०
श्रीअरविन्द-वाणी–		..
विशेष वचन–भौतिक चेतना		८१
ईशोपनिषद्–लोक और सूर्य		८२
श्रीअरविन्द के पत्र–कर्म, साधना और खेल		८६
श्रीअरविन्द का योग-समन्वय–कर्म का स्वामी		९०
आशा	श्री ब्रह्मानन्द	९५
श्रीकृष्ण का राजनीतिक उद्देश्य		९६
परम चुंबक	श्री गिरधरलाल	९८
शारीरिक शिक्षण		९९
सावित्री		१०२
विविध–		...
आलोक के पथ पर	श्री नलिनीकांत गुप्त	१०६
दार्शनिक शब्दावलि		१०८
भागवत संभूति	श्रीमती मार्वेन्ना डोन्नेल्ली	१०९
अहिंसा और अध्यात्मवाद	श्री हरिभाऊ उपाध्याय	११३
श्रीअरविन्द आश्रम	डा. इन्द्रसेन	११७
कविता-कुंज–		...
पद अभिलाष	श्री सुमित्रानंदन पंत	१२०
मानव की जय	श्री बालमुकुन्द मिश्र	१२१
दिवंगता	'पृथु'	१२१
जीवन तार	श्री योगेन्द्र	१२२
संपादकीय (विचार और अभीप्सा)–	डा. इन्द्रसेन	...
इस वर्ष की प्रार्थना		१२३
कर्म, खेल और साधना		१२५
Mother India		१२६
पुस्तक-परिचय		१२८
साहित्य-समीक्षा		१२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुने हुए फूल

अस्तित्व और पूर्ण अस्तित्व ही हमारे भीतर प्रकृति का लक्ष्य है: परंतु पूर्ण अस्तित्व का अभिप्राय है अपनी सत्ता का पूर्ण ज्ञान।

पर साथ ही, पूर्ण अस्तित्व का अभिप्राय है अपनी सत्ता की आभ्यंतर एवं सर्वांगीण शक्ति की प्राप्ति।

अंत में, पूर्ण अस्तित्व का तात्पर्य है सत्ता के पूर्ण आनंद की उपलब्धि।

और फिर, पूर्ण अस्तित्व का अर्थ है विश्वमय अस्तित्व। सत्तामात्र एक ही अखण्ड वस्तु है, अतएव पूर्ण अस्तित्व का अभिप्राय है सर्वमय अस्तित्व।

परंतु अपनी विश्वमयता की पूर्णता तथा स्वतंत्रता-सहित विश्वमय बनने के लिये, विश्वातीत स्थिति भी आवश्यक है। —श्रीअरविन्द

★

प्रगति के लिये तुम्हारी अभीप्सा प्रसन्नतापूर्ण होनी चाहिये। तभी तुम प्रगति का आनंद प्राप्त कर सकोगे।

★

तुम्हारा कर्म दैवी प्रसन्नता से परिपूर्ण होना चाहिये। उससे तुम्हारा मन शुद्ध हो जायगा और उस शुद्धि की नींव पर ही आध्यात्मिक चरितार्थता संगठित होगी।

★

यदि तुम्हारे अन्तर में अग्नि स्थिरता से जला करती है तो वह तुममें भगवान् के प्रति निष्ठा तथा भक्तियुक्त प्रेममय समर्पण दृढ़ कर देगी।

रूपांतर का यह अत्यंत सुनिश्चित पथ है।

★

पूर्णतया सच्चे बनो और तब कोई ऐसी विजय नहीं जो तुम्हें प्राप्त न हो।

★

अभीप्सा से अन्तःस्फुरणात्मक मन तक पहुंच जाओ; तब तुम जान जाओगे कि रूपांतर किसे कहते हैं।

★ ★ ★

पृथ्वी पर सच्ची पवित्रता का अर्थ यह है कि जैसे भगवान् विचार करते हैं वैसे विचारना, जैसे वे इच्छा करते हैं वैसे इच्छा करना, जैसे वे अनुभव करते हैं वैसे अनुभव करना।

—श्री माताजी

★

जो व्यक्ति ज्ञानप्राप्ति के लिये आतुर नहीं है उसके सामने मैं सत्य प्रकट नहीं करता। जो व्यक्ति अपना हृदय खोलकर रख देने को उत्सुक नहीं उसे भी मैं सहायता नहीं देता। जब मैं किसी को किसी विषय का एक पहलू बता देता हूं और फिर भी वह उससे शेष तीन पहलू नहीं समझ पाता तो, मैं उसके सामने अपनी शिक्षा फिर नहीं दुहराता।

—प्रसिद्ध चीनी महात्मा कनफ्यूशस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राधा की प्रार्थना

(श्री माताजी की सुपरिचित 'राधा की प्रार्थना' का रूपांतर)

प्रथम दृष्टि ही में जिसको पहचान गया अभ्यंतर
अपना स्वामी, जीवन का सर्वस्व, हृदय का ईश्वर;
हे मेरे प्रभु, तू मेरी उर श्रद्धांजलि स्वीकृत कर! –

तेरे ही हैं मेरे निखिल-विचार, भावना, चिन्तन,
मेरे उर आवेग, हृदय संकल्प, सकल संवेदन;
तेरे ही हैं मेरे जीवन के व्यापार प्रतिक्षण,
मेरे तन का एक एक अणु, शोणित का प्रति कण कण!

सर्व भांति, संपूर्ण रूप से तेरी हूं मैं निश्चय,
प्रिय, सर्वथा, अशेष रूप से तेरी ही निःसंशय;
तेरी इच्छा से परिचालित होगा मेरा जीवन,
केवल तेरी ही विधि का मैं, नाथ, करूंगी पालन!

जीवन मरण कि हर्ष शोक भेजे तू या सुखदुःख क्षण,
तेरे वरदानों का नित्य करेगा उर अभिवादन;
दिव्य देन होगी तेरी प्रत्येक देन मेरे हित,
वह सदैव, प्रभु, परम हर्ष की वाहक होगी निश्चित!

–सुमित्रानंदन पंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

अनागसो अदितये स्याम

मातृवचनामृत–

प्रार्थना व ध्यान

तेरा पथप्रदर्शन प्राप्त करने के लिये विश्वासपूर्ण आत्म-समर्पण कितना सफल होता है इसका अनुभव मैंने कल सायं किया। जब किसी बात को जानना आवश्यक होता है तो मनुष्य उसे जान लेता है और मन जितना तेरे प्रकाश के प्रति निष्क्रिय होगा उतना ही तेरा प्रकाश व्यक्त भी पर्याप्त और स्पष्ट रूप में होगा।

मैंने तुझे अपने अंदर बोलते हुए सुना और मेरी इच्छा हुई कि जो कुछ तूने कहा है उसे मैं लिख लूं जिससे यह सम्यक् सूत्र कहीं खो न जाय–क्योंकि जो तूने कहा था उसे मैं अब शायद ही दुहरा सकूं। पर मैंने अनुभव किया कि यह सुरक्षित रखने की चिंता भी तेरे प्रति अभी विश्वास की अपमानजनक कमी की द्योतक है, क्योंकि जो मुझे होना चाहिये वह तू मुझे बना सकता है और उस हद तक जहां तक मेरी वृत्ति तुझे मुझपर कार्य करने की अनुमति दे। तेरी सर्वशक्तिमत्ता निःसीम है। जानना यही है कि जो होना चाहिये वह हो रहा है और ऐसे पूर्ण रूप में जैसा कि संभव है। विशेषकर उन सबके लिये जो तुझे प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक स्थान में देखना जानते हैं। तब और भय नहीं, विकलता नहीं, दुःख नहीं; केवल पूर्ण सौम्यता, असीम विश्वास और संतोष, परम अचल शांति!

३ दिसम्बर, १९१२

–श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाना और तोड़ना

बालको, यह तो तुम जानते हो कि 'बनाने' और 'तोड़ने' के क्या अर्थ हैं।

एक सैनिक हाथ में शस्त्र लेकर तोड़ने अर्थात् किसी का नाश करने जाता है।

एक कारीगर नकशे बनाता है, नींवें खोदता है और फिर मनुष्यों के परिश्रमी हाथ किसान के लिये झोंपड़ा या राजा के लिये महल खड़ा कर देते हैं।

तोड़ने से बनाना अच्छा है पर कभी कभी तोड़ना भी आवश्यक हो जाता है।

बच्चो, तुम्हारे तो बाहु और हाथ खूब बलिष्ठ हैं; क्या तुम केवल निर्माण ही करोगे? कभी तोड़ोगे नहीं? और यदि कभी ऐसा किया तो किसको तोड़ोगे, किसका नाश करोगे?

दक्षिण भारत के हिन्दुओं की एक प्राचीन कथा है।

एक नवजात शिशु एक बार वृक्षों के एक झुरमुट में पड़ा पाया गया। तुम यह सोच सकते हो कि वह वहां पड़ा पड़ा मर गया होगा, क्योंकि उसकी मां उसे वहां छोड़ गई थी और उसको वापिस ले जाने का उसका कोई विचार नहीं था। जानते हो हुआ क्या? जिस वृक्ष के नीचे वह पड़ा था, वह ह्यूपैइल नाम का एक विशेष प्रकार का वृक्ष था। उसके सुन्दर फूलों से मधु के समान मीठी बूंदें टप टप उसके मुंह में गिरती रहीं और इस प्रकार उसका पालन होता रहा। अंत में एक स्त्री ने उसे देखा—वह पास के शिवमंदिर में पूजा करने के निमित्त आई थी। उसका हृदय बच्चे को देखकर द्रवित हो उठा। उसे गोद में लेकर वह घर आ गई। क्योंकि उसके अपना कोई बाल-बच्चा नहीं था, उसके पति ने प्रसन्न हृदय से बच्चे का स्वागत किया।

दोनों उस कुंज में पड़े पाये गये अज्ञात कुलशील बालक का पालन-पोषण करने लगे। प्रारंभ से ही उनके पड़ोसी उनपर व्यंग्य करने लगे थे कि न जाने किस जाति के बच्चे को ये लोग उठा लाये हैं। इस डर से कि उनके पड़ोसी इस बच्चे की खातिर उनसे नाराज न हो जायं उन्होंने उसे एक पालने में डाल दिया और पालने को घुड़साल की छत से लटका दिया। वहां परिया जाति का एक कुटुम्ब रहता था। बच्चे की रक्षा का भार उसको सौंप दिया गया।

कुछ वर्ष बाद लड़का बड़ा हुआ। आयु के साथ साथ उसकी मानसिक शक्तियों की भी वृद्धि हुई। अब उसने अपने पालनकर्त्ताओं से विदा ली और अकेला यात्रा के लिये निकल पड़ा। कुछ समय तक चल चुकने के बाद वह एक ताड़ के वृक्ष के नीचे सुस्ताने के लिये लेट गया। पेड़ ने उसकी धूप से रक्षा की। ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह पेड़ भी उसे उस स्त्री के समान ही प्यार करता था जो उसे वृक्षों के झुरमुट में से उठा लाई थी। यह लगता तो असंभव है कि ताड़ का पेड़ जिसका तना इतना लंबा होता है किसी को अपने पत्तों से सारा दिन छाया दे सके, पर कहानी यही कहती है कि सारा समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी छाया निश्चल रही और जब तक वह लड़का सोता रहा उसे ठंडक पहुंचाती रही।

★

यह सब क्यों और कैसे हुआ?

जन्म से ही बच्चे की इस सुरक्षा का क्या कारण था? और ताड़ के पेड़ ने ही धूप से उसका बचाव क्यों किया? क्योंकि उसका जीवन मूल्यवान् था। उस बच्चे ने एक दिन तिरुवल्लूवर नामक प्रसिद्ध तामिल कवि–'कुरल' की बारह कविताओं का रचयिता–बनना था।

उन वस्तुओं और उन व्यक्तियों की, जो संसार के लिये कुछ संदेश लाते हैं, रक्षा होनी ही चाहिये।

हमको बलिष्ठ बाहु पाकर प्रसन्न होना चाहिये क्योंकि इनकी शक्ति से हम रोग और मृत्यु से उन सबकी रक्षा कर सकते हैं जो सत्य, शिव और सुन्दर हैं।

इनकी रक्षा करने के लिये ही हमें कभी कभी लड़ना तथा नाश करना चाहिये।

★

तिरुवल्लूवर लोगों को अपने अमृतवचनों का आस्वादन ही नहीं कराता था वरन् वह लड़ना और मारना भी जानता था। उसने कावेरीपकम गांव के दैत्य को मारा था।

कावेरीपकम में एक किसान रहता था। उसके पास एक हजार पशु और गेहूं के विस्तृत खेत थे। पर इनके आस-पास एक दैत्य का बड़ा डर रहता था। खड़ी फसल को वह जड़ समेत उखाड़ देता; पशुओं और मनुष्यों की हत्या कर देता। कावेरीपकम के निवासियों के हृदय इससे बहुत विक्षुब्ध हो उठे थे।

उस धनी किसान ने घोषणा की–"जो वीर हमें इस दैत्य के अत्याचार से मुक्त कर देगा उसे मैं एक मकान, खेत तथा बहुत सा धन दूंगा।"

बहुत समय तक कोई वीर आगे नहीं बढ़ा। किसान तब पर्वत पर रहनेवाले मुनियों के पास गया और राक्षस के मारनेवाले का पता पूछा।

पर्वतवासी मुनि बोले–"तिरुवल्लूवर के पास जाओ।"

इस प्रकार वह किसान उस युवक कवि के पास आया और उससे सहायता के लिये प्रार्थना की। तिरुवल्लूवर ने कुछ राख अपनी हथेली पर ली और उसपर पांच पवित्र अक्षर लिखे। फिर मंत्र पढ़कर वह राख ऊपर हवा में फेंक दी। उन अक्षरों और मंत्रों का उस दैत्य पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह मर गया। कावेरीपकम के लोग इससे बहुत प्रसन्न हुए।

कुछ वर्ष पीछे की बात है। एक बार तिरुवल्लूवर मदुरा शहर में गया। बहुत से लोग उसकी सुन्दर कविता को सुनने के लिये एकत्र हुए। वृक्षों के कुंज में पाये गये बच्चे द्वारा रचित पदों को सुनकर वे मुग्ध हो गये–

"भला बनने से बढ़कर और कोई वस्तु इस संसार में मिलनी अत्यंत कठिन है।"

वहां पास ही खिले कमलोंवाले एक तालाब के किनारे बैंच पर विद्वान् कवियों की एक टोली बैठी थी। ये लोग एक नीच जातिवाले कवि को बैंच पर अपने साथ स्थान नहीं देना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहते थे। वे प्रश्न पर प्रश्न कर उसे भ्रम में डाल उसकी भूलें पकड़ने की कोशिश कर रहे थे। अंत में उन्होंने तिरुवल्लूवर से कहा–"ओ परिया, अपनी कविता की पुस्तक को तू इस बैंच पर रख दे। यदि यह सचमुच ही सुन्दर साहित्यिक कृति हुई तो यह बैंच 'कुरल' के अतिरिक्त और किसी को अपने ऊपर स्थान नहीं देगी।"

तिरुवल्लूवर ने अपनी पुस्तक पानी के समीपवाली उस बैंच पर रख दी। कहानी आगे कहती है कि पुस्तक का उसपर रखा जाना था कि वह बैंच इतनी छोटी हो गई कि उस-पर केवल पुस्तक को ही स्थान मिल सका और मदुरा के वे अभिमानी और ईर्षालु कवि दूसरी ओर तालाब के जल में गिर पड़े। हां, वे उनचास जलनखोर तालाब में कमलों के मध्य में जा पड़े। लज्जित मुख, भीगे शरीर वे बाहर निकले। उस दिन से तामिलभाषाभाषी 'कुरल' से बड़ा प्रेम करने लगे हैं।

★

बच्चो, कावेरीपकम के राक्षस का मारा जाना क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगा? मदुरा के वे उनचास शरारती कवि जो पानी में गिर पड़े थे क्या इससे तुमको दुःख हुआ है?

इस संसार में भली वस्तुएं भी हैं और बुरी भी। हमें भली से तो प्रेम करना चाहिये, उनकी रक्षा करनी चाहिये और बुरी से लड़ना तथा उनका नाश करना चाहिये।

इस भले कवि की तरह सभी बुद्धिमान् लोग ऐसा करना जानते हैं और कर भी सकते हैं। जितने अधिक बुद्धिमान् वे होंगे उतना ही इस कार्य को वे अच्छी तरह कर सकेंगे। छोटे बच्चे, जिनकी अभी बुद्धि उतनी विकसित नहीं हुई और जो उतना बल भी नहीं रखते, वे उनकी नकल करके अपने साहस का प्रयोग कर सकते हैं।

तिरुवल्लूवर की बहन आवे ने अपने भाई की इसी प्रकार की नकल की थी।

एक दिन वह उराइयूर गांव की एक छोटी गली में जमीन पर बैठी थी। वहां से तीन व्यक्ति घूमते हुए निकले। एक राजा था और दो कवि। जब राजा आया तो उसने एक घुटना टेक उसके प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित किया। अब कवि गुजरा। इसके सम्मानार्थ उसने अपना दूसरा घुटना झुकाया। पर जब दूसरा कवि उसके समीप पहुंचा तो उसने अपनी दोनों टांगें फैलाकर रास्ता ही रोक लिया।

उसके बर्ताव का यह ढंग अनुचित सा तो लगा। पर आवे अपने उत्तरदायित्व को भली भांति समझती थी। वास्तव में दूसरा कवि एक ढोंगी मनुष्य था। उसमें प्रतिभा तो कुछ थी नहीं, वह कोरा प्रदर्शन ही करता था।

कवि को इससे बड़ी खीझ हुई और उसने आवे से उसके इस बर्ताव का कारण पूछा।

"एक ऐसे पद की रचना करो जिसमें 'मन' शब्द तीन बार आवे।" आवे ने उत्तर दिया।

यह देखकर कि वहां बहुत से लोग इकट्ठे हो गये हैं, कवि ने अपनी विद्वत्ता दिखाने का अच्छा अवसर पाया। उसने बहुतेरा प्रयत्न किया पर दो बार से अधिक वह किसी प्रकार भी उस शब्द को अपनी कविता में न ला सका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आबे ने व्यंग्य किया–"उस तीसरे शब्द का क्या हुआ जिसने तुमको यहीं रोक दिया और जिसे तुम्हारी कविता में भी स्थान नहीं मिला?" इस प्रकार उसने उस ढोंगी को लज्जित किया।

क्या तुम यह सोचते हो कि आबे ने अपने इस अशिष्ट व्यवहार में प्रसन्नता अनुभव की थी? नहीं, तनिक भी नहीं। पर ढोंग उसको सम्मानयोग्य नहीं प्रतीत हुआ। वह इस बात की विवेचना कर सकती थी कि किसका आदर होना चाहिये और किसका नहीं। वह कहती थी–"श्रेष्ठ पुरुष, उस हंस की तरह जो सदा खिले-कमलयुक्त झील की ही ओर जाता है–सदा भली वस्तु की ओर झुकता है। पर दुष्टप्रकृति लोग सदा बुराई की ही खोज करते हैं–उस गिद्ध की तरह जो दुर्गंध द्वारा आकर्षित होकर सड़े गले जानवरों को जा पकड़ता है।"

संसार के सब देशों के बालको, वे कौन सी बुरी वस्तुएं हैं जिनके विरुद्ध तुम्हें लड़ाई करनी सीखनी चाहिये? किन वस्तुओं का तुम्हें नाश करना चाहिये या उनपर अधिकार स्थापित कर लेना चाहिये? उन सब वस्तुओं पर जो मनुष्य के जीवन या उसकी उन्नति के लिये हानिकारक हैं, जो उसे अधोगति या दुःख की ओर ले जाती हैं।

वेगवती नदियों के ऊपर पुल और बाढ़ को रोकने के लिये बांध बनाकर मनुष्य को पानी के दुर्दाम वेग को अधीन करना चाहिये।

उसे ऐसे मजबूत जहाज बनाने चाहियें जो हवा और लहरों की प्रचंडता का सामना कर सकें।

दलदलवाली भूमि के घातक कीचड़-पानी को निकालना या सुखा देना चाहिये और इस प्रकार उसकी सील में जो ज्वररूपी दैत्य रहता है उसका नाश कर देना चाहिये।

जंगली जानवरों से, हर स्थान पर या जहां उनका अधिक डर हो, लड़ाई ठानकर उनका नाश कर देना चाहिये।

ऐसे होशियार डाक्टर पैदा होने चाहियें जो सब जगह से दुःख-दर्द और बीमारी को भगा दें।

मनुष्य को भूख के सबसे बड़े कारण गरीबी को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये। यह भूख ही उन माताओं को रुलाती है जिनके बच्चों को रोटी तक नसीब नहीं होती।

सबके जीवन को दुःखमय बनानेवाली दुष्टता, ईर्षा और अन्याय का उसे नाश करना चाहिये।

★

इसके विपरीत वे कौनसी वस्तुएं है जिनके साथ मनुष्य को प्रेम करना चाहिये, उनकी रक्षा करनी चाहिये।

इस संसार में आनेवाले प्रत्येक बच्चे के अमूल्य जीवन की रक्षा होनी चाहिये।

उसे लाभकारी वृक्षों की रक्षा करनी चाहिये। ऐसे फूल और पौदे लगाने चाहियें जो उसे आहार और आनंद प्रदान करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसको ऐसे मकान बनाने चाहियें जो मजबूत, स्वास्थ्यप्रद और खुले हों।

पवित्र देवालयों, मूर्त्तियों, चित्रों, बर्त्तनों, कसीदे के कामों, सुमधुर गीतों और ललित कविताओं की बड़ी सावधानी से रक्षा की जानी चाहिये। संक्षेप में उन सब चीजों की रक्षा की जानी चाहिये जो सुन्दर होने के कारण मनुष्य के आनंद की वृद्धि करती हैं।

भारतवर्ष और दूसरे देशों के बच्चो, सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनुष्य को उन हृदयों की रक्षा करनी चाहिये जो प्रेम करते हैं, उस बुद्धि की रक्षा करनी चाहिये जो सत्य चिंतन कर सकती है, उन हाथों की रक्षा करनी चाहिये जो सच्चे और न्याययुक्त काम करते हैं।

(श्री माताजी की पुस्तक Belles Histoires से श्री लीलावती द्वारा अनूदित)

क्या सीखा?

मैंने जीवन में क्या सीखा ?
मैं रोता आया था–मैंने रो रो कर है हंसना सीखा ॥

★

सब कहते यह जग झूठा है, झूठी इस की सब बातें हैं।
जग के झूठे इस प्रपञ्च से, मैंने सच्चा होना सीखा ॥

★

जीवन का तब लाभ भला क्या–जब जीवन का अन्त मरण है?
पर मैंने इस मरने से ही–मर मर कर है जीना सीखा ॥

★

जीवन झगड़ा राग-द्वेष का, अहङ्कार का, स्वार्थवृत्ति का।
मैंने इसे प्रेम करने में, अपना सब कुछ खोना सीखा ॥

★

यह जग सपनों की माया है, कैसा इसका आकर्षण है।
सपनों के रङ्गों से मैंने, इस जीवन को रंगना सीखा ॥

–वंशीधर विद्यालङ्कार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष वचन

भौतिक चेतना

हमारा उद्देश्य है अतिमानस-सिद्धि प्राप्त करना और उस लक्ष्य के लिये या उस लक्ष्य को सामने रखकर प्रत्येक स्तर की अवस्था के अनुसार जो कुछ करना आवश्यक है वही हमें करना होगा। वर्तमान समय में इस बात की आवश्यकता है कि भौतिक चेतना को तैयार किया जाय और उसके लिये यह आवश्यक है कि शरीर और निम्नतर प्राण के भागों में पूर्ण समता और शांति तथा व्यक्तिगत मांग या वासना से रहित पूर्ण आत्मोत्सर्ग का भाव स्थापित किया जाय। अन्य सब चीजें अपने अपने उचित समय पर आ सकती हैं। अभी बस आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक चेतना के अंदर हृत्पुरुष का उन्मेष हो और वहां निरंतर भागवत उपस्थिति और पथप्रदर्शन का बोध वर्तमान रहे।

★ ★

मूलाधार खास भौतिक चेतना का केंद्र है और उसके नीचे शरीर में जो कुछ है वह एकदम भौतिक–जड़ है, जो जैसे जैसे नीचे की ओर जाता है वैसे वैसे अधिकाधिक अवचेतन होता जाता है, परंतु अवचेतना का असली स्थान शरीर के नीचे है, जैसे कि उच्चतर चेतना (अतिचेतना) का असली स्थान शरीर से ऊपर है। परंतु साथ ही साथ अवचेतना का अनुभव कहीं भी प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा अनुभव किया जा सकता है मानो वह एक ऐसी चीज हो जो चेतना की क्रिया के नीचे हो और, एक तरह से, नीचे से उसे धारण किये हो अथवा चेतना को अपनी ओर नीचे खींच रही हो। अवचेतना ही सभी अभ्यासगत क्रियाओं का, विशेषकर भौतिक (शारीरिक) और निम्नतर प्राण की क्रियाओं का मुख्य आधार है। जब कोई चीज प्राण या शरीर के स्तर से बाहर निकाल दी जाती है तब वह प्रायः बराबर ही अवचेतना के अंदर चली जाती है और वहां मानो बीजरूप में बनी रहती है और जब संभव होता है तब वह फिर ऊपर आ जाती है। यही कारण है कि अभ्यासगत प्राण की क्रियाओं से छुटकारा पाना या चरित्र को परिवर्तित करना इतना कठिन होता है। क्योंकि, इस मूल स्रोत से सहारा पाकर या फिर से शक्ति पाकर, इस गर्भाशय में सुरक्षित रहकर तुम्हारी प्राणमय वृत्तियां, उनका निग्रह या दमन करने पर भी, फिर से ऊपर उठ आती हैं और बार बार प्रकट होती हैं। अवचेतना की क्रिया अयौक्तिक, गतानुगतिक और बार बार होनेवाली है। वह युक्ति-तर्क या मानसिक संकल्प की कोई बात नहीं सुनती। केवल भगवान् की उच्चतर ज्योति और शक्ति को इसके अंदर उतारकर ही इसे परिवर्तित किया जा सकता है।

—योग के आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईशोपनिषद् . . चतुर्थ विचारधारा (क)
(९) . . लोक और सूर्य

(मंत्र १५, १६)*

मृत्यु के उपरांत के लोक

तीसरे मंत्र में उपनिषद् ने अंध तम से आवृत सूर्यहीन ('असूर्य') लोकों की चर्चा की है। अपनी तीसरी विचारधारा में इसने दो बार आत्मा के अंध तम–अंधं तमः–में प्रविष्ट होने की बात भी कही है, परंतु वहां चेतना की किसी अवस्था की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है, न कि किसी लोक की ओर। तथापि, इन दोनों कथनों में फलितार्थतः कुछ अंतर नहीं पड़ता; कारण वेदांत की धारणा के अनुसार लोक इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि यह सचेतन सत्ता की एक ऐसी अवस्था है जो कि अभिव्यक्तीकृत सत्ता के घटक सात तत्त्वों की मर्यादाओं में संगठित की गई है। शरीर में रहते हुए हम चेतना की जिस अवस्था तक पहुंचे होंगे, मरने पर–मानसिक सत्ता के शरीर से निष्क्रान्त होने पर–वही हमारी चेतना होगी और उस द्वारा संगठित की गई ही हमारी परिस्थितियां होंगी। क्योंकि शरीर से बाहर हुआ वैयक्तिक आत्मा या तो अपनी सत्ता के घटक सामान्य तत्त्वों में विलीन हो जायगा, ब्रह्म में अपने आपको निमज्जित कर देगा या चेतना के एक ऐसे संगठन में जो कि भौतिक से भिन्न है कायम रहेगा, विश्व के साथ ऐसे संबंधों में जो कि शरीरगत जीवन के उपयुक्त संबंधों से भिन्न हैं कायम रहेगा। चेतना की यह अवस्था तथा इसके साथ के संबंध ही अन्य लोक, परलोक हैं, मृत्यु के उपरांत के लोक हैं।

तीन अवस्थाएं

उपनिषद् आत्मा की, अभिव्यक्तीकृत विश्व के साथ इसके संबंध में, तीन अवस्थाएं स्वीकार करता है। (१) शरीर में जन्म ग्रहण करने द्वारा भौतिक जीवन की अवस्था, (२) मृत्यु के उपरांत वैयक्तिक आत्मा का अन्य अवस्थाओं में बने रहना, (३) तथा अमर अस्तित्व, जो कि यद्यपि जन्म और मृत्यु से–अभिव्यक्ति से–परे है तो भी दिव्य निवासी के रूप में साकारता ग्रहण कर सकता है और प्रकृति के ईश के रूप में इसका (प्रकृति का) आलिंगन

---

*१५. चमकीले स्वर्णमय आवरण से सत्य का मुख ढका हुआ है; हे पोषक! उस (ढकने) को तू हटा, सत्य-धर्म के लिये, दृष्टि के लिये।

१६. हे पोषक! एक ऋषि, एक द्रष्टः! हे नियामक! हे प्रकाशमय सूर्य! हे प्राणियों के पिता के बल! अपनी किरणों की व्यूहरचना कर, और फिर उन्हें सम्यक्तया एकत्रित कर, वह तेज जो कि तेरा सबसे अधिक कल्याणमय रूप है उसे मैं तुझमें देखता हूं। वहां, वहां जो पुरुष है वह मैं हूं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकता है। इनमेंसे पहली दो अवस्थाएं भूत-भाव से संबंध रखती हैं, भूतभाव की हैं, तीसरी अमरता आत्मा में, असंभूति में ठहरती है और भूतभाव का उपभोग करती है।

यद्यपि पार्थिव शरीर में पुनर्जन्म लेने की बात उपनिषद् में स्पष्टतया उल्लिखित नहीं हुई है तो भी अपनी भाषा द्वारा तथा विचार द्वारा इस विश्वास का सूचन–विशेषतया १७वें मंत्र में–यह करती है। पुनर्जन्म में इस विश्वास के आधार पर मनुष्य मृत्यु के उपरांत तीन पृथक् उद्देश्यों को लक्ष्य कर सकता है–पृथ्वी पर श्रेष्ठतर या अधिक भाग्यशाली (एक या अनेक) जन्म, प्रकाश और सुख के एक पराभौतिक जगत् में आनंद का शाश्वत उपभोग या तीसरे उस परात्परता में पहुंच जाना जो कि समस्त विश्वमय अस्तित्व से परावृत्त है, अपनी ही सत्य सत्ता के तौर पर परम में निमग्न हो जाना, परंतु इसकी असीम चेतना के वास्तविक या संभावित वस्तुओं के साथ कोई संबंध न रखते हुए।

पृथ्वी पर पुनर्जन्म

पृथ्वी पर श्रेष्ठतर जन्म या जन्मों को प्राप्त करना यह वह अंतिम लक्ष्य या पराप्राप्ति नहीं है जो कि, उपनिषद् के विचार के अनुसार आत्मा के लिये विहित है। परंतु यह एक महत्त्वपूर्ण मध्यवर्ती लक्ष्य अवश्य है तब तक जब तक कि आत्मा वृद्धि की, आत्मविस्तारण की अवस्था में है और मुक्ति को प्राप्त नहीं हुआ है। जन्म और मृत्यु के लिये बाधितता इस बात का चिह्न है कि मानसिक सत्ता ने अभी अपने आपको अपनी यथार्थ अतिमानस सत्ता तथा आत्मा के साथ एक नहीं कर दिया है, किंतु वह 'अविद्या में और इसके अंदर घिरी हुई रहकर'† निवास कर रही है। इस एकता को प्राप्त कर लेने के लिये मनुष्य का पृथ्वी पर जीवन-धारण इसका नियत किया हुआ साधन है। मुक्ति प्राप्त कर लेने पर आत्मा छुटकारा पा जाता है, पर फिर भी वह समस्त गति में भाग ले सकता है और जन्म लेने को पृथ्वी पर लौट सकता है, किंतु यह वह अब अपने निजी प्रयोजन के लिये नहीं किंतु दूसरों के निमित्त तथा अपने में अपनी दिव्य आत्मा के, अपनी गति के ईश के, संकल्प के अनुसार करता है।

स्वर्ग और नरक

परलोक के किसी स्वर्ग में आनन्द का उपभोग प्राप्त करना भी पराप्राप्ति या अंतिम लक्ष्य नहीं है। पर वैदान्तिक विचार के अनुसार पुनर्जन्म को इस प्रकार नहीं माना गया है कि मृत्यु के उपरांत तत्काल ही आत्मा को पृथ्वी पर नवीन शरीर में प्रवेश करना होता हो: मनुष्य के अंदर की मनोमय सत्ता उसकी प्राणमय और अन्नमय सत्ता के साथ इतनी कठोरतया बंधी हुई नहीं है–इसके विपरीत, प्राणमय और भौतिक शरीर तो मृत्यु के उपरांत साधारणतया इकट्ठे ही लय को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये जीवात्मा के ऐहिक पार्थिव सत्ता की ओर फिर आकर्षित होने से पहले एक अन्तराल अवश्य होना चाहिये जिसमें वह, पृथ्वी पर एक नवीन प्राणमय तथा भौतिक सत्ता को निर्माण करने के योग्य होने के लिये, अपने पार्थिव अनुभवों को सात्म्य कर सके। इस अन्तराल में उसे परे की स्थितियों में या परलोकों में निवास करना होता है और ये लोक उसकी भावी उन्नति के लिये अनुकूल भी हो सकते हैं और प्रतिकूल भी। वे अनुकूल होते हैं उस अनुपात में जिस अनुपात में परम सत्य (जिसका सूर्य प्रतीक है) का प्रकाश उनमें पहुंचता है, परंतु मध्यवर्ती अज्ञान या अंधकार की अवस्थाएं

---

† 'अविद्यायां अन्तरे वर्तमानाः' कठोपनिषद् १-२, ५। मुण्डक १-२, ८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा के लिये उसकी प्रगति में अहितकर (प्रतिकूल) होती हैं। जैसा कि तीसरे मंत्र में घोषित किया गया है, इन (अंधकार के लोकों) में वे प्रविष्ट होते हैं जो अपने आपको प्रकाश से बंद रखने द्वारा या अपने विकास के स्वाभाविक मार्ग को विकृत करने द्वारा अपने आपको क्षतिग्रस्त करते, 'आत्महनन' करते हैं। वैदान्तिक स्वर्ग हैं प्रकाश की, आत्मा के विस्तार की अवस्थाएं; अंधकार, आत्म-तमोग्रस्तता तथा आत्म-विकृति नरकों का स्वरूप हैं जिनका उसने त्याग करना है।

इसलिये, आत्मा के वैयक्तिक विकास के संबंध में, परलोकों का जीवन भी, पृथ्वी पर के जीवन के समान ही, एक साधन है न कि स्वयं अपने आपमें लक्ष्य। मुक्ति प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी आत्मा इन्हें अधिकृत कर सकता है, जैसे कि वह भौतिक जन्म को अधिकृत करता है; तब वह इन्हें (परलोकों को) उस दिव्य अभिव्यक्तीकरण के लिये एक साधन के रूप में स्वीकार करता है जिस (अभिव्यक्तीकरण) में वे उसकी पूर्णता की एक अवस्था बनते हैं, इनमेंसे प्रत्येक सचेतन सत्ता की संगठित अवस्थाओं की एक शृंखला के भागों में से एक ऐसा भाग होता है जो कि शेष अन्यों से जुड़ा हुआ तथा उन्हें सहारा देनेवाला होता है।

परात्पर अवस्था

परात्परता अवश्य आत्म-विकास का लक्ष्य है, पर यह उसके अधिकृत करने को बहिष्कृत नहीं करती जिसका कि परात्पर पर पहुंचने में अतिक्रमण किया गया है, जिसके कि परे पहुंचा गया है। इसकी आवश्यकता नहीं है और न ही यह करना चाहिये कि आत्मा परात्परता-प्राप्ति को इतना खींचे कि वह अपने अंत करने को ही लक्ष्य बनावे। निर्वाण अहं-सीमाओं का अंत करना है, परंतु अभिव्यक्ति की सब संभावनाओं का अंत करना नहीं, क्योंकि यह (निर्वाण) शरीर में रहते हुए भी अधिकृत किया जा सकता है।

अन्यव्यावर्तक (अन्य सब कुछ को बहिष्कृत करनेवाली) मुक्ति की इच्छा वह अंतिम इच्छा है जिसका आत्मा ने अपने विस्तृत होते हुए ज्ञान में त्याग करना है। यह भ्रांति कि यह (आत्मा) जन्म द्वारा बद्ध होता है एक ऐसी अंतिम भ्रांति है जिसे कि उसने निर्मूल करना है।

सूर्य और अग्नि

लोकों की इस कल्पना के आधार पर तथा इन विभिन्न आत्म-स्थितियों के एक दूसरे के साथ संबंध के आधार पर उपनिषद् अब ज्ञान और कर्म की ऐसी दो पद्धतियों को बतलाने में प्रवृत्त होती है जो कि (पद्धतियां) परम दर्शन तथा दिव्य आनंद को हमें प्राप्त करा देती हैं। यह कार्य किया गया है सूर्य और अग्नि की प्रार्थना के रूप में—जो दोनों वैदिक देवता हैं, सूर्य है परम सत्य तथा उसके प्रकाश का प्रतिनिधि, अग्नि है उस दिव्य संकल्प का प्रतिनिधि जो कि मानवीय कर्म को उठा रहा पवित्र कर रहा तथा पूर्ण कर रहा है।

लोकों का क्रम

सूर्य के स्थान तथा व्यापार को पूरी तरह समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम सात लोकों की तथा चेतना के जिन तत्त्वों के वे निदर्शक हैं उन तत्त्वों की वैदिक कल्पना को जरा अधिक गहराई में जाकर देखें।

समस्त सचेतन सत्ता अपने आपमें एक और अविभाज्य है, परंतु अभिव्यक्ति में वह एक जटिल छन्द सामंजस्यों की एक निःश्रेणी, अवस्थाओं या गतियों का एक कोटिक्रम बन जाती है। कारण, जिसे हम अवस्था कहते हैं वह एक जटिल गति का केवल संगठनमात्र है। यह कोटिक्रम बना हुआ है एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवरोहण करती हुई या निवर्तमान तथा एक आरोहण करती हुई या विवर्तमान गति द्वारा, जिसके आत्मा तथा जड़तत्त्व क्रमशः उच्चतम तथा निम्नतम क्रम या सोपान हैं।

आत्मा है सत् अर्थात् शुद्ध अस्तित्व, आत्म-चैतन्य में शुद्ध (चित्), आत्म-सुख में शुद्ध (आनंद)। इसलिये आत्मा को समस्त सचेतन सत्ता का एक त्रयात्मक आधार माना जा सकता है। ये तीन रूप हैं, परंतु वस्तुतः ये एक हैं। क्योंकि समस्त शुद्ध अस्तित्व अपने सारतत्त्व में शुद्ध आत्म-चैतन्य है और समस्त शुद्ध आत्मचैतन्य अपने सार-तत्त्व में आत्मानंद है। पर साथ ही यह भी है कि हमारी चेतना, विचार के द्वारा तथा शब्द के द्वारा, इन तीनों को पृथक् करने की क्षमता रखती है, बल्कि यह अपने लिये, अपनी विभक्त या सीमित गतियों में, उनके प्रतीयमान विरोधों तक की भावना को भी उत्पन्न करने की क्षमता रखती है।

सचेतन सत्ता के स्वरूप को जब हम सर्वांगीण अन्तर्दृष्टि डालकर देखते हैं तो हम पाते हैं कि यह निःसंदेह तत्त्वतः एक है, पर यह भी पाते हैं कि यह आत्म-अनुभूति में एक असीम अन्तर्गर्भित जटिलता की तथा बहुविधता की भी क्षमता रखती है। इस अन्तर्गर्भित जटिलता तथा बहुविधता को उस एक के अंदर क्रियान्वित करना ही वह है जिसे हम अपने दृष्टिबिंदु से अभिव्यक्ति या सृष्टि या संभूति (भुवन, भाव) कहते हैं। इसके बिना कोई लोक-अस्तित्व संभव नहीं।

इस संभूति का कर्ता है सदा सत्ता का आत्म-चैतन्य। वह बल जिसके द्वारा आत्मचैतन्य अपने में से अपनी अन्तर्गर्भित जटिलता को बाहिर निकालता है, आविर्भूत करता है, 'तपस्' या शक्ति कहा गया है, और, चूंकि यह आत्म-सचेतन है इसलिये, यह स्पष्टतः संकल्प के स्वरूपवाला है। परंतु वैसा संकल्प नहीं जैसा कि हम समझते हैं अर्थात् वह जो कि अपने लक्ष्य के लिये कुछ बाह्य सी वस्तु है, जो अपने कार्यों से भिन्न है, जो ऐसी सामग्री पर श्रमपूर्वक कार्य कर रहा है जो अपने से बाहर है, परंतु वह संकल्प जो सत्ता में स्वयं निहित है, संभूति में स्वतःनिष्ठ है, सत्ता की गति के साथ एक है—वह आत्मसचेतन संकल्प जो अपने में जो कुछ देखता है और जानता है वह स्वयं हो जाता है, बन जाता है, संकल्प जो कि अपने स्वकीय कार्य की शक्ति के तौर पर प्रकट हुआ है और अपने आपको अपने कार्य के परिणाम में साकार करता है। इसी संकल्प, तपस् या चित्-शक्ति द्वारा लोक रचे गये हैं।

(अपूर्ण)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द के पत्र–

कर्म, साधना और खेल

कर्म में योग की आवश्यकता

साधना का लक्ष्य है चेतना का भगवान् की ओर उन्मीलन और प्रकृति का परिवर्तन। ध्यान वा मनन इसका एक साधन है, पर यह केवल एक साधन है; भक्ति एक और साधन है; कर्म एक और। प्राचीन योगी सिद्धि के प्रथम साधन के रूप में चित्त-शुद्धि का उपदेश करते थे और इससे वे साधु की पवित्रता एवं मुनि की शांति प्राप्त करते थे पर प्रकृति के जिस रूपांतर की हम बात कहते हैं वह इससे अधिक कुछ है, और यह रूपांतर केवल मनन-निदिध्यासन से संपन्न नहीं होता; कर्म आवश्यक हैं, कर्म में योग (कर्मयोग) अनिवार्य है।

१३.१०.१९३४

पूर्णयोग में कर्मों का स्थान

पुराने योगों की सचाई पर मैंने कभी विवाद नहीं उठाया–मुझे स्वयं वैष्णव भक्ति का तथा ब्रह्मनिर्वाण का अनुभव हुआ है; उनके अपने ही क्षेत्र में तथा उनके अपने ही प्रयोजन के लिये उनका सत्य मैं अंगीकार करता हूं–उनके अनुभव का सत्य जहां तक कि उसकी पहुंच है–यद्यपि उस अनुभव पर आधारित मानसिक दर्शनशास्त्रों का सत्य स्वीकार करने को मैं किसी प्रकार भी बाध्य नहीं। उसी तरह मैं देखता हूं कि मेरा योग अपने ही क्षेत्र में–जो मेरी समझ में एक अधिक व्यापक क्षेत्र है–अपने ही प्रयोजन के लिये सच्चा है। पुराने योगों का प्रयोजन है जीवन को त्यागकर भगवान् को पाना–अतः स्पष्ट ही है कि हमें कर्म छोड़ देने चाहियें। नए योग का प्रयोजन है भगवान् को पाना तथा जो कुछ उपलब्ध हो वह सारे का सारा जीवन में उतार लाना-इसके लिये, कर्मयोग (कर्मों द्वारा योग) अनिवार्य है। मुझे लगता है कि इसमें कोई रहस्य की बात या कोई ऐसी जटिल बात नहीं है जो किसी को चकराने वाली हो–यह युक्तियुक्त एवं अवश्यंभावी है। तुम्हारा कहना इतना ही है कि यह चीज असंभव है; पर यह तो एक ऐसी बात है जो प्रत्येक काम के बारे में उसके सिद्ध होने से पहले कही जाती है।

मैं यह भी बता दूं कि कर्मयोग नया नहीं वरन् बहुत पुराना योग है; गीता कोई कल तो लिखी नहीं गई थी और कर्मयोग गीता से भी पहले विद्यमान था। तुम्हारा यह विचार कि 'गीता में कर्मों के पक्ष में एकमात्र युक्ति यह दी गई है कि यह सब अनिवार्य बखेड़ा है, अतः अच्छा यह है कि इसका उत्तम से उत्तम उपयोग किया जाय' सचमुच सरसरी तथा अधकचरा है। यदि इतनी ही बात होती तो, गीता एक मूर्ख की कृति होती और मेरा इसपर दो जिल्दें लिखना या संसार का इसे एक बहुत बड़े धर्मग्रंथ के रूप में पढ़ना,–विशेषकर इसलिये कि इसने आध्यात्मिक पुरुषार्थ में कर्मों के स्थान का विचार किया है,–किसी तरह भी उचित न ठहरता। अवश्य ही गीता में इसके अतिरिक्त बहुत कुछ है। कुछ भी हो, तुम्हारे ये संदेह कि क्या कर्मों से सिद्धि प्राप्त होनी संभव है या यूं कहें कि ऐसी संभावना से तुम्हारा निरा साफ इन्कार उन लोगों के अनुभव का विरोध करता है जो इस असंभव मानी हुई चीज की प्राप्ति कर चुके हैं। तुम कहते हो कि कर्म चेतना को नीचे के स्तर में उतार लाता है, तुम्हें अन्तश्चेतना से बहिश्चेतना में ले आता है–हां, पर यदि तुम्हीं अंदर से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम करने के स्थान पर कर्म में अपने को बहिर्मुख करना स्वीकार कर लो; किंतु यह एक ऐसी चीज है जिसे नहीं करना व्यक्ति को सीखना है। विचार और भाव भी व्यक्ति को इसी प्रकार बहिर्मुख कर सकते हैं; पर यह तो अन्तश्चेतना में निवास करते हुए और शेष सारी सत्ता को उसका यंत्र बनाकर विचार, भाव तथा कर्म को दृढ़तापूर्वक उस चेतना से जोड़ देने का प्रश्न है। कठिन? पर भक्ति भी कहां सुगम है और निर्वाण तो बहुत से लोगों के लिये इससे भी अधिक कठिन होता है।

मेरी समझ में नहीं आता कि तुम मानव-हितवाद, कर्मवाद, परोपकारमय सेवा आदि को क्यों बीच में घसीट लाते हो। इनमेंसे कोई भी चीज न तो मेरे योग का अंग है और न ही मेरे कर्मों से मेल खाती है, अतः इनका मुझसे कुछ संबंध नहीं। मैंने यह कभी नहीं सोचा कि राजनीति से अथवा गरीबों को भोजन खिलाने या सुन्दर कविताएं लिखने से सीधे वैकुण्ठ या परब्रह्म की प्राप्ति हो जायगी। यदि ऐसा ही हो तो, एक ओर रमेशदत्त तथा दूसरी ओर बाडलेअर (Baudelaire) परम धाम पहुंचने तथा वहां हमारा स्वागत करनेवाले सर्वप्रथम व्यक्ति होंगे। स्वयं कर्म का बाह्य रूप या बाह्य चेष्टामात्र नहीं बल्कि उसके मूल में निहित चेतना एवं भगवन्मुख संकल्प ही कर्मयोग का सार है; कर्म तो कर्मों के स्वामी से मिलन का आवश्यक साधनमात्र है और अविद्या के संकल्प एवं सामर्थ्य से प्रकाश के शुद्ध संकल्प तथा बल की ओर जाने का मार्ग है।

अंत में, तुम यह कल्पना ही क्यों करते हो कि मैं ध्यान या भक्ति के विरुद्ध हूं। मुझे इसमें तनिक भी आपत्ति नहीं कि तुम इनमेंसे किसी एक को या दोनों को भगवत्प्राप्ति के साधन के रूप में अपनाओ। केवल, मुझे इसमें कुछ कारण नहीं दीखता था कि क्यों कोई कर्मों के विषय में विवाद उठावे और उन लोगों के उपलब्ध सत्य से इन्कार करे जिन्होंने, गीता के कथनानुसार, कर्मों द्वारा पूर्ण सिद्धि तथा भगवत्-साधर्म्य (भगवान् की प्रकृति से एकरूपता), संसिद्धि साधर्म्यम्, प्राप्त किया है (जैसे जनक तथा दूसरे योगियों ने किया)—केवल इसलिये इन्कार करे कि वह स्वयं कर्मों का गहनतर रहस्य नहीं जान पाता या अभी तक नहीं जान पाया है—और अतएव मेरा किया हुआ कर्मों का समर्थन भी नहीं समझ पाया है।

२३.१२.१९३४

कर्म और ध्यान

(१)

रूपांतर में बाह्य चेतना का समावेश करना इस योग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण चीज है—ध्यान इसे संपन्न नहीं कर सकता। ध्यान केवल आन्तर सत्ता से ही बरताव कर सकता है। इसलिये कर्म का प्रमुख महत्त्व है—केवल, इसे ठीक वृत्ति से तथा ठीक चेतना में स्थित होकर करना चाहिये, तब यह उतना ही फलप्रद होता है जितना कोई भी ध्यान हो सकता है।

(२)

अकेला कर्म तैयारीमात्र है, वैसे ही अकेला ध्यान भी, पर वृद्धिशील यौगिक चेतना में किया गया कर्म ध्यान के ठीक समान ही सिद्धि का साधन है... निःसंदेह मैंने यह नहीं कहा है कि 'केवल' कर्म ही तैयार करता है। ध्यान भी साक्षात् संबंध या मिलन के लिये तैयार करता है। यदि हमें तैयारी के तौर पर ही कर्म करना है और फिर गतिशून्य ध्यानपरायण संन्यासी बन जाना है तो, मेरी सब आध्यात्मिक शिक्षा मिथ्या है और अतिमानसिक उपलब्धि या किसी अन्य लक्ष्य का जो भूत में सिद्ध नहीं किया गया है कुछ भी प्रयोजन नहीं है...

इस वृत्ति के मूल में एक अज्ञानमय धारणा काम कर रही है। वह यह कि व्यक्ति को अनिवार्य रूप से केवल कर्म या केवल ध्यान करना चाहिये। या तो कर्म ही साधन है या ध्यान ही साधन है, दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भला कैसे साधन हो सकते हैं ! जहां तक मुझे मालूम है, मैंने यह कभी नहीं कहा कि ध्यान नहीं करना चाहिये। कर्म और ध्यान में खुला या लुकाछिपा संघर्ष खड़ा कर देना भेदजनक मन की चालाकी है और पुराने योग से संबंध रखती है। कृपया याद रखो कि मैं सदा ही उस पूर्णयोग का प्रतिपादन करता रहा हूं जिसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म–चेतना का प्रकाश, आनंद एवं प्रेम, कर्मों में संकल्प तथा सामर्थ्य–भगवान् का ध्यान, पूजा, सेवा सबका अपना अपना स्थान है। ध्यान कर्मयोग से बड़ा नहीं और न ही कर्म ज्ञानयोग से बड़ा है–दोनों समान हैं।

एक बात और–दूसरे लोगों के अनुभव की अवहेलना कर अपने ही अतिसीमित अनुभव के सहारे तर्क-वितर्क करना तथा उसके आधार पर योग-विषयक बड़ी व्याप्तियां (व्यापक नियम वा सिद्धांत) बनाना एक भारी भूल है। ऐसा बहुत से लोग करते हैं, पर इस विधि के दोष स्पष्ट ही हैं। कर्मों द्वारा प्राप्य प्रधान उपलब्धियों की तुम्हें कुछ भी अनुभूति नहीं, पर तुम यह निर्णय कर लेते हो कि ऐसी उपलब्धियां असंभव हैं। परंतु उन बहुत से लोगों का तुम क्या करोगे जिन्होंने वे प्राप्त की हैं–और कहीं या यहां आश्रम में भी ?

किंतु इससे यह परिणाम न निकाल लो कि मैं कर्मों को सिद्धि के एकमात्र साधन के रूप में उच्चपद प्रदान कर रहा हूं। मैं केवल इन्हें इनका उचित स्थान दे रहा हूं।

१९.१२.१९३४

साधना के तीन पथ

मैंने यह बिल्कुल सच्चे भाव से ही कहा था कि आन्तरात्मिक गति से तथा अहं को ढूंढ़ निकालने और दूर करने के प्रयत्न से तुमने इतनी उन्नति की है। इस मार्ग के प्रबल समर्थन में मैं तुम्हें पहले भी लिख चुका था। यह हमारे योग में भक्ति एवं समर्पण की ओर ले जानेवाला मार्ग है–क्योंकि आन्तरात्मिक गति से ही दृढ़ एवं विशुद्ध भक्ति की प्राप्ति तथा अहं का विनाश होता है जिससे फिर समर्पण करना संभव हो जाता है। वास्तव में ये दोनों चीजें साथ साथ चलती हैं।

दूसरा मार्ग ज्ञानप्राप्ति का मार्ग है और यह है सिर में ध्यान करना जिससे ऊपर की ओर उद्घाटन, मन की अचंचलता या निश्चलनीरवता और उच्चतर चेतना की शांति आदि का सामान्य रूप से अवतरण होता है यहां तक कि यह सत्ता को व्याप्त कर लेती, देह को परिपूरित करती तथा सभी गतियों को ऊंचा उठाने लगती है। परंतु निश्चलनीरवता में से गुजरना तथा साधारण कार्यकलाप का एक प्रकार का अभाव इस मार्ग के अन्तर्गत हैं–वह कार्यकलाप बाहर खदेड़ दिया जाता है और केवल ऊपरी कर्म के रूप में किया जाता है–पर तुम निश्चलनीरवता तथा शून्यता से तीव्र घृणा करते हो।

तीसरा मार्ग कर्मयोग के दो पथों में से एक है और यह है पुरुष को प्रकृति से, आन्तर शांत पुरुष को बाह्य सक्रिय सत्ता से पृथक् कर लेना; इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति दो चेतनाएं या दोहरी चेतना धारण करता है। एक जो पीछे स्थित रहती है वह, दूसरी बाह्य क्रियाशील चेतना का अवलोकन, निरीक्षण तथा अंत में नियंत्रण एवं परिवर्तन करती है। परंतु इसका भी यही अर्थ है कि आन्तर शांति एवं निश्चलनीरवता में निवास करना और कर्मों के साथ इस प्रकार बरताव करना मानो वे उपरितल की चीज हों। कर्मों का योग प्रारंभ करने का दूसरा मार्ग है उन्हें भगवान् के लिये तथा माता के लिये करना न कि अपने लिये, उन्हें निवेदित एवं समर्पित करते रहना जब तक कि व्यक्ति यह प्रत्यक्ष अनुभव न करे कि भगवती शक्ति कर्मों को ऊंचा उठा रही तथा उन्हें उसके लिये कर रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि मेरे योग का कोई रहस्य या कुंजी है, जिसे तुम कहते हो कि तुमने नहीं पाया है, तो, वह इन विधियों में निहित है–और वस्तुतः, स्वयं इनमें ऐसी रहस्यमय, असंभव या नई वस्तु कुछ है ही नहीं। और आगे जाकर अधिक परे का विकास तथा इस योग का विशेष लक्ष्य ही नई वस्तुएं हैं। परंतु प्रारंभिक अवस्थाओं में व्यक्ति को इन चीजों से संबंध रखने की कुछ आवश्यकता नहीं जब तक कि वह मानसिक ज्ञान के विषय के तौर पर ही ऐसा न करना चाहे।

११.९.१९३५

आश्रम में खेल

अवश्य ही, कुछ लोग पूछेंगे कि योग आश्रम में कोई भी खेल क्योंकर होने चाहियें। ऐसे आश्रम को तो ध्यान तथा आन्तर अनुभवों से और जीवन का त्यागकर ब्रह्म में लीन होने से ही मतलब होना चाहिये। परंतु यह बात उन सामान्य ढंग के आश्रमों पर ही लागू होती है जिनके हम अभ्यासी बने हुए हैं। पर यह उस ढंग का पुराणपंथी आश्रम नहीं है। यह योग में जीवन को समाविष्ट करता है, और जब एक बार हम जीवन को अपनाते हैं तो हम जिस किसी चीज को जीवन के अंतिम तथा तात्कालिक लक्ष्य के लिये उपयोगी पावें तथा जो आत्मा के कर्मों से विसंगत न हो उसे हम समाविष्ट कर सकते हैं। आखिरकार, पुराणपंथी आश्रमों का जन्म तो तभी हुआ जब ब्रह्म ने संसार से सब प्रकार का संबंध-विच्छेद करना शुरू किया, जब बौद्धधर्म की छाया शान के साथ सारे देश की परिक्रमा करने लगी और आश्रम विहारों व मठों में परिणत हो गये। प्राचीन आश्रम बिल्कुल इसी तरह के ही नहीं थे; उनमें जिन बालकों एवं युवकों का पालन-पोषण होता था उन्हें जीवन से संबद्ध अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी; पुरूरवा और उर्वशी के पुत्र ने ऋषि के आश्रम में धनुर्विद्या का अभ्यास किया और वह निपुण धनुर्धारी बना और कर्ण ने शक्तिशाली शस्त्रों का उपयोग सीखने के लिये एक बड़े ऋषि की शिष्यता स्वीकार की। अतः ऐसा कोई स्वतःसिद्ध प्रमाण नहीं कि एक ऐसे आश्रम के जीवन से, जैसा कि हमारा आश्रम है, जहां हम जीवन और आत्मा को समान धरातल पर लाने का यत्न कर रहे हैं, खेलों का वर्जन क्यों करना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द का योग-समन्वय–

कर्मयोग

एकादश अध्याय

कर्म का स्वामी

हमारे कर्मों का प्रभु और प्रेरक है एकमेव, विराट् एवं परम, अनाद्यनंत देव। वह है परात्पर अविज्ञात या अज्ञेय परब्रह्म, ऊर्ध्वस्थित, अप्रकट एवं अव्यक्त अनिर्वचनीय; पर वह सर्वभूत का आत्मा, सब लोकों का स्वामी, सब लोकों से अतीत, प्रकाशस्वरूप तथा पथप्रदर्शक, सर्वसुन्दर एवं आनंदघन, प्रियतम तथा प्रेमी भी है। वह है विश्वात्मा तथा हमारे चारों ओर की यह सब स्रष्ट्री शक्ति; वह है हमारा अन्तर्यामी। अपनी सत्ता का यह सत्य चाहे ज्ञान, कर्म एवं भक्ति से या अन्य किसी भी साधन से जानना, इसे हृदयंगम करना, यहां या और कहीं इसे चरितार्थ करना ही योगमात्र का लक्ष्य है।

★

परंतु सुदीर्घ यात्रा तथा कठिन प्रयास के उपरांत ही हम सत्य का दर्शन करनेवाली आंखों से भगवान् को देख पाते हैं, और यदि हम उसके सच्चे स्वरूप के अनुरूप अपने को फिर से गढ़ना चाहें तो हमें और भी दीर्घकाल तक तथा अधिक विकट पुरुषार्थ करना होगा। कर्म का स्वामी अपने आपको जिज्ञासु के समक्ष तुरंत ही नहीं प्रकाशित कर देता। चाहे बराबर ही उसी की शक्ति पर्दे के पीछे से कार्य कर रही होती है, किंतु यह प्रकट तभी होती है जब हम कर्तृत्व का अहंकार त्याग देते हैं, और जितना ही यह त्याग अधिकाधिक मूर्त्त होता जाता है उस शक्ति की प्रत्यक्ष क्रिया उतनी ही बढ़ती चली जाती है। उसकी पूर्ण उपस्थिति में निवास करने का अधिकार तो हमें तभी प्राप्त होगा जब उसकी दिव्य शक्ति के प्रति हमारा समर्पण पूर्ण हो जायगा। इस दीर्घ और कठिन पूर्णयोग के लिये अपेक्षित है सर्वांगीण श्रद्धा एवं अविचल धैर्य।

परंतु हृदय तथा मन दोनों की अधीरता और हमारी राजस प्रकृति की उत्सुक पर स्खलनशील इच्छाशक्ति के कारण योग के विषम एवं संकीर्ण पथ पर इस श्रद्धा तथा धैर्य का उपार्जन वा अभ्यास करना कठिन है। प्राणिक प्रकृति का मनुष्य सदा ही अपने परिश्रम के फल के लिये तरसता है और यदि उसे ऐसा लगता है कि फल देने से इन्कार किया जा रहा है या इसमें बहुत देर लगाई जा रही है तो वह आदर्श में तथा पथप्रदर्शन में विश्वास करना छोड़ देता है। इन्हीं अंधेरे रास्तों में यह भी हो सकता है कि वह सदा के लिये भ्रष्ट हो जाय या दिव्य संघर्ष से पीठ फेर ले।

यदि कोई पथ पर दूर तक तथा दृढ़ता से चल चुका हो तो हृदय की श्रद्धा उग्र से उग्र विरोधी दबाव में भी स्थिर रहेगी; यह आच्छादित या प्रत्यक्षतः अभिभूत भले ही हो जाय तो भी, यह पहला अवसर पाते ही फिर उभर आवेगी। क्योंकि, हृदय या बुद्धि से ऊंची कोई वस्तु इसे अतिनिकृष्ट पतनों के होते हुए भी तथा अत्यंत दीर्घकालीन विफलता में भी थामे रखती है। हमारी श्रद्धा, अटल रहकर अपने कर्मों में युक्तियुक्त सिद्ध होगी और अंत में दिव्य ज्ञान की स्वयंप्रकाशता में उन्नीत तथा रूपांतरित हो जायगी। हमें सदा ही गीता के इस आदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दृढ़ता से अनुसरण करना चाहियें कि "निराशा-पूर्ण अवसाद से रहित हृदय से योग का निरंतर अभ्यास करना चाहिये।" सदा ही हमें संदेहशील बुद्धि के सम्मुख ईश्वर की यह प्रतिज्ञा दुहरानी चाहिये, "मैं तुझे समस्त पाप एवं अशुभ से निश्चितरूपेण मुक्त कर दूंगा; शोक मत कर।" अंत में, श्रद्धा की चंचलता दूर हो जायगी; क्योंकि हम भगवान् की मुखछवि निहार लेंगे और निरंतर भागवत उपस्थिति अनुभव करेंगे।

*

हमारे कर्मों का स्वामी जब हमारी प्रकृति का रूपांतर कर रहा होता है तब भी वह इसका मान करता है; वह सदा प्रकृति द्वारा ही अपनी क्रिया करता है, न कि मन की मौज के अनुसार। हमारी इस अपूर्ण प्रकृति में हमारी पूर्णता की सामग्री निहित है, पर वह अविकसित, विकृत तथा स्थानभ्रष्ट है और अव्यवस्था या त्रुटिपूर्ण दुर्व्यवस्थापूर्वक एक ही जगह पटकी हुई है। यह सब सामग्री धैर्य-पूर्वक पूर्ण, शुद्ध, पुनर्व्यवस्थित, नव-गठित तथा रूपांतरित करनी है, न कि यह छिन्नभिन्न तथा नष्ट-भ्रष्ट वा क्षत-विक्षत कर डालनी है और न ही यह कोरे बलात्कार वा इन्कार से मिटा देनी है। यह संसार तथा इसमें रहनेवाले हम सब उसी की रचना एवं अभिव्यक्ति हैं, और वह इसके साथ तथा हमारे साथ ऐसे ढंग से वर्ताव करता है जिसे हमारा क्षुद्र एवं अज्ञ मन तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह शांत होकर दिव्य ज्ञान के प्रति उन्मुक्त नहीं हो जाता। हमारे कर्मों का स्वामी न तो प्रमादी है न ही उदासीन साक्षी और न ही अनावश्यक बुराइयों की रंगरलियों से मन बहलानेवाला। वह हमारी बुद्धि से अधिक ज्ञानी तथा हमारे पुण्य से अधिक दूरदर्शी है।

यही नहीं कि हमारी प्रकृति इच्छाशक्ति की दृष्टि से भ्रांत तथा ज्ञान की दृष्टि से अज्ञ है बल्कि शक्ति की दृष्टि से दुर्बल भी है; किंतु भागवती शक्ति संसार में विद्यमान है और यदि हम उसपर विश्वास रखें तो वह हमें मार्ग दिखावेगी और हमारी दुर्बलताएं तथा हमारी क्षमताएं दिव्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त करेगी। यदि हम अपने तात्कालिक लक्ष्य में असफल होते हैं तो वह इसलिये कि असफलता ईश्वर को अभिमत होती है; प्रायः हमारी विफलता या दुष्परिणाम ही ठीक मार्ग होता है जिससे हमें तात्कालिक एवं पूर्ण सफलता से प्राप्य फल की अपेक्षा अधिक सच्चा फल प्राप्त होता है। अतः हमें शांति, पवित्रता एवं पूर्णता प्राप्त करने के लिये भी अति प्रचण्ड रूप में उतावले नहीं हो जाना चाहिये। हमारे कर्म तथा हमारे योग का स्वामी यह जानता है कि उसे क्या करना है, और हमारा कर्तव्य है कि हम उसे उसी की साधन-सामग्री तथा उसी की प्रणाली से अपने भीतर कार्य करने का अवकाश दें।

अज्ञान की गति अपने सार में अहंकारमय है और जब हम अभी अपनी अनिष्पन्न प्रकृति के अर्द्ध-प्रकाश एवं अर्द्ध-बल में व्यक्तित्व को अंगीकार करते तथा कर्म में आसक्त होते हैं तब अहंकार से छुटकारा पाना हमारे लिये अत्यंत कठिन कार्य होता है। कर्म करने की प्रवृत्ति का त्याग कर अहं को भूखों मारना या व्यक्तित्व की समस्त क्रिया से अपना संबंध-विच्छेद कर अहं का नाश कर डालना अपेक्षाकृत सुगम है। इसे शांतिमय समाधि या दिव्य प्रेम के परमानंद में निमग्न आत्म-विस्मृति के स्तर पर ऊंचा उठा ले जाना भी अपेक्षाकृत सरल है। परंतु सच्चे 'पुरुष' को विमुक्त कर ऐसी दिव्य मानवता प्राप्त करना जो दिव्य बल का शुद्ध आधार तथा दिव्य कर्म का पूर्ण यंत्र हो—यह हमारी कहीं अधिक कठिन समस्या है, एक के बाद एक सभी सोपानों को दृढ़ता से पार करना है; एक के बाद एक सभी कठिनाइयों का पूरी तरह से अनुभव करना तथा उन्हें पूरी तरह से जीतना है। दिव्य प्रज्ञा और शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही हमारे लिये यह कार्य कर सकती है और वह ऐसा करेगी ही यदि हम पूर्ण श्रद्धा से उसके चरणों में नत-मस्तक होकर दृढ़ साहस तथा धैर्य से उसकी कार्य-प्रणालियां हृदयंगम करें तथा उन्हें अपनी सहमति दें।

इस दीर्घ पथ का प्रथम सोपान यह है कि हम अपने सभी कर्म अपने में तथा जगत् में विद्यमान भगवान् को यज्ञ-रूप में अर्पित करें; यह समर्पण मन तथा हृदय का भाव है; इसमें प्रथम प्रवेश इतना कठिन नहीं, किंतु इसे पूर्ण रूप में सच्चा एवं व्यापक बनाना अति कठिन है। द्वितीय सोपान है अपने कर्मों के फल में आसक्ति का परित्याग; कारण, यज्ञ का एकमात्र सच्चा, अवश्यंभावी तथा परम स्पृहणीय फल—एकमात्र आवश्यकीय वस्तु—है हमारे भीतर भागवत उपस्थिति एवं भागवत चेतना तथा शक्ति, और यदि यह उपलब्ध हो जाय तो और सब कुछ स्वयमेव प्राप्त हो जायगा। तृतीय सोपान है केंद्रीय अहंभाव तथा कर्तृत्व के अहंकार से भी छुटकारा। यह सबसे कठिन रूपांतर है और यदि पहले दो सोपान पार न कर लिये गये हों तो इसे पूर्णतया संपन्न किया ही नहीं जा सकता; पर ये प्रारंभिक सोपान भी तब तक पार नहीं हो सकते जब तक इस गति को सफल करने के लिये तीसरा सोपान प्रारंभ नहीं हो जाता और, अहंभाव का विनाश कर, कामना के असली मूल का ही उन्मूलन नहीं कर देता।

★

सर्वांगपूर्ण बनानेवाली इस अंतिम गति के कई सोपान हैं; क्योंकि यह एकदम या लंबे प्रवेशपथों के बिना पूरी नहीं की जा सकती जो पथ इसे उत्तरोत्तर निकट ले आते हैं तथा अंत में इसे संभव कर देते हैं। सर्वप्रथम धारण करने योग्य भाव यह है कि हम अपने आपको कर्ता समझना छोड़ दें और दृढ़तापूर्वक यह अनुभव करें कि हम तो वैश्व शक्ति के केवल एक यंत्र हैं। प्रारंभ में ऐसा दीख पड़ता है कि एक परम शक्ति नहीं वरन् अनेक वैश्व शक्तियां हमें चला रही हैं; किंतु इन्हें अहं की पोषक शक्तियों के रूप में परिणत किया जा सकता है और यह दृष्टि मन को तो मुक्त कर देती है पर शेष प्रकृति को नहीं। जब हमें यह ज्ञान हो जाय कि सब कुछ एक ही वैश्व शक्ति का तथा उसके मूल में विराजमान भगवान् का व्यापार है तब भी, यह आवश्यक नहीं कि यह ज्ञान सारी प्रकृति को मुक्त कर दे। यदि कर्तृत्व का अहंकार लुप्त हो जाय तो यंत्रभाव का अहंकार इसका स्थान ले सकता या छद्मवेश में इसे ही जारी रख सकता है। जगत् का जीवन इस प्रकार के अहंभाव के दृष्टांतों से भरा पड़ा है और यह अन्य किसी भी अहंभाव की अपेक्षा अधिक ग्रस्त करनेवाला तथा घोरतर हो सकता है; यही भय योग में भी है। कोई मनुष्य मनुष्यों का नेता बन जाता है अथवा बड़े या छोटे क्षेत्र में सुप्रसिद्ध हो जाता है और अपने को ऐसी शक्ति से पूर्ण अनुभव करता है जो उसकी समझ में उसके अपने अहं-बल से परे है; वह अपने द्वारा काम करनेवाली नियति अथवा गुह्य एवं अगम संकल्पशक्ति या अतिभास्वर अन्तर्ज्योति से सचेतन हो सकता है। ऐसे मनुष्य के विचारों, उसके कर्मों या उसकी सर्जनशील प्रतिभा के असाधारण परिणाम होते हैं। वह या तो एक बड़ा भारी विनाश संपादित करता है जो मानवता के लिये पथ प्रशस्त कर देता है या वह एक महान् निर्माण करता है जो मानवजाति का क्षणिक पड़ाव होता है। वह या तो दण्ड देनेवाला होता है या प्रकाश एवं सुख का वाहक, सौन्दर्य का स्रष्टा या ज्ञान का अग्रदूत। जो लोग ऐसे भाग्य तथा इन शक्तियों से संपन्न होते हैं वे अपने को सहज में ही ईश्वर के या नियति के हाथों में यंत्रमात्र मानने तथा घोषित करने लगते हैं: परंतु उस घोषणा से ही हम जान जाते हैं कि उनके अंदर इतना अधिक तीव्र एवं बढ़ा-चढ़ा अहंकार घुस सकता या आश्रय पा सकता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसे घोषित करने का साहस या अपने अंदर आश्रय देने का सामर्थ्य साधारण मनुष्यों में नहीं होता। योग में, प्रबल पर असंस्कृत प्राणिक या मानसिक प्रकृति-वाले लोगों के साथ जो चटपट ऊंचे उठ जाते हैं ऐसा प्रायः ही होता है जब कि वे महत्त्वाकांक्षा, अभिमान या बड़े बनने की कामना को अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा में घुसने तथा इसके प्रेरकभाव की शुद्धता को कलुषित करने देते हैं। अतः इस प्रकार का बौद्धिक ज्ञान या प्राणगत बोध कि एक शक्ति है जो हमसे महत्तर है और यह कि हम उसी से परिचालित होते हैं, अहं से मुक्त करने के लिये पर्याप्त नहीं।

यह ज्ञान, यह बोध कि हममें या हमारे ऊपर एक महत्तर शक्ति का अस्तित्व है और वह हमें चला रही है, कोई भ्रम या गर्वोन्माद नहीं है। जिन्हें ऐसा अनुभव एवं साक्षात्कार होता है उनकी दृष्टि साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विशाल होती है और वे सीमित स्थूल बुद्धि से एक पग आगे बढ़े हुए होते हैं, परंतु उनकी दृष्टि पूर्ण दृष्टि या प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती। क्योंकि उनके मन में स्पष्टता वा ज्ञान-ज्योति तथा उनकी आत्मा में सचेतनता नहीं होती, क्योंकि उनकी जागृति आत्मा के आध्यात्मिक तत्त्व की अपेक्षा कहीं अधिक प्राणमय भागों में होती है, अतः वे भगवान् के सचेतन यंत्र नहीं हो सकते अथवा अपने स्वामी का साक्षात् नहीं कर सकते, बल्कि भगवान् उनकी भ्रांतिशील तथा अपूर्ण प्रकृति द्वारा उन्हें अपने उपयोग में लाते हैं। जो लोग मानवीय बंधनों को थोड़ा बहुत तोड़ डालते हैं किंतु पवित्रता-रहित तथा ज्ञानरहित होते हैं, उनकी तो और भी अधिक दुर्दशा हो सकती है, क्योंकि वे यंत्र तो बन सकते हैं, पर भगवान् के नहीं; बहुधा वे भगवान् के नाम पर वृत्रों की, उसके आवरणों तथा काले विरोधियों एवं अंधकार की शक्तियों की ही अनजान में सेवा करते हैं।

हमारी प्रकृति को अपने अंदर वैश्व शक्ति को बसाना तो अवश्य चाहिये किंतु इसके निम्नतर रूप में अथवा इसकी राजस वा सात्त्विक गतिवाले रूप में नहीं; इसे वैश्व संकल्प की सेवा अवश्य करनी चाहिये, पर महत्तर स्वातंत्र्यकारी ज्ञान के प्रकाश में। हमारे यंत्रत्व के भाव में किसी प्रकार का अहंकार कदापि नहीं होना चाहिये, तब भी नहीं जब हम अपनी अन्तःस्थ शक्ति की महत्ता से पूर्णतः सचेतन हों। ज्ञान और अज्ञान में अंतर केवल आत्मा की कृपा का ही है; भागवत शक्ति का प्राण जिसे वरण करता है उसी में वह प्रवाहित होता है और आज एक को तथा कल किसी दूसरे को वाणी या बल से पूरित कर देता है। यदि कुम्भकार एक पात्र दूसरे की अपेक्षा अधिक पूर्णता से गढ़ता है तो उसका श्रेय पात्र को नहीं बल्कि निर्माता को है। हमारे मन का भाव यह नहीं होना चाहिये कि "यह मेरा बल है" या "मुझमें ईश्वर की शक्ति देखो", वरन् "इस मन तथा शरीर में भागवती शक्ति कर्म कर रही है और यह वही है जो सभी मनुष्यों में तथा प्राणिमात्र में, पौधे में तथा धातु में, सचेतन तथा सजीव वस्तुओं में और अचेतन तथा निर्जीव दीखनेवाली वस्तुओं में भी कार्य करती है।" एक ही देव सबमें कार्य कर रहा है और संपूर्ण संसार दिव्य कर्म तथा क्रमिक आत्म-अभिव्यक्ति का एकसमान यंत्र है—यह विशाल दृष्टि यदि हमारी अखण्ड अनुभूति बन जाय तो, यह हमारे अंदर से समस्त राजसिक अहंकार निकाल डालने में सहायक होगी और फिर सात्त्विक अहं-बुद्धि भी हमारी प्रकृति से शनैः शनैः दूर होने लगेगी।

★

अपना यंत्र-स्वरूप अहं भागवती शक्ति को समर्पित करने के बाद एक और महत्तर सोपान पार करना होता है। भागवती शक्ति के इस रूप का ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि यह वह एकमात्र वैश्व शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो मन, प्राण तथा जड़ के स्तर पर हमें तथा सब प्राणियों को प्रचालित करती है; क्योंकि यह निम्नतर प्रकृति है और, चाहे भागवत ज्ञान, प्रकाश एवं शक्ति अज्ञान में भी निगूढ़ तथा क्रियाशील रूप में विद्यमान हैं तथा इसका आवरण कुछ कुछ विदीर्ण कर सकती हैं और अपना सत्य-स्वरूप यत्किंचित् व्यक्त कर सकती हैं अथवा ऊपर से अवतीर्ण हो सकती तथा इन हीन क्रियाओं को ऊंचा उठा सकती हैं, पर हम अध्यात्मभावित मन, अध्यात्मभावित प्राण-गति, अध्यात्मभावित देह-चेतना में एकमेव का अनुभव भले ही कर ले, फिर भी क्रियाशील अंगों में अपूर्णता बनी रहती हैं। परम शक्ति के प्रति हमारा प्रत्युत्तर तब भी स्खलनशील होता है, भगवान् के मुख पर आवरण, अज्ञान का सतत मिश्रण तो फिर भी रहता ही है। जब हम भागवत शक्ति के प्रति—इस निम्न प्रकृति का अतिक्रम करनेवाले उसके सत्य स्वरूप के प्रति—उद्घाटित होते हैं तभी हम उसके बल एवं ज्ञान के पूर्ण यंत्र बन सकते हैं।

मुक्ति ही नहीं अपितु सिद्धि वा पूर्णता कर्मयोग का लक्ष्य होना चाहिये। भगवान् हमारी प्रकृति द्वारा तथा हमारी प्रकृति के अनुसार कर्म करते हैं; यदि हमारी प्रकृति अपूर्ण है तो, कर्म भी अपूर्ण, मिश्रित एवं अयुक्त होगा। यदि हमारा योग सर्वांगीण योग न होता, यदि हमें अपनी अन्तःस्थित आत्मा की मुक्ति या प्रकृति से वियुक्त पुरुष की निश्चल सत्ता ही अभीष्ट होती तो, इस व्यावहारिक अपूर्णता की हमें कुछ परवा न होती। परंतु सर्वांगपूर्ण उपलब्धि में यह निश्चलता मार्ग का एक सोपानमात्र हो सकती है, न कि हमारा अंतिम विश्रामस्थल। क्योंकि हमारा लक्ष्य आत्मसत्ता की स्थितिशीलता में ही नहीं वरन् प्रकृति की गति में भी दिव्य चरितार्थता उपलब्ध करना है। इसमें संदेह नहीं कि एक दृष्टि से हम अज्ञान की प्रकृति में भी भगवान् की उपस्थिति एवं शक्ति का अनुभव कर सकते हैं, परंतु वह होती है प्रच्छन्न दिव्य शक्ति तथा उपस्थिति, एक वामनाकृति, क्षुद्र मूर्त्ति। हमारी मांग इससे बहुत बड़ी है, यह कि हमारी प्रकृति भगवान् के परम सत्य में, परा ज्योति में, नित्य आत्म-सचेतन संकल्प की शक्ति में, अनंत ज्ञान की बृहत्ता में भगवान् की अंशशक्ति हो।

अहं की सीमाएं ज्यों ही लुप्त होने लगती है त्यों ही, हमें पता चल जाता है कि वह पर्दा किस चीज का बना हुआ है और हम अपने में विश्वप्रकृति की क्रिया होती देखते हैं, और विश्वप्रकृति के भीतर या उसके मूल में हम विश्वात्मा की उपस्थिति तथा जगद्व्यापी ईश्वर की विराट् गति अनुभव करते हैं। यंत्र के स्वामी इस अखिल क्रिया के पीछे अवस्थित हैं और क्रिया के भीतर भी उनका स्पर्श तथा उनके महान् पथप्रदर्शक या प्रवर्तक प्रभाव की प्रेरणा उपस्थित होती है। अध्यात्मभावापन्न मन से ऊंचे उठ जाना तथा परमोच्च माता की आद्या भागवती सत्य-शक्ति की जीवंत उपस्थिति में सहजस्फुरणापूर्वक कर्म करना संभव है। हमारी गति उसकी गति से एकीभूत तथा उसमें निमज्जित हो जायगी, हमारा संकल्प उसके संकल्प से एकीभूत, हमारी शक्ति उसकी शक्ति में दायित्वमुक्त हो जायगी और हम यह अनुभव करेंगे कि वह हमारे द्वारा इस प्रकार कर्म कर रही है मानो परमा प्रज्ञा-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त साक्षात् भगवान् ही कर्म कर रहे हों, और हमें अपने रूपांतरित मन, प्राण तथा शरीर ऐसे जान पड़ेंगे मानो वे अपने से अत्युच्च परा ज्योति एवं शक्ति की प्रणालिकाएं मात्र हों, जो ज्योति एवं शक्ति अपने ज्ञान में परात्पर तथा परिपूर्ण होने के कारण अपनी क्रियापद्धति में निर्भ्रांत है। और हम इस ज्योति एवं शक्ति के वाहन, साधन तथा यंत्र ही नहीं अपितु परम उदात्त शाश्वत अनुभूति में उसके अंग बन जायंगे। प्रतिक्षण तथा प्रति वस्तु में, अपने में तथा दूसरों में, सचेतन रूप से यह अनुभव करते हुए कि सर्वकर्ममहेश्वर उनमें विद्यमान है तथा इस विराट्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति से जो शक्ति भी वह स्वयं ही है सब वस्तुओं और सब घटनाओं को धारण करता, उनमें निवास करता तथा उनका उपभोग करता है और इसी शक्ति द्वारा वह स्वयं इन सब वस्तुओं तथा सब घटनाओं के रूप में संभूत वा प्रकट होता है,–हम कर्मों द्वारा भागवत मिलन प्राप्त कर चुके हैं और कर्मों में इस कृतार्थता से वह सब भी अधिगत कर चुके हैं जो कुछ दूसरों ने परा भक्ति से या शुद्ध ज्ञान से उपलब्ध किया है। परंतु अभी भी एक और शिखर है जो हमें आहूत करता है, इस विश्वमय एकत्व से उठकर दिव्य परात्परता के एकत्व में आरोहण। हमारे कर्मों तथा हमारी सत्ता का स्वामी इहलोक में हमारा अन्तर्यामी ईश्वर ही नहीं है, न ही वह विश्वात्मा या किसी प्रकार की सर्वव्यापी शक्तिमात्र है। जगत् और भगवान् बिल्कुल एक ही चीज नहीं हैं, जैसा कि एक विशेष प्रकार के सर्वेश्वरवादी विचारकों को अभिमत है। जगत् अंशविभूति है; यह किसी ऐसी वस्तु पर अवलंबित है जो इसमें प्रकट तो होती है पर इससे सीमित नहीं: भगवान् केवल यहां ही हों ऐसी बात नहीं; एक परतत्त्व का भी अस्तित्व है, अनंत परात्परता की भी अस्ति है। व्यष्टि-सत्ता भी, अपने आध्यात्मिक अंश में, वैश्व सत्ता में बनी रचना नहीं है–हमारा अहं, हमारा मन, हमारा प्राण, हमारा शरीर अवश्य ही ऐसी रचनाएं हैं; परंतु हमारे अंदर की नित्य निर्विकार आत्मा, अविनाशी जीव परात्परता में से प्रादुर्भूत हुआ है।

आशा

इससे क्या हुआ यदि मैं सघन अंधकार में हूं;
तू तो परम प्रकाशस्वरूप, परम ज्योतिस्वरूप है!
इससे क्या हुआ यदि मैं भीतर बाहर से दुर्बल हूं, अति दुर्बल हूं;
तू तो अनंत शक्ति का भंडार है!
इससे क्या हुआ यदि मैं दुःखों के जाल से घिरा हुआ हूं;
तू तो आनंद का लहराता हुआ असीम सागर है!
इससे क्या हुआ यदि मैं अपूर्ण हूं;
तू तो पूर्णतया परिपूर्ण है!
हे ऐसे मेरे नाथ! मैं सब प्रकार से तेरा हूं और तू सब प्रकार से मेरा है।

मेरे अंधकार को विलीन करने के लिये ही तेरा प्रकाश है।

मेरे दौर्बल्य को दूर करने के लिये ही तेरी शक्ति है।

मेरे दुःखों को मिटाने के लिये ही तेरा आनंद है।

मेरी अपूर्णता को भरने के लिये ही तेरी पूर्णता है।

प्रभो! मुझे पूरी आशा है कि मैं एक दिन तुझसे मिलूंगा, अवश्य मिलूंगा। तब तू मुझमें होगा और मैं तुझमें होऊंगा; तू मुझे सार्थक करेगा और मैं तुझे सार्थक करूंगा।

–ब्रह्मानंद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकृष्ण का राजनीतिक उद्देश्य

कुल और जाति मानवसमाज के क्रमिक विकास के अंदर आनेवाली दो भिन्न भिन्न चीजें हैं। प्राचीन काल में इनकी भिन्नता भारत तथा अन्यान्य देशों में भी इतनी परिस्फुट नहीं हुई थी। कुछ बड़े बड़े कुलों के एकत्र हो जाने से ही एक जाति तैयार हो जाती थी। ये भिन्न-भिन्न कुल या तो एक ही पूर्वपुरुष के वंशधर होते थे अथवा भिन्न वंशों में उत्पन्न होने पर भी प्रीति-संबंध स्थापित करने के कारण एक ही वंश के माने जाते थे। समस्त भारत एक बड़ी जाति नहीं बन सका था, किंतु जो बड़ी बड़ी जातियां सारे देश में फैली हुई थीं उनमें एक ही सभ्यता, एक ही धर्म, एक ही संस्कृतभाषा तथा विवाहादि संबंध प्रचलित थे। तथापि प्राचीन काल से ही एकत्व की चेष्टा होती आ रही थी, कभी तो कुरु, कभी पांचाल, कभी कोशल, कभी मगधजाति देश का नेता या सार्वभौम राजा बनकर साम्राज्य चलाती, किंतु प्राचीन कुलधर्म और कुल की स्वातंत्र्यप्रियता एकत्व के मार्ग में ऐसी प्रवल बाधा उत्पन्न करती कि वह चेष्टा कभी चिरकाल स्थायी न हो सकी। भारत में यह एकत्व स्थापित करने की चेष्टा, असपत्न साम्राज्य की स्थापना करने की चेष्टा पुण्यकर्म तथा राजा के कर्त्तव्य कर्म के अंदर गिनी जाती थी। यह एकत्व की भावना इतनी प्रवल हो गयी थी कि चेदिराज शिशुपाल जैसे एक तेजस्वी और दुर्दांत क्षत्रिय भी युधिष्ठिर के साम्राज्य-संस्थापन को पुण्यकर्म समझकर सहयोग देने के लिये सहमत हुए थे। इसी प्रकार का एकत्व, साम्राज्य या धर्म-राज्य स्थापित करना श्रीकृष्ण का राजनीतिक उद्देश्य था। मगधराज जरासंध ने पहले ही इसकी चेष्टा की थी, किंतु उनकी शक्ति अधर्म और अत्याचार के ऊपर प्रतिष्ठित थी, अतएव उसे क्षणस्थायी समझकर श्रीकृष्ण ने भीम के हाथों उनका वध कराकर उस चेष्टा को विफल कर दिया। श्रीकृष्ण के कार्य में प्रधान बाधक था अभिमानी और तेजस्वी कुरुवंश। कुरुजाति बहुत दिनों से भारत की नेतृस्थानीया जाति थी; जिसे अंग्रेजी में Hegemony–अर्थात् बहुत सी एक समान स्वाधीन जातियों के बीच प्रधानत्व और नेतृत्व कहते हैं, उसपर कुरुजाति का परंपरागत अधिकार हो गया था। श्रीकृष्ण यह समझते थे कि जब तक उस जाति का बल और गर्व अक्षुण्ण बना रहेगा, तब तक भारत में कभी एकत्व स्थापित नहीं हो सकेगा। अतएव उन्होंने कुरुजाति का ध्वंस करने का संकल्प किया। परंतु इस बात को वह भूले नहीं कि भारत के साम्राज्य के ऊपर कुरुजाति का परंपरागत अधिकार है और जो धर्मतः किसी का प्राप्य है उससे उसे वंचित करना अधर्म है, इसलिये कुरुजाति के न्यायतः जो राजा और प्रधान थे, उन्हीं युधिष्ठिर को उन्होंने भावी सम्राट्-पद पर नियुक्त करने के लिये मनोनीत किया। श्रीकृष्ण परम धार्मिक थे, समर्थ होने पर भी उन्होंने स्नेह के वश होकर अपने प्रिय यादव-कुल को कुरुजाति के स्थान पर बैठाने की चेष्टा नहीं की, पांडवों में सबसे बड़े युधिष्ठिर की अवहेलना कर अपने प्रियतम सखा अर्जुन को उस पद पर नियुक्त नहीं किया। परंतु केवल अवस्था या पूर्वाधिकार देखने से अनिष्ट की संभावना रहती है, गुण और सामर्थ्य भी देखना होता है। राजा युधिष्ठिर यदि अधार्मिक, अत्याचारी या शक्तिहीन होते तो फिर श्रीकृष्ण को दूसरा पात्र खोजने के लिये बाध्य होना पड़ता। युधिष्ठिर जैसे वंशक्रमानुसार, न्यायपूर्ण अधिकार और देश के पूर्वप्रचलित नियम के अनु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार सम्राट् होने के उपयुक्त थे, वैसे ही वे गुण में भी उस पद के यथार्थ अधिकारी थे। उनकी अपेक्षा कहीं अधिक तेजस्वी और प्रतिभावान् बहुत से बड़े बड़े वीर राजा थे, किंतु केवल बल और प्रतिभा से ही कोई राज्य का अधिकारी नहीं होता। राजा को धर्मरक्षा करनी चाहिये, प्रजारंजन करना चाहिये, देशरक्षा करनी चाहिये। प्रथम दो गुणों में युधिष्ठिर अतुलनीय थे, वे धर्मपुत्र थे, दयावान् थे, न्यायपरायण, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ और सत्यकर्मा थे, प्रजा को अत्यंत प्रिय थे। शेषोक्त आवश्यक गुण में जो उनमें कमी थी उसे उनके दो वीर भाई भीम और अर्जुन पूरा करने में समर्थ थे। पंचपांडवों के समान पराक्रमी राजा या वीर पुरुष तत्कालीन भारत में दूसरा कोई नहीं था। अतएव जरासंध-वध के द्वारा कंटक दूर कर श्रीकृष्ण के परामर्श से राजा युधिष्ठिर ने देश की प्राचीन प्रणाली का अनुसरण कर राजसूय यज्ञ किया और इस तरह वे देश के सम्राट् बने।

श्रीकृष्ण धार्मिक और राजनीतिविशारद थे। यदि देश के धर्म, देश की प्रणाली, देश के सामाजिक नियम के भीतर कार्य करने से उनके महत् उद्देश्य की सिद्धि संभव थी तो फिर वे धर्म की हानि, उस प्रणाली के विरुद्ध आचरण, उस नियम का भंग क्यों करते? बिना कारण इस प्रकार का राज्यविप्लव और समाजविप्लव करना देश के लिये अहितकर होता है। इसी कारण पहले पुरानी प्रणाली की रक्षा करते हुए उन्होंने अपना उद्देश्य सिद्ध करने का प्रयास किया। किंतु देश की पुरानी प्रणाली में यह दोष था कि उससे प्रयास सफल होने पर भी उस फल के स्थायी होने की संभावना बहुत ही कम थी। उस समय जिसके पास सामरिक बल अधिक था, वह राजसूय यज्ञ करके सम्राट् तो हो सकता था, पर उसके वंशधर ज्यों ही तेजहीन हो जाते त्यों ही वह मुकुट उनके मस्तक से स्वयं गिर पड़ता। जो तेजस्वी वीर जातियां पिता या पितामह के वश में हुई थीं वे भला अब विजयी के पुत्र या पौत्र की अधीनता क्यों स्वीकार करतीं? वंशगत अधिकार नहीं माना जाता था, राजसूय यज्ञ अर्थात् असाधारण बलवीर्य ही उस साम्राज्य का मूल माना जाता था, जिसमें अधिक बलवीर्य होता वही यज्ञ करके सम्राट् बन जाता। अतएव साम्राज्य के स्थायी होने की कोई आशा नहीं रहती थी, थोड़े समय के लिये ही प्रधानता या Hegemony हो सकती थी। इस प्रथा में एक दोष और था और वह यह कि नए नए सम्राटों के अकस्मात् बलशाली और सर्वप्रधान हो जाने के कारण देश के बलाभिमानी, असहिष्णु, तेजस्वी क्षत्रियों के हृदय में ईर्ष्या-वह्नि प्रज्वलित हो उठती; उनके मन में यह विचार सहज में ही उठने की संभावना थी कि ये प्रधान क्यों होंगे, हम क्यों नहीं होंगे। युधिष्ठिर के अपने कुल के क्षत्रिय इसी ईर्ष्या से उनके विरोधी हुए थे, उनके पितृव्य (चचा) के संतानों ने इसी ईर्ष्या का सहारा लेकर बड़ी चतुराई के साथ उन्हें पदच्युत और निर्वासित कर दिया था। दोषयुक्त प्रणाली का दोष थोड़े दिन में ही प्रकट हो गया।

श्रीकृष्ण जैसे ही धार्मिक थे वैसे ही राजनीतिज्ञ भी थे। वह कभी सदोष, अहितकर या समय के लिये अनुपयोगी प्रणाली, उपाय या नियम को बदलने में आगा-पीछा न करते। वह अपने युग के प्रधान विप्लवी थे। राजा भूरिश्रवा ने श्रीकृष्ण की भर्त्सना करते समय समकालीन प्राचीनमतावलंबी बहुत से भारतवासियों का क्रोध प्रकट करते हुए कहा कि कृष्ण और कृष्णचालित यादवकुल कभी धर्म के विरुद्ध आचरण करने में या धर्म को विकृत करने में कुण्ठित नहीं होते; जो कृष्ण के परामर्श से कार्य करेगा वह अवश्य शीघ्र ही पाप के गर्त्त में जा गिरेगा। कारण, पुरातन रीति में आसक्त रहनेवाले रक्षणशील पुरुषों के मतानुसार नवीन प्रयास करना ही पाप है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पतन से समझ गये–समझ क्यों गये, वह तो भगवान् थे, पहले से ही जानते थे–कि जो प्रथा द्वापर युग के लिये उपयोगी थी उसकी रक्षा कलि में करना संभव नहीं। अतएव उन्होंने फिर वैसी चेष्टा नहीं की, कलि के लिये उचित भेददण्डप्रधान राजनीति का अनुसरण कर, गर्वित, दृप्त क्षत्रियजाति का बल नष्ट कर भावी साम्राज्य को निष्कण्टक बनाने की चेष्टा की। उन्होंने कुरुओं के समकक्ष, उनके पुराने शत्रु पांचालों को कुरुवंश-ध्वंस करने में प्रवृत्त किया, जितनी जातियां कुरुओं के प्रति विद्वेष होने के कारण, युधिष्ठिर के प्रेम के द्वारा या धर्मराज्य और एकत्व स्थापित करने की आकांक्षा से आकृष्ट हो सकती थीं, उन सबको वह पक्ष में खींच ले आये और युद्ध की तैयारी कराने लगे। संधि की जो चेष्टा की गयी उसमें श्रीकृष्ण का विश्वास नहीं था, वह जानते थे कि संधि की कोई संभावना नहीं, संधि होने पर वह स्थायी नहीं हो सकती, तथापि धर्म के लिये और राजनीति के लिये उन्होंने संधि की चेष्टा की। इसमें संदेह नहीं कि कुरुक्षेत्र का युद्ध श्रीकृष्ण की राजनीति का फल था; कुरुध्वंस, क्षत्रियध्वंस और निष्कण्टक साम्राज्य और भारत का एकत्वसंस्थापन उनका उद्देश्य था। धर्मराज्य की स्थापना के लिये जो युद्ध होता है वही धर्मयुद्ध है। वैसे ही धर्मयुद्ध के ईश्वर-निर्दिष्ट विजेता, दिव्यशक्तिप्रणोदित महारथी अर्जुन थे। अर्जुन के अस्त्रत्याग करने से तो श्रीकृष्ण का सारा राजनीतिक प्रयास ही नष्ट हो जाता, भारत में एकता स्थापित ही न होती, और शीघ्र ही देश के भावी जीवन में घोर अनर्थ उपस्थित होता।

('गीता की भूमिका' से)

परम चुंबक

गगन पर खड़ी रहकर तू हाथ नीचे की ओर कर रही है। और मैं यहांपर खड़ा रहकर हाथ ऊपर की ओर उठा रहा हूं।

किंतु बीच में अन्तर बहुत है।

यह अन्तर कौन दूर करेगा?

मैं दूर करूंगा? असंभव।

किन्तु यह अन्तर तू दूर करेगी या नहीं इसका जवाब देने के बदले तू यह क्या कर रही है?

तू मुझे खींचती है क्यों?

क्या, मैं लोहा और तू चुंबक है?

परम चुंबक! तूने हाथ बढ़ाया तब क्या पता था कि तू इस प्रकार मुझे ऊपर उठा लेगी?

बस साधन इसीका नाम! चुंबक चुंबन दे यही साधना!

–गिरधरलाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शारीरिक शिक्षण

आश्रम के "शारीरिक शिक्षण का समाचारपत्र" के इस अंक के प्रकाशन के सुअवसर पर मैं इस पत्र तथा संघ (श्रीअरविन्द आश्रम युवक-क्रीड़ासंघ) को आशीर्वाद देता हूं। ऐसा करते हुए मैं ऐसे संघों के अस्तित्व के मूल कारण पर कुछ थोड़ा विचार करना चाहता हूं, विशेषकर इनके व्यापक संगठन की ओर ऐसे खेलों एवं शारीरिक व्यायामों की, जैसे यहां आश्रम में किये जाते हैं, राष्ट्र के लिये आवश्यकता एवं उपयोगिता पर। अपने स्थूल रूप में ये केवल ऐसे खेल-कूद एवं आमोद-प्रमोद प्रतीत होते हैं जिन्हें लोग या तो मनबहलाव के लिये अपनाते हैं या शारीरिक शक्ति के तथा चेष्टा की सहज प्रवृत्ति के व्यय के क्षेत्र के रूप में या देह के स्वास्थ्य एवं बल की वृद्धि एवं रक्षा के साधन के तौर पर; किंतु ये इसकी अपेक्षा और भी बहुत कुछ हैं या हो सकते हैं: ये अत्यावश्यक आदतों, क्षमताओं एवं गुणों के विकास के क्षेत्र भी हैं और किसी भी जाति के लिये युद्ध में या शांति में, इसके राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यों में और सम्मिलित पुरुषार्थ के अनेकानेक क्षेत्रों में अत्यंत उपयोगी हैं। विषय के इसी पहलू को, जिसे हम राष्ट्रीय पहलू कह सकते हैं, मैं विशेष प्रमुखता देना चाहता हूं।

वर्तमान काल में खेल-कूद एवं व्यायाम को विशेष महत्ता प्राप्त है और ये सर्वसाधारण की विशेष रुचि के विषय हैं। ऐसी महत्ता एवं रुचि केवल प्राचीन समय में ही यूनान सरीखे देशों में देखने में आती थी,—वह यूनान जहां मानवीय कार्य-व्यवहार के सब पहलुओं का समान रूप से विकास किया जाता था और दंगल, रथ-दौड़ तथा अन्य खेलों एवं व्यायामों का शारीरिक दृष्टि से वैसा ही महत्त्व था जैसा मानसिक दृष्टि से ललित कलाओं तथा काव्य एवं नाटक का; पौर राज्य के नागरिक अधिकारिगण इन क्रीड़ाओं को विशेष रूप से प्रोत्साहित करते तथा इनमें सम्मिलित होते थे। यूनान ने ही चातुर्वार्षिक क्रीड़ोत्सवों को संस्था का रूप प्रदान किया था और हाल ही में अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में वार्षिक क्रीड़ोत्सवों का पुनः प्रचलित होना प्राचीन भावना के पुनरुज्जीवन का महत्त्वपूर्ण चिह्न है। इस प्रकार की रुचि कुछ कुछ हमारे देश में भी व्याप्त हो गई है। वार्षिक क्रीड़ोत्सव जैसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में भारत अपना स्थान ग्रहण करने लग पड़ा है। स्वतंत्र भारत में नई नई स्थापित हुई सरकार राष्ट्र के जीवन के सभी पक्षों का विकास करने में ध्यान देने लग रही है। जो क्षेत्र पहले व्यक्ति के निजी उपक्रम के ऊपर छोड़े हुए थे उनमें भी यह संभवतः उत्साहपूर्ण भाग लेगी तथा उनके बारे में आदेश-निर्देश देने की प्रथा डालेगी। उदाहरण के तौर पर, यह राष्ट्र के स्वास्थ्य तथा शारीरिक क्षमता की प्रतिष्ठा एवं सुरक्षा का प्रश्न और सर्वसाधारण जनता को इस विषय का महत्त्व समझाने के लिये प्रचार का प्रश्न अपने हाथ में ले रही है। इसी संबंध में खेलों, व्यायाम-संघों तथा इस प्रकार की सभी प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन अत्यधिक लाभदायक होगा। बाल्यकाल, यौवन तथा प्रारंभिक प्रौढ़ता में ऐसे व्यायामों में भाग लेने का स्वभाव यदि आम हो जाय तो यह बलिष्ठ एवं पराक्रमी जाति के निर्माण में अतीव सहायक होगा।

शरीर के स्वास्थ्य, बल एवं सामर्थ्य की नींव डालना भी चाहे आवश्यक है किंतु इससे भी बढ़कर महत्त्व की बात है अनुशासन, साहस तथा ठोस एवं ओजस्वी चरित्र का विकास। इस प्रकार के विकास में ये खेल-व्यायाम सहायक हो सकते हैं। ऐसे अनेक खेल हैं जो इस प्रयोजन के लिये अत्यंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयोगी हैं, क्योंकि वे शौर्य, साहस, पराक्रम-कार्य, कुशलता का उपक्रम या आह्वान, संकल्प की दृढ़ता या द्रुत निर्णय की शक्ति एवं कटिबद्धता, प्रत्युपन्न-मति अर्थात् अवसर पड़ने पर जो कुछ करना चाहिये उसकी स्फुरणा तथा वैसा करने की दक्षता—इन सब गुणों के निर्माण में सहायता करते हैं, यहां तक कि इन्हें अनिवार्य रूप से पैदा कर देते हैं। तात्त्विक सहज देह-चेतना का जागरण एक बहुमूल्य विकास है; यह चेतना मानसिक विचार का किंचित् भी संकेत पाये बिना स्वयमेव देख सकती है कि क्या करना चाहिये और फिर वैसा कर भी सकती है। शरीर में इसका वैसा ही प्रभाव है जैसा मन में तीव्र अन्तर्दृष्टि तथा चित्त में सहजस्फूर्त एवं द्रुत निर्णय की शक्ति का। साथ ही, हम यह भी कह सकते हैं कि इससे शरीर में ऐसी क्षमता उत्पन्न होती है कि यह, विशेषकर सम्मिलित उद्योग के समय, समस्वर तथा ठीक चेष्टाएं कर सकता है। ऐसी चेष्टाओं से शारीरिक श्रम का अपव्यय तथा उत्साहनाशक शक्तिक्षय भी नहीं होने पाता। सैनिक प्रस्थान या युद्धाभ्यास (मार्च या ड्रिल) जैसे व्यायामों से स्वभावतः ही इन चेष्टाओं का अभ्यास होता है और ये व्यक्ति के न सधे हुए शरीर की शिथिल एवं विक्षिप्त, असमस्वर या अव्यवस्थित या शक्तिक्षय-पूर्ण चेष्टाओं का स्थान ले लेती हैं। इन क्रीड़ाओं का एक और अमूल्य फल है प्रफुल्लता की भावना का विकास जो भावना खिलाड़ी की भावना कही जाती है। प्रिय हास्य तथा सबके प्रति सहिष्णुता एवं सम्मान का भाव, प्रतियोगियों तथा प्रतिस्पर्धियों के प्रति सद्भाव एवं सौहार्द, आत्म-संयम तथा क्रीड़ा के नियमों का सावधानतापूर्ण पालन, न्यायोचित ढंग से खेलना तथा अनुचित उपायों के प्रयोग का वर्जन, विजयी प्रतियोगियों के प्रति कटु व्यंग्य-विनोद एवं रोष या दुर्भावना के बिना जय-पराजय को समतापूर्वक स्वीकार करना, नियुक्त न्यायकर्ता, निर्णायक या पंच (रेफ़री) के निर्ण[य] विश्वासपूर्वक शिरोधार्य करना ये सब गुण [इ]... खिलाड़ी-भावना के अंतर्गत हैं। ये क्रीड़ा के लि[ये] ही नहीं अपितु सामान्य रूप से समूचे जीवन के लि[ये] महत्त्वशाली हैं। इनके विकास में खेलों से जो सहायता मिल सकती है वह प्रत्यक्ष एवं अमूल्य है। यदि ये केवल व्यक्ति के जीवन में नहीं बल्कि राष्ट्री[य] एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी, जहां कि आज वैर-विरोध की प्रवृत्तियां अत्यंत प्रचंड हो चली हैं, अधि[क] सामान्य रूप से प्रचलित किये जा सकें तो हमारे इ[स] पीड़ित जगत् में जीवन-यापन अधिक सुखकर हो जाय, और संसार को आज जिस मेल-मिलाप ए[वं] सौहार्द की नितांत आवश्यकता है उसकी महत्त्व[पूर्ण] संभावना का द्वार खुल जाय। इनसे भी अधि[क] मुख्य गुण हैं अनुशासन, आज्ञापालन, व्यवस्था [का] अभ्यास तथा मिलकर काम करने का स्वभाव [जो] कतिपय खेलों के लिये अनिवार्य रूप से अपेक्षित होते हैं। क्योंकि, इनके बिना सफलता अनिश्चित या अ[सं]भव होती है। जीवन में, विशेषतया राष्ट्रीय जीव[न] में कितने ही काम-काज ऐसे होते हैं जिनमें सा[मू]हिक कर्म का नेतृत्व तथा नेता की आज्ञा का पाल[न] युद्ध में सफलता एवं विजय या लक्ष्य-विशेष की पूर्ति के लिये आवश्यक होते हैं। नेता या कप्तान [का] महत् कार्य, उसके नेतृत्व का प्रभाव एवं कौशल उसकी आदेश देने की योग्यता, उसके अनुयायि[यों] का उसपर विश्वास तथा तुरंत आज्ञापालन [इस] प्रकार के सामूहिक कर्म वा उद्योग में बड़े भा[री] महत्त्व की वस्तु होती है; पर ऐसे लोग विरले [ही] होते हैं जो स्वयं दूसरों के साथ एकमन तथा ए[क] शरीर होकर आज्ञापालन तथा काम करने [का] अभ्यास डाले बिना इन गुणों का विकास कर सकें। शिक्षण की ऐसी कठोरता, अनुशासन एवं आज्ञा[-] पालन की यह आदत वैयक्तिक स्वाधीनता से असं[गत] नहीं; बल्कि प्रायः वह इसके उचित उपयोग के लि[ये]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य शर्त होती है, जैसे, नियम-व्यवस्था स्वाधीनता से असंगत नहीं वरन् स्वाधीनता के ठीक उपयोग के लिये तथा उसकी सुरक्षा एवं दीर्घ-जीवन के लिये आवश्यक वस्तु है। हर प्रकार के सम्मिलित कार्य में यह नियम अपरिहार्य है : लय-ताल का मेल आवश्यक होता है; ऐसी संगीतगोष्ठी को कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त हो सकती जिसमें अलग अलग गायक अपनी अपनी मौज के अनुसार गावें बजावें और अपने नायक के निर्देशों का अनुसरण करने से इन्कार करें। आध्यात्मिक विषयों में भी यही नियम ठीक बैठता है; जो साधक गुरु के मार्गदर्शन की अवहेलना करता और नौसिखिये की अशिक्षित प्रेरणाओं को अधिक अच्छा मानता है वह ठोकरों से कभी नहीं बच सकता और न ही वह उन संकटों से बच सकता है जो बहुधा आध्यात्मिक सिद्धि के पथ को सब ओर से घेरे रहते हैं। खेलों से मिलनेवाले शिक्षण से जो अन्य लाभ उठाये जा सकते हैं उनका उल्लेख करने या राष्ट्रीय जीवन में उनके उपयोग पर विचार करने की आवश्यकता नहीं; जो कुछ मैंने ऊपर कहा है वह पर्याप्त है। कम से कम, हमारे जैसे स्कूलों में तथा विश्वविद्यालयों में अब क्रीड़ाओं का सर्वसम्मत एवं अनिवार्य स्थान है; बात यह है कि मन की ऊंची से ऊंची तथा पूर्ण से पूर्ण शिक्षा भी शारीरिक शिक्षण के बिना अधूरी है। ऊपर मैंने जो गुण गिनाये हैं वे जहां बिल्कुल ही न हों या अपर्याप्त मात्रा में हों वहां, दृढ़ वैयक्तिक संकल्प या राष्ट्रीय संकल्प से भी उनका निर्माण तो किया जा सकता है परंतु उनके विकास में खेलों से प्राप्त होनेवाली सहायता सर्वथा प्रत्यक्ष है और वह किसी प्रकार नगण्य नहीं। हमारे आश्रम में इनपर जो ध्यान दिया जाता है उसके औचित्य का यह पर्याप्त कारण है, यद्यपि कुछ अन्य कारण भी हैं जिनका यहां वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिये इनका क्या महत्त्व है तथा इनसे पैदा होने या बढ़नेवाले गुणों की क्या आवश्यकता एवं उपयोगिता है, यहां मुझे बस इसी से मतलब है। जिस राष्ट्र में ये गुण अति प्रचुर मात्रा में हों वह विजय, सफलता एवं महानता के लिये सबसे अधिक शक्तिशाली हो सकता है; साथ ही, मानवजाति की एकता तथा अधिक समस्वर विश्व-व्यवस्था के जिस भविष्य की ओर हम आशापूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं उसकी चरितार्थता में सहायता करने के लिये वह सर्वाधिक समर्थ हो सकता है।

३० दिसम्बर, १९४८

(Bulletin of Physical Education में प्रकाशित श्रीअरविन्द का संदेश)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द के महाकाव्य के
एक सर्ग का श्री सुमित्रानंदन पंत द्वारा
हिन्दी रूपांतर

सावित्री

तृतीय पर्व 'भागवती माता' का द्वितीय सर्ग

भागवती माता की वंदना

(संकलित अंश)

एक पूर्ण, अवचनीय, निश्चल शांति
शुद्ध आत्मा की उपलब्धि का लक्षण है;
एक निश्चल शांति की प्राचीर उसे संसार से विभक्त किए रहती है,
एक निश्चल शांति की खाई इन्द्रियबोध को लील लेती है
और जो कुछ मन ने जाना है उसे निःसार बना देती है।

* *

हे आत्मा, यह समय से पूर्व ही आनंद मनाना है !
तूने परमात्मा की निःसीम शांति को प्राप्त कर लिया है,
तू एक प्रसन्न दिव्य गहराई में कूद गई है;
किंतु तूने अपना नियुक्त कर्म और आत्म बल कहां फेंक दिया है ?

* *

एक उच्च दारुण निषेध ही सब कुछ नहीं,
एक महा निर्वाण ही परमात्मा का अंतिम शब्द,
जीवन का अंतिम प्रयोजन, अस्तित्व के क्रम का अंत,
या इस महान् रहस्यमय विश्व का अभिप्राय नहीं।
एक निरतिशय शांति में एक परम शक्ति सोई है।
जाग्रत् होने पर वह तन्मय आत्मा को जगा सकती है
और किरण में पितृ सूर्य को व्यक्त कर सकती है :
वह विश्व को परमात्मा की शक्ति का आधार बना सकती है,
वह मिट्टी में परमात्मा की पूर्ण आकृति संवार सकती है।
आत्मा को मुक्त करना एक उज्ज्वल पग बढ़ाना मात्र है;
यहीं अपने को पूर्ण मनोरथ करना भगवान् को इष्ट था।
और जब वह सत्ता के नग्न छोर पर खड़ा हुआ
और उसकी आत्मा की समस्त कामना तथा चिंतन
एक आकृति हीन अपरिमेयता में निःशेष हो गए,
जिस दैवी सन्निधि के लिए वह उत्कंठित था वह सहसा निकट खिंच आई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम शांति की नीरवता को पार कर,
एक रहस अद्भुत परात्पर केंद्र से,
मानो अपनी आत्मा के मधुर सार-अंश में भूषित,
एक विस्मय तथा स्वच्छता की देह का
–किसी असीम और परम का आविर्भाव हुआ।
ज्ञान, शक्ति और आनंद की एक सत्ता ने,
जिस प्रकार मा बच्चे को अपनी बांहों में खींच लेती है,
निसर्ग, विश्व और आत्मा को छाती से चिपका लिया।

* *

उस सर्व शोभामयी की क्षण भर की मधुरिमा ने
विश्व आवर्त के थोथे अभिमान को निरस्त कर दिया।
निश्चेतन विश्व में एक महान् दिव्य हृदय से स्पंदित
एक परा प्रकृति का आभास मिला;
उसने श्वास को एक सुखद रहस्य बना दिया,
और वह एक प्रेम लाई जो दुःख को सुख से धारण कर सके;
जीवन में एक गूढ़ उल्लास का समर्थन कर
उसने आत्मा को अपने लोकोत्तर गति क्रम पर संलग्न रखा;
अमर मान्यताओं को काल की घड़ियों की ओर प्रधावित कर
उसने सूर्यों के प्रयास का प्रयोजन सिद्ध किया।

* *

एक परम मातृशक्ति विश्व के ऊपर बैठी चिंतन करती थी;
एक परम चेतना ने, जो कुछ है उसे अतिक्रम कर
और कुछ भी वर्जित न कर, अपना अलौकिक स्वरूप प्रकट किया :
हमारे अधोनत मस्तकों के ऊपर अक्षय स्थित
उसे एक परम हर्षमय अविचल महाशक्ति का अनुभव हुआ।
परम अमर सत्य प्रकट हुआ,–
उन सब पदार्थों की महत् क्षमता शक्ति
जिनका यहां निर्माण और फिर विनाश होता है,
सकल देव सत्ताओं तथा समस्त सामर्थ्यों की परम माता
जो, मध्यवर्तिनी की तरह, पृथ्वी को परमात्मा से संयुक्त करती है।
वह पहेली नहीं रही जो हमारी प्रकृति की निशा को शासित करती है,
आवृत करनेवाली अविद्या अगुंठित और निहत हो गई;
उसका भ्रम का मन वस्तुओं से अपहृत हो गया
और उसकी विपर्यासकारिणी इच्छा शक्ति की मंद वृत्तियां भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके सर्वदर्शी सारूप्य से उद्भासित होकर
ज्ञान और अज्ञान के प्रयत्न अधिक नहीं चल सके;
विश्व प्रपंच के विरोधी छोर, किमाकार द्वंद्व,
हमारे और उसके बीच अपने छायाभास डालकर
अपने दुहरे व्यवधान का भ्रम और अधिक आरोपित नहीं कर सके।
अपनी ही कृतियों से परिच्छन्न, पूर्ण विवेक निकट ही था,
जिसका यह तमोवृत विश्व परिधान है।
सत्ता अब लक्ष्य हीन अधःपतन नहीं प्रतीत होती थी,
निर्वाण ही केवलमात्र निस्तार नहीं जान पड़ता था।
चिर अपेक्षित सूत्र, गूढ़ महाशब्द मिल गया था,
हमारी आत्मा के उद्भव का अर्थ प्रकट हो गया था,
जो भौतिक पदार्थों की अचेतनता में
और मर्त्य जीवन के परिभव में
अपूर्ण देह और मन का दंड भोग रही है।
विस्तृत रिक्त दिक् प्रसारों में एक महत् हृदय का अनुभव हुआ,
शुभ्र आध्यात्मिक स्रोतों से एक ज्वलंत दिव्य प्रेम ने
ज्ञान हीन गहराइयों के शोक को निःशेष कर दिया;
संताप उस महा देवी की अमर स्मिति में खो गया।
अगम अतीत से यहां की नश्वरता का विजेता एक महत् जीवन विकसित हुआ;
मन के लिए भ्रम में पड़ना अब और स्वाभाविक नहीं रहा;
जहां सब प्रकाश और प्रेम था वहां असत्य प्रवेश नहीं कर सका।
निराकार और साकार उसमें संयुक्त हो गए।
अपरिमेयता को एक दृष्टि अतिक्रम कर गई,
एक दिव्य मुख ने घनीभूत अनंत को प्रकाशित कर दिया।
उसके अंगों में अनिर्वचनीय रूप से मूर्त्तिमान् होकर
अंध विश्व शक्तियां सीमा हीन आनंद खोजने लगीं,
उसकी शोभा की देह ने आनंद के सिन्धुओं को चंद्र दीप्त कर दिया।
जन्म, आयास और नियति के ऊपर उसका स्थान है,
अपने मंथर क्रम में वृत्त-संचरण उसके आह्वान की ओर अग्रसर होते हैं;
केवल उसी के कर महाकाल वासुकि से संरक्षित आधार को बदल सकते हैं।
महारात्रि उसी के रहस्य को अंतर्हित किए है;
चेतना की चमत्कारिणी शक्ति उसी की है;
वह सुनहला सेतु तथा आश्चर्यजनक अग्नि है।
अदृष्ट का ज्योतिर्मय हृदय वही है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा की गहराइयों में नीरवता की एक शक्ति;
वह परम शक्ति, अनिवार्य महाशब्द है,
हमारे दुष्कर आरोह की चुंबक,
वह परम सूर्य जिससे हम अपने सूर्यों को प्रज्वलित करते हैं,
वह परम ज्योति जो अननुभूत महा प्रसारों से बढ़ती है,
वह आनंद जो असंभव से इंगित करता है,
उस समस्त की महाशक्ति जो आज तक कभी नीचे नहीं उतरा।
संपूर्ण विश्व प्रकृति मूक भाव से उसी को पुकारती है
कि वह अपने पदों से जीवन की दुखती हुई धड़कन का उपचार करे
और मनुष्य की धुंधली आत्मा पर मुद्रित चिह्नों को तोड़े
तथा पदार्थों के रुद्ध हृदय में अपनी आग सुलगाए।
एक दिन यहां सब कुछ उसकी मधुरिमा का धाम बन जाएगा
समस्त विरोध उसके सामंजस्य की तैयारी करते हैं;
हमारा ज्ञान उसी की ओर आरोहण करता है,
हमारी कामना उसी को अंधकार में खोजती है,
उसके अलौकिक आनंदाधिक्य में हमारा अधिवास होगा,
उसका परिरंभ हमारे दुःख को परमानंद में बदल देगा।
हमारी आत्मा उसके द्वारा सबकी आत्मा से एक हो जाएगी।
उसमें रूपांतरित हो जाने के कारण उसी में प्रतिष्ठित होकर
हमारा जीवन अपने पूर्ण काम उत्तर में
ऊपर, निःसीम मौन अपवर्गों को पाएगा
नीचे, दैवी परिरंभ का विस्मय!
मानो परमात्मा के विद्युत् गभीर स्फुरण में इसका आभास पाकर
शाश्वत पदार्थों के हर्षातिरेक ने उसके अंगों को ओतप्रोत कर दिया;
उसका हर्षोन्मत्त इन्द्रिय ज्ञान आश्चर्य क्रांत हो उठा;
उसकी आत्मा को उस महादेवी की असहिष्णु शिखा ने पकड़ लिया।
एक बार देख लेने पर उसके हृदय ने उसी को अंगीकार किया।
केवल एक निःसीम महानंद की भूख शेष रह गई।
समस्त प्रयोजन उसमें खो गए और उसमें फिर प्राप्त हो गए;
उसका आधार एक आवर्त शिखर में एकाग्र संगृहीत हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोक के पथ पर

(२)

युक्ति और योग

युक्ति से कुछ भी प्रमाणित नहीं होता। युक्ति तो केवल एक यंत्र है—एक हथियार; उसे हर तरह का हाथ एक-जैसे कौशल के साथ चला सकता है। शैतान का भी अपना वकील होता है।

हमारा जो अनुभव, जो अन्तःप्रेरणा, जो आदर्श है, उसी के दावे और प्रयोजन के अनुसार—उसी को 'प्रमाणित' करने के लिये—हम युक्ति को, युक्ति के अंगोपांग को केवल सुसज्जितमात्र किया करते हैं।

अतएव प्रमाण के प्रामाण्य में युक्ति का अपना जोर नहीं; प्रामाण्य होता है युक्ति की आड़ में रहनेवाले प्रच्छन्न अनुभव, प्रेरणा, आवेग, आदर्श की सत्यता में।

जिसे सत्य कहते हैं सो सत् अर्थात् 'है', इसी लिये सत्य कहलाता है: वह प्रमाणनिरपेक्ष होता है; उसे तो केवल साक्षात् देखना होता है, प्रत्यक्ष करना होता है।

सामने जो वृक्ष खड़ा है, उसका प्रमाण है आंखों से उसे सरासर देखना। भगवान् हैं, आत्मा है, अमृतत्व है, दिव्य जीवन है—इन सबका प्रमाण भी वही एक साक्षात् दर्शन है।

कह सकते हो, वृक्ष को मैं देख रहा हूं, तुम देख रहे हो, वह देख रहा है—सब देख रहे हैं और देख सकते हैं। किंतु भगवान् आत्मा, अमृतत्व देव-जीवन—इन्हें तुमने देखा भी हो तो मैंने नहीं देखा, सबने नहीं देखा—न देख ही सकते हैं।

सबने नहीं देखा, किंतु बहुतों ने देखा है—युग युग में, देश-देशांतर में। तुम भी देख सकते हो, मैं भी देख सकता हूं—यदि देखने की जो विशेष विधि-व्यवस्था है, उसका पालन किया जाय।

यदि लंदन देखना हो तो लंदन तक जाना होगा, जहाज में बैठकर;—घर बैठे लंदन नहीं दिखाई देता, इसलिये लंदन का अस्तित्व नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पॉजिट्रन देखा है?—निउट्रन देखा है? कितनों ने देखा है? देखने के लिये लैबोरेटरी में जाना होता है, किसी विशेष विद्या को आयत्त करना होता है।

जो विद्या भगवान् का—आत्मा का साक्षात् दर्शन कराती है, अमृतत्व का—देवजीवन का स्पर्श दान करती है, उसी का नाम है योग-साधना।

(३)

जीव की साधना

प्रत्येक जीव स्वाधीन—स्वतंत्र—है।

सृष्टि में उसके आविर्भाव के रहस्य, उसकी अपनी सार्थकता—उसकी सत्ता की चेतना की क्रमबद्ध अभिव्यक्ति, क्रमबद्ध परिणति का अर्थ है भगवान् की ओर प्रगति।

जीवन अभिज्ञता के क्षेत्र का दूसरा नाम है। नाना जन्मों के भीतर से, मृत्यु के बाद मृत्यु को पार करते हुए, बहु जनों के साथ बहुल संबंध जोड़ते हुए जीव इसी अभिज्ञता को—अनुभव को—बटोरता चला जा रहा है। इस अभिज्ञता का फल और लक्ष्य है चेतना को गभीरतर, बृहत्तर, ऊर्ध्वतर बनाना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी विशेष देश, विशेष काल, विशेष परिस्थिति में जीव जिस शरीर को धारण करता है, उसका उद्देश्य होता है किसी विशेष अभिज्ञता का आहरण, किसी विशेष उपलब्धि का अर्जन करना। अपने इसी प्रयोजन के अनुसार वह देश-काल-परिस्थिति, आत्मीय-परिजन, आदि में हेर-फेर करता रहता है–सब तरह के संबंध उसके निकट 'आत्मनस्तु कामाय'–अपनी, अपनी आत्मा की सार्थकता के लिये होते हैं।

★

विशेष अभिज्ञता की उपलब्धि के लिये किसी विशेष जन्म की आवश्यकता होने पर भी उस अभिज्ञता की उपलब्धि के उपयुक्त, बाधाविपत्तिहीन, सर्वांगसुन्दर, आदर्श व्यवस्था भी जीव को मिलेगी, ऐसा नहीं। उसी अभिज्ञता की उपलब्धि के लिये ही शायद ऐसी व्यवस्था आवश्यक होती है जो ज़टिल होती है, कुटिल, बंधुर, विघ्नसंकुल होती है।

बाह्यजीवन अज्ञानमय प्रकृति का जीवन है; द्वंद्व-संघर्ष अप्रीतिकर क्लेशकर विपत्ति का क्षेत्र है। उसमें लक्ष्य से विपरीत परस्पर-विरोधी शक्तियों की क्रीड़ा चला करती है। जीव जब इस अज्ञान के क्षेत्र में उतरकर आता है, तब उसे अन्तरात्मा के लिये आवश्यक आहार जुटाना होता है–इसी जंजाल के भीतर से। दुःख-कष्ट, भूल-भ्रांति, द्वंद्व-विरोध आदि के भीतर से चलते चलते उसे नीलकण्ठ बनना होता है।

अवश्य ही साक्षात् रूप से अनुकूल उपकरण भी उसे न मिलते हों ऐसा भी नहीं है। प्रीति-सम्मेलन, निर्विरोध सहयोग उसके सहायक हो सकते हैं, किंतु इन सबको भी वह ग्रहण करता है–वही 'आत्मनस्तु कामाय', अपने प्रयोजन–अपनी अन्तरात्मा के प्रयोजन–के अनुसार; ये सब उसे कहां तक भगवान् की ओर ले जाते हैं–उसी हिसाब से। किंतु इन सबका परिमाण जीवन में होता कम ही है। कारण, वर्तमान समय में बाह्यजगत्, व्यावहारिक जीवन-क्षेत्र अंध, अज्ञानमयी प्रकृति का–राजस और तामस शक्तियों का–राज्य है।

तथापि इसी अज्ञान-राज्य में जीव के, अन्तरात्मा के अवतरण का अर्थ है–एक ओर इसका दमन करके, इसे जय करके, मंथन करके इसी के भीतर से अपने लिये अमृत का आहरण करना, दूसरी ओर अपनी ही इस विजय के अमृतत्व-लाभ की इसी साधना के फलस्वरूप बाह्य प्रकृति को भी परिवर्तित–रूपांतरित–करना।

इसी दृष्टि से जीव भगवान् के हाथों का यंत्र है। उसकी अपनी पूर्ण सार्थकता के भीतर से ही एक सार्वभौम, समष्टिगत सार्थकता पृथ्वी पर प्रकट और प्रतिष्ठित होती जा रही है।

–नलिनीकांत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक शब्दावलि

(२)

आत्मभाव–सत्ता का आत्म-रूप में स्फुरण (बौद्ध-मत में वह अतात्त्विक है)।

आदिक्षान्त–'अ' से लेकर 'क्ष' तक संपूर्ण वर्णमाला (देखो, 'अक्षमाला')।

आवृत–आविष्ट (श्रु)।

आ-भास–तात्त्विक विच्छुरण (शा)।

आभास–अतात्त्विक प्रतिबिंब (वे); अस्फुट प्रकाश।

आलंबन–प्रत्यय या बोध का कारण; विषय। भाव का उद्बोधक।

आशय–स्फुरण के पहले का आश्रय, बीज-भाव का आधार।

इन्द्रियसंवित्–विषय के साथ इन्द्रिय के संयोग से जनित ज्ञान।

ईशना–(ईश्वरीय) अकुंठ सामर्थ्य (शै), आधिपत्य।

उदयनीय-यज्ञ–संवत्सरव्यापी सोमयाग का अंत्य पर्व जो अमृतचेतना में यजमान का आरोहण संपादित करता है (श्रु)।

उन्मनी–परा-संवित् की उपांत भूमि पर स्वतंत्र-शक्ति के उल्लास में स्फुरित दिव्य मनन (शा)।

उपाधि–(स्वरूप का) संकोचसाधक धर्म।

ऋतायन–ऋत के या विश्व के शाश्वत-विधान के छंद में सजा लेना (श्रु)।

एकविज्ञान–एक मूल तत्त्व को जानकर उसकी सभी विचित्रताएं जानना (वे)।

कंचुक–स्वरूप का आवरण (शै)।

कर्मकर्तृत्व–कर्ता के अपने ऊपर ही क्रिया का परा-वर्तन।

कवि-क्रतु–दिव्यदर्शन से युक्त अकुंठ सर्जनेच्छा वा संकल्पशक्ति (वै)।

कलना–प्रचलन, प्रसरण। क्रिया-शक्ति का स्फु (शै)।

कला–कृतिशक्ति का विशिष्ट स्फुरण (शै)।

कल्पन–भावमय रूपकृति (श्रु)।

कायसंपत्–शरीर का रूप लावण्य, बल और व दृढ़ता (सा)।

कुहक–अमूल प्रत्यक्ष।

कैवल्य–आत्मा का असंग स्वरूप में अवस्थान।

कोटि–चरम प्रांत। आदर्श।

क्रतु–सिसृक्षा, सृष्टिसामर्थ्य; संकल्पशक्ति (श्रु)।

क्रिया-द्वैत–अभेद-व्यवहार।

क्षणभंग–उत्पत्ति के बाद ही विनाशहेतु क्षणस्थायि की परंपरा (बौ)।

चिदाभास–रूप या विग्रह में चित्सत्ता का स्फुरण

च्युति–एक जीवन-पर्व का अंतिम क्षय-मुहूर्त जो दूसरे एक पर्व की सूचना लाता है (बौ)।

जगती–जगत्-सत्ता का छंद (श्रु)।

जाति-धर्म–'जाति' या जन्म के साथ स्वीकृत स्व की विशेषता।

जीवघन–विश्वप्राण-रूप में घनीभूत (श्रु)।

जीवनयोनि-प्रयत्न–प्राण की जिस क्रिया का आ लेकर जीवन चलता है।

जीवितेन्द्रिय–प्राणलीला की वाहनरूपी इन्द्रिय (बौ

ज्योतिष्टोम–प्रकाश के स्वर का स्तोत्र (श्रु)।

तटस्थ–निरपेक्ष।

तटस्थ-शक्ति–मध्यवर्ती शक्ति (वै)।

तत्त्वभाव–स्वरूप का सत्य (एवं उसका अनुभव)

तादात्म्य–(विषय-विषयी का) अभेदभाव (वे)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागवत संभूति*

श्रीअरविन्द का संदेश

जिन्हें 'दिव्य जीवन (दि लाइफ डिवाइन)' पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे निःसंकोच श्रीअरविन्द को प्रभावशाली विचारकों की श्रेणी में उच्च पद पर प्रतिष्ठित करेंगे, और उनकी अध्यात्मजीवन-विषयक महान् व्याख्या को वर्तमान युग का एक प्रधान ग्रंथ किंवा सबसे प्रधान ग्रंथ मानेंगे जैसा कि एक प्रामाणिक विद्वान् ने बलपूर्वक समर्थित किया है। गुह्यवेत्ता में अत्युच्च कोटि के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा सर्जनशील विचारक तीनों के विशाल गुणों का संयोग प्रायः दुर्लभ होता है, पर श्रीअरविन्द की कृति में दृष्टि की तीव्रता मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से तथा उच्च, तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म बुद्धि की विशदता से संतुलित है।

भारतीय विचारक, अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में, समन्वयकारी दृष्टि से विभूषित होता है। यह दृष्टि पश्चिम की विश्लेषणात्मक बुद्धि को प्राप्त नहीं।

---

*यह लेख "The Wind and the Rain" इंगलैंड की एक प्रतिष्ठित त्रैमासिक पत्रिका का है। इसने अपना सन् '४८ का ग्रीष्मांक 'भारत विशेषांक' के रूप में निकाला और उसमें विशेष रूप से श्रीअरविन्द और श्री आनंद कुमार स्वामी के अध्ययन प्रस्तुत किये। संपादकीय में कहा है :–

"भारत का अध्ययन तथा इसकी सभ्यता पर विचार-विमर्श करते हुए यह स्मरण रखना अच्छा होगा कि इसकी सभ्यता यूनान तथा रोम दोनों की सभ्यता से प्राचीन है। यह तथ्य हम प्रायः ही भूल जाते हैं। इसी कारण संसार की विचारधारा का बहुत बड़ा भाग रोमन-हीलेनिक परिभाषाओं में ही देखने में आता है। यह आवश्यक है कि हम इसे मिश्र, मेसोपोटामिया तथा भारत (Indus Valley) से भी समान रूप से प्रवाहित होता देखें। अतः यहां जो श्रीअरविन्द और स्वर्गीय आनंदकुमार स्वामी इन दो भारतीय विचारकों की कृतियां ही विचार के लिये छांटी गई हैं तो इसका कारण यह नहीं कि हम केवल इन्हें ही प्रस्तुत करना चाहते थे बल्कि स्थान परिमित होने के कारण हम अधिक विस्तृत चुनाव नहीं कर सके।"

श्रीअरविन्द का अध्ययन एक आईर (Eire) देश की विदुषी महिला का है और कहना होगा कि यह अध्ययन आश्चर्यजनक है। पत्रिका के ग्यारह पृष्ठों में लेखिका महोदया ने श्रीअरविन्द का जीवन-दर्शन वास्तव में पूर्णत्व के रूप में उपस्थित किया है। लेख से साफ है कि उन्हें श्रीअरविन्द के विस्तृत साहित्य से केवल परिचय ही नहीं बल्कि उसका उन्होंने रसपान भी कर रखा है।

लेखिका महोदया तथा पत्रिका के माननीय संपादक ने लेख को उद्धृत और अनूदित करने की हमें सहर्ष आज्ञा दी है जिसके लिये हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं।

इस लेख के तीन खण्ड हैं जिन्हें हम बारी बारी तीन अंकों में प्रकाशित करेंगे। –सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समन्वय की, निष्पक्ष विवेचन तथा विशद वर्णन की यही शक्ति आध्यात्मिक जीवन के इस भारतीय गुरु की प्रतिभा का एक अत्यंत प्रभावपूर्ण गुण है।

श्रीअरविन्द जिस जिज्ञासा से 'लाइफ डिवाइन' का सूत्रपात करते हैं उसका स्वरूप, उनके अपने ही शब्दों में, इस प्रकार है—'जड़ जगत् में चेतन प्राणियों के रूप में हमारे जीवन का सच्चा अर्थ एवं मर्म क्या है और वह मर्म एक वार पता चल जाने पर हमें किस ओर तथा कितनी दूर, किस मानवीय या दिव्य भविष्य की ओर ले जाता है।' यह एक ऐसी यात्रा है जिसमें हमें एक हजार एक सौ छयासी, सूक्ष्मतर्क-ग्रथित, पृष्ठों का पारायण करना होता है। प्राचीन वैदिक मनीषियों की विचारधारा का पुनः मूल्य-निरूपणमात्र इसका उद्देश्य नहीं, जिस विचारधारा में, कहा जाता है कि, 'आत्मा, मानव और विश्व के संबंध में हमें, विशालतम एवं गभीरतम, अद्यावधि जीवित समन्वयात्मक-दृष्टि उपलब्ध होती है' और न ही इसका लक्ष्य है गीता की विचारधारा के महत्त्व का केवल पुनः प्रतिपादन जो गीता कि उपनिषदों के मूल वेदांत पर प्रतिष्ठित है, बल्कि इसका ध्येय है उस प्राचीन आधार पर मानवजाति के जीवन में चेतना के उच्चतर तत्त्व की ओर अभिनव आरोहण का आदर्श निर्मित करना। इस नूतन आध्यात्मिक विकास—अथवा महान् परिवर्तन—को श्रीअरविन्द ने 'विज्ञान' अथवा आध्यात्मिक अस्तित्व का नाम दिया है।

गीता की शिक्षा 'लाइफ डिवाइन' का मूल आधार है। अतएव 'गीता-प्रबंध (Essays on the Gita)' के दो भागों में ही इस महत्तर ग्रंथ के आधार-भूत मूल तत्त्व पाये जा सकते हैं, यद्यपि सच तो यह है कि ये गीताविषयक निबंध पीछे प्रकाशित हुए हैं। इंजीलों की भांति, पक्षपातपूर्ण दृष्टि से पढ़े जाने के कारण, गीता की भी बहुत दुर्दशा हुई है। भिन्न भिन्न संप्रदायों के मंतव्य पुष्ट करने तथा निवृत्तिवाद एवं निर्गुणवाद से इसका मेल बैठाने के लिये इसके श्लोक अपने प्रकरण से खण्डित कर डाले गये हैं, यद्यपि समूचे मूलग्रंथ का निष्पक्ष अनुशीलन करने पर निवृत्तिवाद एवं निर्गुणवाद का वहां तनिक भी आधार नहीं मिलता। गीताविषयक निबंधों का उद्देश्य यह है कि दुराग्रहपूर्ण या पक्षपातयुक्त विचार की पुष्टि के लिये खींचातानी किये बिना गीता को फिर से इसकी दृष्टि की समग्रता प्रदान की जाय और वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुरूप एक नई शैली से इसकी शिक्षा प्रतिपादित की जाय। इसके फलस्वरूप हमें मूलग्रंथ की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। ईश्वर का स्वरूप, मनुष्य की प्रकृति तथा भवितव्यता, उसका अपने स्रष्टा से मिलन होने पर प्रेम का चरम दिव्यानंद—इन सबके संबंध में जो भारतीय विचार है उसका पूर्ण ओज एवं सौन्दर्य इस व्याख्या में विशद रूप में आविष्कृत हुआ है।

गीता का प्रारंभ एक आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक पहेली हल करने के लिये हुआ है; अतः यह मुख्य रूप में दार्शनिक निबंध नहीं, चाहे इसका तत्त्वज्ञान इसकी शिक्षा को अनुप्रेरित एवं दृढ़ करता है। वह पहेली है कर्म की पहेली। मनुष्य संसार में कर्म कैसे करे, क्योंकि 'कर्म जीवन का बहुत बड़ा भाग है और मनुष्य के अस्तित्वसंबंधी मूल्यों की कसौटी तथा निर्धारित शक्ति है', और कैसे फिर वह पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त करे? क्या कर्म दिव्य जीवन से असंगत है? इस समस्या का समाधान करने में गीता एक ऐसे मनुष्य का अशुभ दृष्टांत लेती है जिसके सामने एक भीषण युद्ध चलाने तथा अपने बंधु-बांधवों का संहार करने का कार्य उपस्थित है, और इस आधार पर यह अपना प्रवृत्तिपरक सिद्धांत स्थापित करती है कि कर्म के मूल उद्गम के प्रति आध्यात्मिक अभिमुखतापूर्वक प्रारंभ किया हुआ कर्म आध्यात्मिक निवृत्ति को अतिक्रांत कर जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी अभिमुखता प्राप्त करना, अहं के दूषित प्रेरकों के अनुसार नहीं बल्कि भागवत संकल्प से एकस्वर होकर कर्म करना इसकी शिक्षा का केंद्रीय मर्म है। एक शब्द में, यह ज्ञान, संकल्प एवं भक्ति का समन्वय करनेवाला पूर्णयोग का 'पथ' है; क्योंकि हृदय, मन तथा इच्छाशक्ति के–संपूर्ण सत्ता के–निःशेष आत्मदान से ही आत्मा सिद्धि एवं पूर्णता प्राप्त कर सकती है। पूर्णताप्राप्त मनुष्य 'अपने किसी एक ही पार्श्व या अंश से नहीं, अकेले अध्यात्मभावित मन से, हृदय के तीव्र पर संकीर्ण प्रखर प्रकाश से अथवा कर्मगत इच्छाशक्ति की एकाकी अभीप्सा से नहीं, वरन् अपनी सत्ता तथा अपनी संभूति के, अपने स्वभाव एवं स्वधर्म के, अपनी आत्मा तथा अपनी प्रकृति के सभी पूर्णप्रकाशित पथों से' ईश्वर के पास पहुंचता है।

इस योग का आधार है विश्वमयता का विचार और यह ज्ञान कि ईश्वर विश्वातीत तथा अन्तर्यामी सद्वस्तु है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि भागवत सत्ता की तीन नित्य अवस्थाएं हैं; प्रथम, सनातन एवं अक्षर स्वयंभू-सत्ता, सभी सत् पदार्थों का आधार एवं आश्रय; दूसरी, प्रकृतिगत क्षर आत्मा जिसे प्रकृति सर्वभूत के रूप में व्यक्त करती है; और तीसरी, परात्पर भगवान्, जो एक साथ इन दोनों अवस्थाओं में रह सकता है 'क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं को चाहे पृथक् पृथक् लें चाहे एक साथ फिर भी वह इनसे भिन्न तथा इनसे अधिक कुछ है। जड़तत्त्व 'आत्मा का ही सत्त्व तथा शक्ति है और यदि यह और कुछ हो तो इसकी अस्ति संभव ही नहीं, क्योंकि ऐसी कोई भी चीज सत् नहीं हो सकती जो ब्रह्म का सत्त्व तथा शक्ति नहीं'। यह 'शक्ति से उत्पन्न एक रचना है, और मन तथा प्राण उसी शक्ति की उत्कृष्ट रचनाएं माननी होंगी। यदि हम विश्वात्मा का अस्तित्व स्वीकार करें तो, वह शक्ति इसी आत्मा की ही होगी; प्राण तथा मन आध्यात्मिक शक्ति की स्वतंत्र रचनाएं होंगे और ये स्वतः आत्मा की शक्तियां एवं अभिव्यक्तियां होंगे'। और फिर, जड़तत्त्व है '(दिव्य) आनंद जो अपने आपको अपनी ही चेतना के सम्मुख विषय के रूप में... बाह्य ज्ञान तथा कर्म के और सत्तासंबंधी आनंद के रूपवान् आधार के तौर पर प्रस्तुत करता है'। यह बल या शक्ति ईश्वर की शुद्ध सत्ता में 'उसकी सत्ता से अविच्छेद्य स्वभावसिद्ध आत्म-चैतन्य द्वारा उद्भूत होती है... यह चैतन्य अपने को चेतना की गति की शक्ति के रूप में प्रकट करता है जो चेतना शक्तियों, पदार्थों तथा लोकों की उत्पादक है'। अतएव, इस आध्यात्मिक अद्वैतवाद में आत्मा तथा प्रकृति में, चेतन तथा जड़ में कोई विरोध नहीं। संबंध जोड़नेवाला माध्यम है 'चैत्य या आत्म-शक्ति, और प्रारंभिक क्रिया आध्यात्मिक एवं गुणात्मक है, न कि भौतिक एवं परिमाणात्मक'। चरम और प्रधान सद्वस्तु-विषयक यह विभावना कुछ आधुनिक भौतिकशास्त्रियों के विचार से संगत है जो भौतिकशास्त्री जड़तत्त्व की परिभाषा यों करते हैं कि यह शक्ति या चेतना से जन्य वस्तु है। श्रीअरविन्द के विचार में सत्तामात्र चेतना की इस अद्वितीय, स्वाभाविक शक्ति से धारित है, जो शक्ति जीवन के अचेतन तथा निम्नतर रूपों में गहरी अन्तर्लीन है और मनुष्य में केवल कुछ ही अंश में उन्मुक्त है। चेतना की यही अविकसित शक्ति हमारे सभी दोषों, विफलताओं तथा भ्रांतियों की उत्तरदायी है। पाप और दुःख इसी से पैदा होते हैं क्योंकि वे :–

'विकारजनक चेतना की रचनाएं हैं जो कार्यतः भावात्मक पर मूलतः अभावात्मक हैं; यह चेतना अपने आपके अखण्ड एवं एकीकारक ज्ञान से च्युत होकर विभाजन एवं आंशिक अनुभव की किसी भ्रांति के गर्त में आ गिरी है। यह है मनुष्य का पतन जो बाइबल के प्रथम काण्ड के काव्यमय दृष्टांत में निर्दिशित है... ईश्वर तथा अपने आपपर या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूं कहना चाहिये कि अपनेमें विद्यमान ईश्वर पर पूर्ण एवं शुद्ध विश्वास से भ्रष्ट होकर भेदकारक चेतना में पतन जो चेतना . . . अपने संग विभक्त सत्ता का फल लाती है'।

यह वही 'पूर्ण एवं शुद्ध विश्वास है' जिसका ईसा ने अपने श्रोताओं को निरंतर आदेश-उपदेश दिया है और बालक की सहज एकत्व-बुद्धि तथा शुद्धहृदय मनुष्यों की सर्वमयता द्वारा जिसकी ओर निर्देश किया है।

चेतना अपने आप स्थिति, अवस्था और क्रिया में परिवर्तनशील है। स्थूल संसार की रचना में, जड़ के अंदर प्रवेश करने से यह अचित् में तिरोहित हो गई है और इस अज्ञान में से विकसित होकर अवश्य अपनी पूर्णता पुनः प्राप्त करेगी। अपने उच्चतम स्तर पर यह अतिमानस, विज्ञान-ज्योति, ईश्वर की ऋत-चेतना है; अधिमानस अविद्या में इसका मध्यवर्ती स्तर तथा प्रतिनिधि है। अविद्या के अंधकार तथा इस 'प्रकाशमय अधिमानसिक प्रभामंडल' के बीच हमारा मानवीय मन, या जिस चीज को हम अपना मन कहकर पुकारते हैं वह 'उपरितल की मानसिक क्रिया'—चेतना की समग्रता से जिसका भेद सर्वथा स्पष्ट हृदयांकित रखना चाहिये—अंधकार से प्रकाश की ओर आरोहण के लिये संघर्ष करती है। इस प्रकार श्रीअरविन्द की दृष्टि में, चेतना, किसी न किसी अवस्था में, सत्तामात्र का मूलतत्त्व है। वे इसे 'सत्तागत आधारभूत वस्तु' कहते हैं। मानव प्राणी में चेतना मन के ऊपर भी है तथा नीचे भी, यह चेतना अपने दबाव का क्षेत्र बदलती रहती है, और ज्यों ज्यों यह ऊपर चढ़ती है त्यों त्यों इसकी सर्वांगीणता में वृद्धि होती जाती है। मनोविश्लेषण-विज्ञान की उन्होंने इस प्रकार आलोचना की है कि यह अवचेतन की भूमिका पर अत्यधिक बल देता है और 'नीचे से ऊपर की ओर देखना तथा निम्नतर अंधकारों से उच्चतर प्रकाशों की व्याख्या करना' चाहता है। पर वे अपने 'योग के आधार' में कहते हैं 'अवयव को जान सकने से पहले तुम्हें संपूर्ण अवयवी को जानना होगा और निम्नतम को ठीक ठीक समझ सकने के पूर्व तुम्हें उच्चतम को जान लेना होगा'।

चेतना का जो क्षुद्र क्षेत्र हमने विकसित किया है उसमें हम अपनी प्रकृति तथा संसार की प्रकृति के संबंध में कुछ एक अधिकांशतः भ्रांतिपूर्ण मानसिक धारणाएं बना लेते हैं जो हमारे जीवन-व्यवहार के अपरिष्कृत स्वार्थपूर्ण प्रयोजन पूरा करती हैं, किन्तु जो जीवन की मूल समस्याएं हल करने में असमर्थ हैं, क्योंकि हमारी चेतना की सीमितता अनुभव को निरंतर मिथ्या बनाती रहती है; मनरूपी अपूर्ण साधन द्वारा वह इसके अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकती। प्रकृति तम, रज और सत्त्वरूपी तीन गुणों की मनोवैज्ञानिक क्रिया में हमें अहं, कामना तथा व्यक्तिगत संकल्प के आधिपत्य के वशीभूत कर देती है। इन भ्रमों से घिरे हुए हम सच्चा आत्मज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, अतएव संसार का ईश्वर का ज्ञान भी नहीं, क्योंकि तर्क-वितर्क तो तभी निर्णायक हो सकता है 'यदि वस्तुओं का बोध जिस पर यह अवलंबित होता है सच्चा तथा सर्वांगीण प्रत्यक्ष ज्ञान हो'। इस कसौटी पर मानसिक ज्ञान सदा सच्चा नहीं उतर सकता, यहां तक कि सबसे अधिक सुगमतया ज्ञातव्य सत्ता अर्थात् स्थूल संसार की सत्ता के ज्ञान के संबंध में भी यह निर्णायक नहीं हो सकता और फिर मानसिक बोध की सीमा का अतिक्रमण करनेवाले सत्ता के स्तरों की शृंखला का ज्ञान तो दूर की बात रही।

ऐसी दशा में मनुष्य स्वभावतः पूछ सकता है कि वह कर्म के विशुद्ध अनाविल स्रोत प्राप्त करने और 'उच्चतम अन्तरात्मा तथा, आत्मा में रत रहनेवाले आन्तर जीवन के साथ मनुष्य के पूर्ण-सक्रिय बाह्य जीवन का' समन्वय करने की आशा कैसे रख सकता है। गीता उत्तर देती है कि वह ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के समन्वय से ऐसा कर सकता है। (खण्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिंसा और अध्यात्मवाद*

डा. इन्द्रसेनजी ने नवम्बर की 'अदिति' में 'जीवन साहित्य' के 'ईश्वरशरणता बनाम अहिंसा' (जून १९४८) नामक लेख के उत्तर में 'अहिंसावाद का सांस्कृतिक आदर्श' नामक लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने उक्त लेख के वातावरण को 'बहुत ही उदार और स्वतंत्र' बताया है तथा उसपर अपना 'अपूर्व आनंद' प्रकट किया है। हमारे दृष्टिकोण को 'समन्वयात्मक' कहकर उसके साथ अपनी 'सहानुभूति' प्रदर्शित की है। आपके इन भावों के लिये हम बहुत कृतज्ञ हैं। वे खुद भी जिस सूक्ष्मता, तटस्थता और सौम्यता से इस सुन्दर चर्चा को चला रहे हैं उसके लिये हमारे पाठकों के धन्यवाद-भाजन हैं।

उक्त लेख में आपने 'जीवन साहित्य' के 'अहिंसावाद' और 'अदिति' के 'अध्यात्मवाद' का अंतर स्पष्ट किया है। 'अदिति' की दृष्टि से भगवान् ही आधारभूत सत्ता हैं, वे एकत्वमय हैं, चेतन हैं। मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य उन्हीं की प्राप्ति है। उस चेतन की प्रेरणा से अपना सारा व्यवहार, साधना, लोक-सेवा तथा एक एक कर्म संचालित होने देना ही उसका लक्ष्य हो जाता है। इसमें मौलिक प्रेरणा केवल एक है–पूर्ण सत्य चेतना की दृष्टि विकसित करना और उस सत्य दृष्टि से सभी वस्तुओं का मूल्यांकन करना, उससे स्वतंत्र, उसका प्रतिस्पर्द्धी और कोई नियम या मर्यादा स्वीकार न करना–क्योंकि पूर्ण सत्यमय चेतना की प्रतिस्पर्द्धी सत्ता और है ही नहीं। यहां सारा बल भावना के विकास पर है, जीवन के बाह्य रूपों पर आग्रह नहीं।

परंतु 'अहिंसावाद' में उनको उद्देश्यों का बहुत्व या 'खिचड़ी' दिखाई देती है जिनके मानो उचित समन्वय की आवश्यकता है। अहिंसावाद एकत्व

---

*श्री हरिभाऊ उपाध्यायजी देश में सुपरिचित हैं। आप 'अहिंसक नवरचना' के भक्त, कार्यकर्ता तथा व्याख्याता हैं। अभी श्रीअरविन्द की आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि और गांधीजी के अहिंसा-विचार के संबंध में हमारा और उनका समझने-बूझने का प्रयत्न चल रहा था। वास्तव में यह क्रम कुछ अचानक ही चल पड़ा था। 'जीवन साहित्य' समालोचना के लिये हमारे पास आया था। हमने समालोचना लिखी। उसमें संक्षेप में ही हमने अपने एक दो विचार प्रकट किये थे। उपाध्यायजी ने उनके समाधान के लिये उसी पत्र के जून, '४८ के अंक में एक लेख लिखा। फिर हमने जरा खुलासा ढंग से अपनी स्थिति तथा अहिंसक जीवन-दृष्टि के संबंध में अपनी भावना प्रकट की। प्रस्तुत लेख हमारे उसी लेख का सविस्तार उत्तर है। इसे यहां उद्धृत करने में हमें बहुत आनंद है। इसके समाधानों से हमें संतोष होता है और हम आशा करते हैं कि अहिंसा-दर्शन का यही रूप होने जा रहा है। इस रूप में अवश्य उद्देश्यों की 'खिचड़ी' नहीं कही जा सकती। यद्यपि हम साधन पर बल देते हुए साध्य को दृष्टि से ओझल नहीं हो जाने देना चाहेंगे और न ही अभेद-स्थिति को असंभव सी मानकर छोड़ ही देंगे। भगवान् जो हमारे साध्य हैं, जो अभेदस्थिति के प्रदाता हैं, वह हमारी "सतत जागृति, सतत प्रयत्न तथा सतत अभ्यास" का विषय रहने चाहियें। इस भावना से प्रेरित होने पर ही सेवादि अन्य व्यावहारिक साधन साध्य को सिद्ध करनेवाले बनेंगे, नहीं तो वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लक्ष्य-रूप में स्वीकार करता है। उस एकत्व का स्वरूप सत्य या ईश्वर है। उसका साधन है अहिंसा और अहिंसा है प्रेम। अब यदि प्रेम सत्य और ईश्वर के लिये है तब अहिंसा साधनरूप में आपकी समझ में आ जाती है, परंतु आप कहते हैं कि वह 'विशेष रूप से एक सामाजिक वृत्ति बतलाई जाती है। इससे लोक-सेवा एक और उद्देश्य हो जाता है।' आपकी राय में 'एकत्व का उपासक ईश्वर को स्वीकार करने के बाद अहिंसा को ईश्वर के लिये प्रेम के रूप में ही स्वीकार कर सकता है और समाज-सेवा भी ईश्वरप्राप्ति के साधन के रूप में ही, अन्य किसी भी रूप में नहीं।'

इसके अतिरिक्त आप कहते हैं कि 'जब मारना और प्राणहत्या को अहिंसा के अनिवार्य-से स्थूल रूप कहा जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो व्यक्ति एक शर्त ईश्वर पर लाद रहा है। आधुनिक अहिंसा-वाद में दार्शनिक दृष्टि से हमें यही सबसे अधिक विचारणीय बात दिखाई देती है।'

आगे चलकर आप लिखते हैं—'उपाध्यायजी भेद-मय जगत् से अभेदभाव प्राप्त करने के दो ही मार्ग देखते हैं। एक हिंसा का, दूसरा अहिंसा का। इन मेंसे उन्हें अहिंसा का मार्ग ही ठीक जंचता है, क्योंकि इसका धर्म ही है मिलाना। हमारे विचार में यह कुछ धोखा है। अहिंसा हिंसाभाव के दमन के लिये उसे मंद करने के लिये, एक यौगिक क्रिया भी मानी जा सकती है। परंतु अहिंसा से हिंसा का निराकरण असंभव है। द्वंद्व सहचारी होते हैं, यह सत्य हम नहीं भूल सकते।'

फिर आपको आशंका है कि 'अहिंसावाद में आध्यात्मिक आधार पर बल कम दिया जाता है तथा उस आध्यात्मिक सत्य से साक्षात् संपर्क स्थापित करने की आवश्यकता कम अनुभव की जाती है और व्यवहार के नैतिक नियमों पर लगभग निरपेक्ष सत्य के रूप में अधिक आग्रह किया जाता है। इससे अहिंसावाद की संस्कृति पश्चिमी (बौद्धिक) माप-दण्ड से ऊंची ठहरती हुई भी भारतीय आदर्श की दृष्टि से दोषयुक्त बन जाती है।'

फिर आपको यह भी शिकायत है कि अहिंसावाद में बाह्य व्यवहार की शैलियों पर कठोर आग्रह प्रतीत होता है।

अपने आपमें साध्य बन जायंगे। उपाध्यायजी भी स्वीकार करते हैं कि "गांधीजी ने अधिक और विस्तारपूर्वक विचार अंतिम लक्ष्य या ईश्वर के संबंध में संसार के सामने नहीं रखा।" यहीं पर वास्तव में, कम वा अधिक बल देने का ही, श्रीअरविन्द-दर्शन और गांधीजी के विचार में एक मौलिक अंतर है। श्रीअरविन्द के अपने जीवन-विकास में एक समय आया जब उन्होंने भागवत इच्छा को जानना प्राथमिक अनिवार्यता के रूप में अनुभव किया और तब यही उनकी एकमात्र व्यस्तता हो गई। और अब अभेदस्थिति के निश्चित ज्ञान के आधार पर ही वे सारा बल भगवान् के लिये सच्ची जिज्ञासा बढ़ाने, उनके हार्दिक स्मरण और चिंतन तथा उनके साथ वास्तविक संबंध स्थापित करने पर देते हैं। वे कहते हैं कि जहां सच्ची और भक्ति-पूर्ण जिज्ञासा है वहां भागवत संबंध प्राप्त होगा ही और तब भागवत कृपा और प्रेरणा से ही साधक का सारा कर्म और व्यवहार निर्धारित होना चाहिये।

परंतु इसमें संदेह नहीं कि शब्द की मर्यादा भेदजनक है। संपूर्णतया विचारने में उपाध्यायजी की अहिंसक स्थिति और हमारी में बहुत समता और समानता है।

सबसे अधिक आनंद हमें इस बात में है कि यह विचार-विनिमय सुन्दर सद्भाव में चलता रहा।—सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अहिंसा और अध्यात्म दो स्वतंत्र लक्ष्य नहीं हैं। 'अहिंसा' का न तो कोई 'वाद' है, न वह कोई स्वतंत्र लक्ष्य ही है। अहिंसा अध्यात्म की अनिवार्य निष्पत्ति है। गांधीजी ने अध्यात्म को 'सत्य' कहा है और अहिंसा को 'सत्य का साधन' बताया है। सत्य उनके लिये ईश्वर था, जो चेतन और ज्ञान-सत्ता है। ईश्वर के पास हिंसा-अहिंसा का भेद या द्वंद्व नहीं, क्योंकि वह उससे परे है। मनुष्य उसमें लिप्त है, इसलिये उसे इस द्वंद्व में चुनाव करना पड़ता है। यदि वह सत्य या ईश्वर की प्राप्ति के लिये हिंसा का चुनाव करता है तो वह उससे दूर चला जाता है, अहिंसा का चुनाव करता है तो नजदीक आता जाता है। जब वह अहिंसा अर्थात् प्रेम, समर्पण या ईश्वर-शरणता के द्वारा ईश्वरत्व को पहुंच जाता है तब द्वंद्वों से परे हो जाता है। तब वह जो कुछ करता है, ईश्वरत्व की भावना से करता है। अतः मनुष्य-कृत भेदों व नियमों से ऊपर उठा रहता है।

ईश्वरत्व प्राप्त होने या ब्राह्मी स्थिति में पहुंचने या स्थितप्रज्ञ अथवा सिद्ध होने तक हम साधक रहते हैं। साधकावस्था में नियम मर्यादा आवश्यक है। उस दशा में भौतिकता से संबंध रहता है। अतः रूप व आकार का भी विचार रहता है। आज का मनुष्य व समाज भौतिकता में डूबा हुआ है। उसे आत्मिकता में ले जाना है। यह उसकी बुद्धि को शुद्ध और समष्टिगत किये बिना नहीं हो सकता। स्वार्थ को व व्यक्तिगत भावना को अर्थात् अहंभाव को छोड़ते हुए परमार्थ और समाज-सेवा में निरंतर अग्रसर होने की प्रेरणा देना उसका उपाय है। यह साकार से निराकार में प्रवेश करने की प्रक्रिया है। ध्यान और सेवा चित्तशुद्धि, सात्त्विकता, विकार-हीनता या अभौतिकता प्राप्त करने के मार्ग हैं। 'ध्यान' से सीधा निर्गुण, निराकार, अव्यक्त प्रदेश में पहुंचा जाता है तो सेवा से एक माध्यम के द्वारा। ध्यान अर्थात् अव्यक्तोपासना कठिन और सेवा अर्थात् व्यक्तोपासना सरल मार्ग है। जैसी जिसकी रुचि व प्रवृत्ति हो वैसा वह अपने लिये मार्ग चुन ले।

दोनों प्रकार की उपासना के लिये अहिंसा अनिवार्य है। जब तक हम साधक हैं तब तक अहिंसा बराबर हमारे साथ चलती है व चलनी चाहिये। जहां तक बुद्धि का क्षेत्र है, सामाजिक दृष्टि का महत्त्व है, तहां तक अहिंसा अनिवार्य है। आत्मिक-प्रदेश में पहुंचने पर, समाज या जगत् के आत्मिक भावना से ओतप्रोत हो जाने पर 'समाज' या 'जगत्' ये शब्द ही निरर्थक हो जायंगे। मगर उसके पहले नहीं।

ईश्वर-भाव में रहकर कर्म करना, चेतन-प्रदेश में रम रहना, सतत ध्यान, चिंतन या समाधि की चरम अवस्था है। यही जाग्रत् समाधि है। ईश्वर-भाव में रहकर क्या कर्म किये जा सकते हैं, इसकी कल्पना बुद्धि या मन के क्षेत्र से बाहर है। यदि बुद्धि को दौड़ाना ही है तो दोनों कल्पनाएं की जा सकती हैं—(१) उस अवस्था में हिंसाकर्म की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। या (२) हिंसा अहिंसा की भाषा ही लुप्त हो जायगी, केवल सहज कर्म शेष रह जायगा। जैसे बिजली प्रकाश पहुंचाने का भी कर्म करती है और जलाने का भी; फिर भी वह दोनों की भावनाओं और इसलिये परिणामों से परे रहती है।

भेद दो प्रकार के पाये जाते हैं—मनुष्यकृत व प्राकृतिक। मनुष्यकृत भेदों को मिटाते हुए तथा प्राकृतिक भेदों को परस्पर सहकारी बनाते हुए हम अभेदावस्था प्राप्त कर सकते हैं। यह अहिंसा की साधना से ही हो सकता है। अहिंसा के उत्तरोत्तर उत्कर्ष से हिंसा का शमन होता जायगा और जिस बिंदु पर हिंसा का पूर्ण शमन होगा वहीं अहिंसा भी कृतकार्य होकर लुप्त हो जायगी और साधक अपने को हिंसा-अहिंसा के द्वंद्व से परे पायगा। इस द्वंद्व के रहते हुए या इसे कायम रखते हुए द्वंद्वातीत अवस्था की साधना करना, उसके परे अपने को मान लेना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या उसका अनुभव करने की कल्पना करना कठिन है। इसमें साधक धोखा खा सकता है। चेतन-प्रदेश में पहुंचना, या द्वंद्वातीत दशा का अनुभव करने लगना एक ही बात है। पहुंचकर लौटने की संभावना रहती है, स्थित होने पर सहसा लौटना नहीं हो सकता।

गांधीजी ने अधिक और विस्तारपूर्वक विचार अंतिम लक्ष्य सत्य या ईश्वर के संबंध में संसार के सामने नहीं रखा है। उन्होंने साधन व साधना को प्रधानता दी है, उसपर अधिक जोर दिया है। यदि साधन शुद्ध हैं, साधना सतत व एकाग्र है तो साध्य हाथ आये बिना नहीं रहेगा। यदि साध्य का चिंतन करते रहें, साधना शिथिल रही तो साध्य या लक्ष्य दूर ही रहेगा। फिर अव्यक्त ध्यान की अपेक्षा प्रत्यक्ष किंतु फल-निरपेक्ष सेवा पर उन्होंने जोर इसलिये दे दिया है कि इससे 'ध्यान' का फलित अधिक सुलभता से हाथ आ जाता है और इसी लिये गीता ने भी 'ध्यानात् कर्मफलत्यागः' कहा है। समाज-सेवा कोई स्वतंत्र लक्ष्य नहीं है, केवल आत्म-भाव की प्राप्ति का साधन है। इसी तरह अहिंसा भी स्वतंत्र या ऐकान्तिक लक्ष्य नहीं है–वह सत्य-सिद्धि का साधन है, परंतु है अनिवार्य एवं सत्य-सिद्धि तक साथ जानेवाला।

संसार में हम तीन चीजें देखते हैं–(१) परमात्मा (२) जगत् (३) जीव। साधारण दृष्टि से ये तीन पृथक् सत्ताएं दीखती हैं; परंतु विचार के अंत में व अनुभव के फलस्वरूप तीनों एक परमात्मा में विलीन हो जाती हैं। तीनों को पृथक् समझने व देखने की दृष्टि 'जागतिक' व तीनों को एक, अद्वैत, अभेद मानने की दृष्टि 'आध्यात्मिक' है। भेद से अभेद की, द्वंद्व से निर्द्वंद्व की, द्वैत से अद्वैत की, अनेक से एक की साधना अध्यातम-साधना है। यह समझना व समझ लेना तो फिर आसान है, परंतु इस स्थिति को अपने जीवन में चारतार्थ करना बहुत कठिन है। वह सतत जागृति, सतत प्रयत्न, सतत अभ्यास से ही सुगम हो सकती है।

भेद से अभेद साधने की प्रधान क्रिया मन से संबंध रखती है। भेद-दर्शक बातों को अलग छांटकर अभेद या एकत्व-साधक बातों को मन से ग्रहण व चिंतन करने की जरूरत है। इसमें मन या बुद्धि को विश्लेषण व संश्लेषण दोनों क्रियाएं करनी पड़ती हैं। पहले विश्लेषण, फिर समन्वय। कोरा विश्लेषण भेदों को बढ़ावेगा, कोरा समन्वय अस्पष्ट धुंधला ज्ञान होकर रह जायगा। समन्वय उत्तरार्ध है और अंत में यही साधना शेष रह जाती है। इस समन्वयात्मक बुद्धि व प्रक्रिया को गांधीजी ने 'अहिंसा' नाम दिया है। मानसिक प्रक्रिया 'अहिंसा' है और इसी वृत्ति से जो कर्म या व्यापार किये जाते हैं उन्हें 'सेवा' या समाज-सेवा कहा है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा-वाद और अध्यात्मवाद एक दूसरे से भिन्न और स्वतंत्र नहीं, वल्कि अहिंसा अध्यात्म की साधिका है, न उसमें उद्देश्यों की खिचड़ी है–वह समाज-सेवा के द्वारा ईश्वरप्राप्ति ही चाहती है। अहिंसा का प्रेम ईश्वर के लिये ही है जिसमें मनुष्य, वस्तु सब आ जाते हैं; क्योंकि वह सबमें एकत्व के दर्शन करना चाहती है। अहिंसा में मारना, 'प्राणहरण' आदि स्थूल क्रियाओं का महत्त्व सामाजिक दृष्टि से ही अधिक और अनिवार्य है। वह उसकी भावना का अनिवार्य अंग नहीं है। गांधीजी द्वारा बछड़े के प्राणहरण की घटना इसका प्रमाण है।

सच तो यह है कि जहां शब्द का उपयोग करते जाते हैं वहां अभेद को प्रकट करने का उद्देश्य रखते हुए भी भेद प्रकट हो ही जाता है। यह शब्द की मर्यादा है। इसलिये शब्दवाद को छोड़कर सम-न्वय-बुद्धि से एकात्म-भाव को ग्रहण करने में ही सार है।

–हरिभाऊ उपाध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खेल-विभाग के कुछ एक चित्र

बाजे सहित मार्चिंग

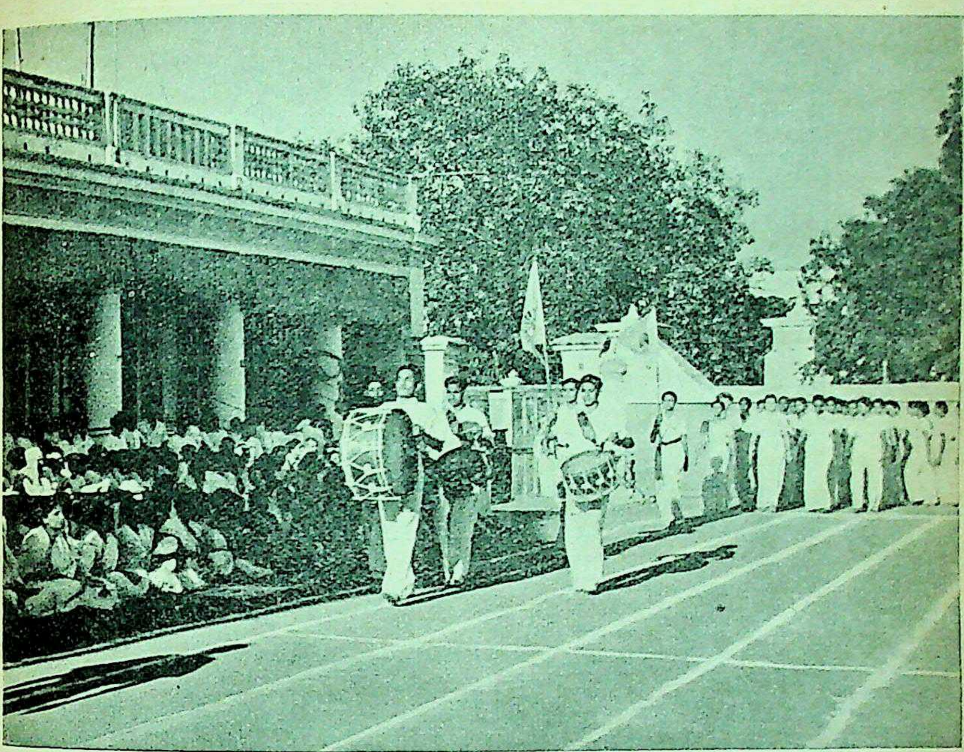

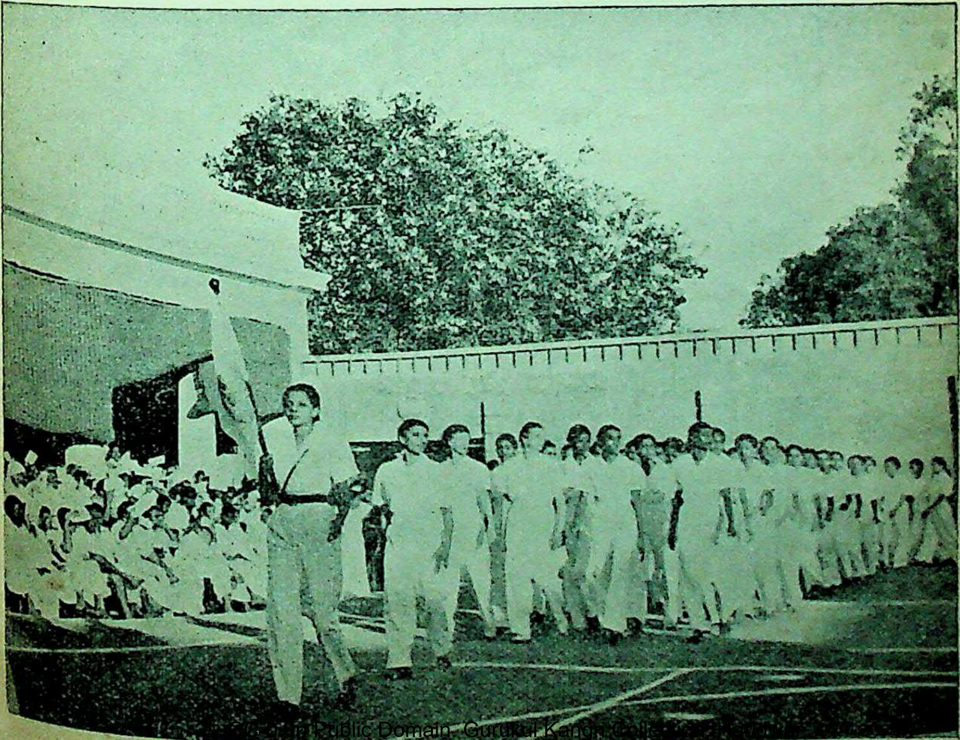

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेज़िम का खेल

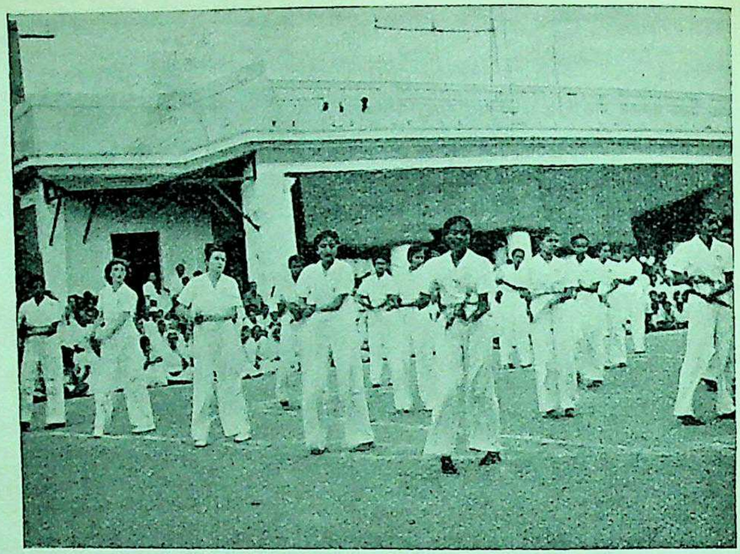

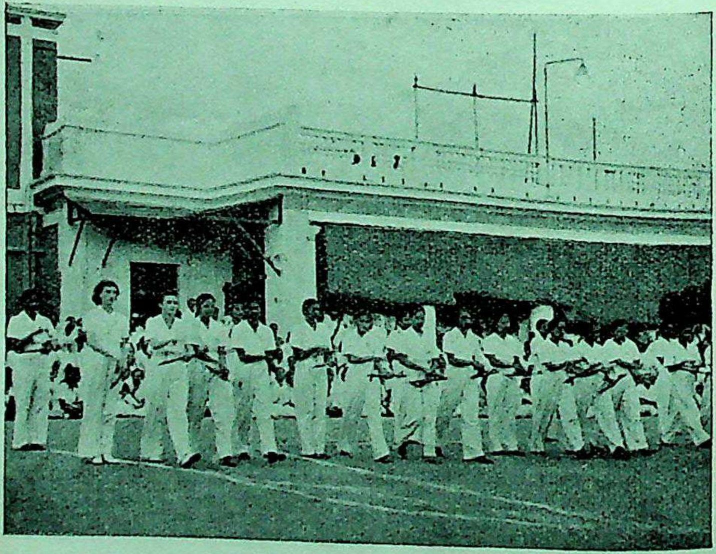

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

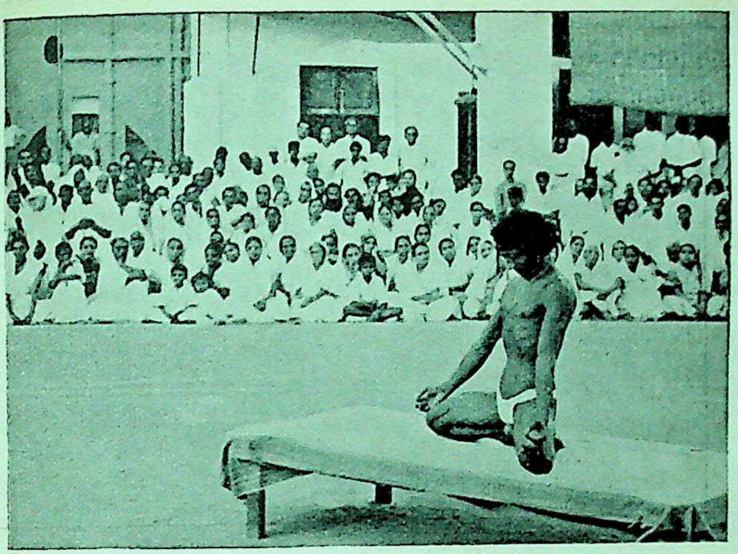

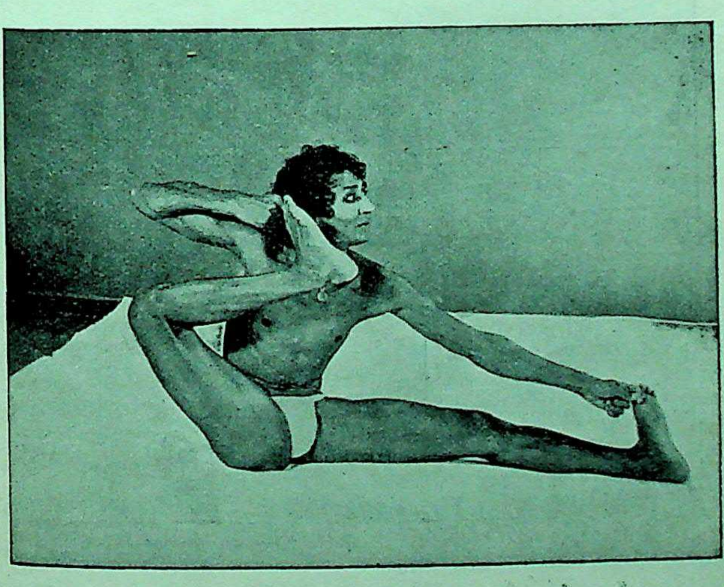

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोड़ा के दो खेल

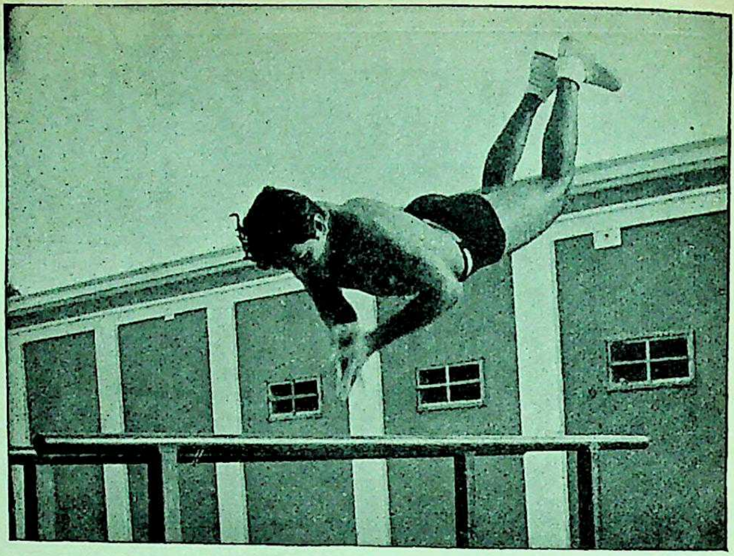

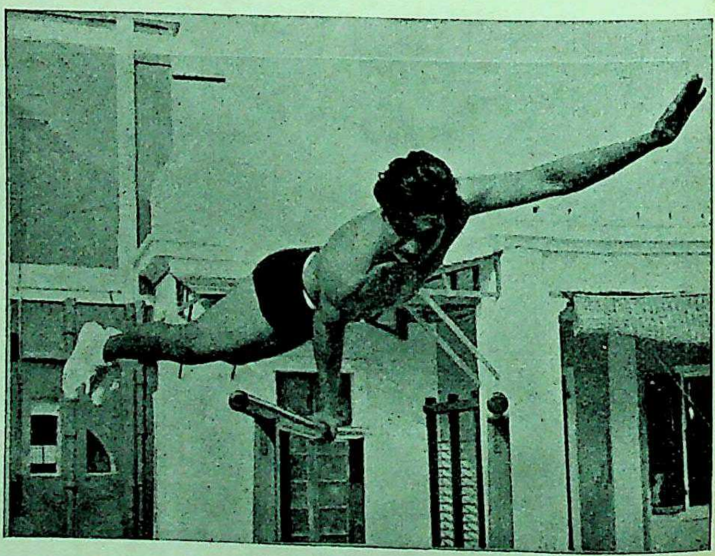

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द आश्रम

(३)

अन्तरात्मा की चेतना व्यक्ति में किंचित् दृढ़ होने में, अवश्य ही, समय लगता है। मन, प्राण और शरीर की अहंकारात्मक रूढ़ियां बहुत सरलता से दूर नहीं हो जातीं और उनके स्वभाव बदले बिना, उन्हें रूपांतरित किये बिना, प्रत्यक्ष ही, आन्तरात्मिक चेतना स्वामित्व प्राप्त नहीं कर सकती। मन, प्राण और शरीर के रूपांतरित करने का क्रम अत्यंत लंबा होता है और इसमें अनेक प्रकार के विचित्र विचित्र मनोवैज्ञानिक अनुभव होते हैं। अनेक बार एक दोष, कोई कुप्रवृत्ति, अधिक विकट रूप धारण कर लेती है। खाने का लोभ बढ़ जाय अथवा कामवासना अधिक उग्र हो उठे। इसके कई कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि आध्यात्मिक जिज्ञासा के क्रम में जब सामाजिक और नैतिक नियंत्रण को व्यक्ति तिलांजलि देने लगता है तब दमित वृत्तियां सिर उठाती हैं। दूसरे यह, जो अभ्यास में जरा अधिक विकसित होने पर होता है, कि कोई वृत्ति आध्यात्मिक रूपांतर के दबाव के अधीन एक प्रकार से प्रतिक्रियात्मक भाव में जोर मारती है। वह, वास्तव में, लय और क्षय होने का ही एक विरोधाभासी क्रम होता है। जो साधक मानसिक वृत्तियों की यह व्यवहार-शैली जानते हैं वे इस प्रकार के आंतरिक विप्लव से घबराते नहीं, बल्कि वृत्ति की निःशक्त फड़फड़ाहट और बौखलाहट का आनंद से तमाशा देखते हैं और गंभीर अन्तर्वर्जन द्वारा उसका पत्ता काटने का यत्न करते हैं तथा उससे अधिकतर विमुक्ति के लिये अभीप्सा करते हैं।

साधना के क्रम में अन्य भी अनेक मनोवैज्ञानिक क्रियाएं अनुभव में आया करती हैं। कभी कभी व्यक्ति एक समय तक सुन्दर अभीप्सा अनुभव करता है। उसके चित्त में चाह होती है, प्रेम होता है, वह अपने आपमें लवलीन अनुभव करता है; वह ऐसी सहज और आनंदपूर्ण स्थिति अनुभव करता है कि उसे अपने अन्तर्द्वंद्व अतीत भूत की क्षीण स्मृतिमात्र प्रतीत होने लगते हैं। परंतु साधक का यह स्वर्ग, पता नहीं कैसे, एकदम ही छिन जाता है। वह अपने आपको नीरस, खाली खाली, तथा खोया खोया अनुभव करने लगता है। अथवा जैसे उसका स्वर्ग मधुर था वैसा ही अब एक नया संघर्ष कटु बनकर सामने आ खड़ा होता है। मानो पूर्वगामी विशाल दैवी भाव ने एक विकट आसुरी भाव उत्तेजित कर दिया हो। अन्तर्विकास का मार्ग, वास्तव में, ऐसा ही वैचित्र्यपूर्ण है और इस प्रकार के अनेक उतार चढ़ावों में से गुजरकर ही अन्तःशुद्धि साधित होती है। चेतन मन, जिसे हम सामान्यतया अपना संपूर्ण व्यक्तित्व मानते हैं, अत्यंत क्षुद्र वस्तु है। इसके अतिरिक्त अवचेतना एक अंधकारमय अथाह कुआं है और अतिचेतना अपार विशाल आध्यात्मिक क्षितिज। व्यक्ति उत्तरोत्तर मन और अवचेतन मन शुद्ध करता हुआ अतिचेतन मन में विकसित होता जाता है।

मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) पश्चिमी मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है और इसने मनोवृत्तियों का खूब ही विश्लेषण किया है। इसके कई निर्णय, अवश्य ही, अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इसने यह सिद्ध करके दिखला दिया है कि मानसिक व्यवहार में भी, वह चाहे जागरित का हो, स्वप्न का या विकृत अवस्था का, कार्यकारण का सामान्य नियम उतना ही लागू है जितना बाह्य प्रकृति के क्षेत्र में। अर्थात् स्वप्न अकारण, अर्थहीन घटनाएं नहीं हैं। वे व्यक्ति की गुप्त इच्छाओं का प्रतीकात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपक होते हैं। मानसिक रोग भी इच्छाओं के घोर संघर्ष का परिणाम होता है। परंतु मनोविश्लेषण के अनुसार यह अन्तर्द्वंद्व सर्वथा दूर नहीं किया जा सकता। जो किया जा सकता है वह केवल यह कि किसी तीव्र द्वंद्व की विरोधी वृत्तियों में अपेक्षाकृत समझौता करवा दिया जाय।

भारतीय योगविद्या ने कभी भी इस द्वंद्व को अपरिहार्य नहीं माना। सामान्य स्वस्थ मानव स्थिति भी द्वंद्वमय है और योग इसे भी अतिक्रान्त कर आत्मा की सहज स्वाभाविक स्थिति प्राप्त करना अपना क्रियात्मक ध्येय मानता रहा है। देश का सारा योग-साहित्य यह प्रमाणित करता है कि ऐसी स्थिति स्थिर और परीक्षित सत्य है।

अन्तरात्मा की चेतना, वास्तव में, द्वंद्वमय नहीं। यह संपूर्णता के भाव से गठित है और जैसे यह साधक में उत्तरोत्तर प्रकट होती जाती है वैसे ही वह अपने मानसिक द्वंद्वमय जीवन को अतिक्रान्त करता जाता है। उसके जीवन में एक सरलता तथा स्वाभाविकता आती जाती है। वह पुण्य और पाप, कर्तव्य और अकर्तव्य के तीव्र विरोध-भाव से मुक्त होता जाता है। वह न कर्तव्यपालन के लिये संघर्ष करता है और न फिर असफल रहने पर ग्लानिजनक प्रायश्चित्त। वह समर्पण-भाव में तथा समतापूर्वक और स्वाभाविक तरीके से गंभीर अन्तःप्रेरणा की मांग करता है और उसी को जीवन में चरितार्थ करने का यत्न करता है। असफल रहने पर वह नए सिरे से सफलता की अभीप्सा करता है, विरोधी हीन विचारों का विवर्जन करता है और धीर पुरुष की तरह वह उस क्रम में लगा रहता है जब तक वह मार्ग के कंटक साफ करके अपने जीवन को उस अंग में स्वाभाविक नहीं बना लेता।

प्रत्यक्ष ही, भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का क्रम और विकास धार्मिक तथा नैतिक जीवन से भिन्न है। यहां आत्मिक संपूर्ण भाव ही ध्येय है, वहां पुण्य पाप, कर्तव्य अकर्तव्य अंतिम सीमाएं हैं और सारा व्यवहार इन्हीं दो सापेक्ष और विरोधी ध्रुवों के बीच चलता है।

हमने ऊपर व्यक्ति के साधनाक्रम के कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उल्लेख किया है। आश्रम-निवास में श्रीअरविन्द और श्री माताजी की आध्यात्मिक प्रेरणा और सहायता प्राप्त करते हुए कोई भी सजग साधक ये सब तथ्य अपने अनुभव में अधिगत कर सकता है। परंतु वैयक्तिक क्रमों के अतिरिक्त कुछ क्रम और क्रियाएं सामूहिक भी होती हैं। वे आश्रम के सामान्य सूक्ष्म वातावरण का अंग होती हैं और वे सामूहिक विकास साधित करती हैं। श्री-अरविन्द ने कुछ समय हुआ एक पत्र द्वारा जतलाया था कि :–

"साधक सामान्य रूप में अब काफी समय से अचेतना के स्तर पर आये हुए हैं। इस समय शक्ति का दबाव और मांग प्रकृति के उस भाग को बदलने की है जो सीधा अचेतना पर निर्भर है, अर्थात् रूढ़िभूत अभ्यास, स्वयंचालित चेष्टाएं, प्रकृति की यांत्रिक पुनरावर्तनशील गतियां, जीवन के प्रति अनैच्छिक प्रतिक्रियाएं तथा वह सब कुछ जो मनुष्य के रूढ़िभूत स्वभाव का अंग प्रतीत होता है। यदि पूर्ण आध्यात्मिक रूपान्तर साधित करना है तो यह करना ही होगा और शक्ति (सामूहिक रूप में, व्यक्तिगत रूप में नहीं) इस समय इसी संभावना को चरितार्थ करने के लिये कार्य कर रही है। इसका आग्रह इसी काम के लिये है, क्योंकि अन्य स्तरों पर रूपान्तर पहले ही संभव बनाया जा चुका है (जरा ध्यान रहे, हर एक को निश्चित रूप में प्राप्त नहीं करवा दिया गया)। परंतु अचेतना को प्रकाश के प्रति खोलना भगीरथ कर्म है, अन्य स्तरों का रूपान्तर बहुत सरल होता है। यह काम शुरू ही हुआ है और इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि अवस्थाओं तथा लोगों में अभी कुछ परिवर्तन प्रतीत नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परंतु यह परिवर्तन होगा जरूर, यद्यपि इसमें समय लगेगा और यह बहुत जल्दी ही नहीं होगा।"

हम कह चुके हैं कि श्रीअरविन्द आश्रम का संपूर्ण आयोजन और जीवन अन्तरात्मा के विकास पर ही केंद्रित है। अन्तरात्मा का विकास ही प्रथम आध्यात्मिक पुरुषार्थ है। वही समय पाकर अतिमन की अपूर्व आध्यात्मिक स्थिति साधित करेगा। परंतु हमारा आज का सामान्य जीवन तो मानसिक है और उसमें तम, रज और सत्त्व की जड़ता, आग्रह और उतावलापन तथा अपेक्षाकृत सुडौलता और संतुलन हैं। किंतु ये सब अहंकारमूलक हैं। इनके अधीन व्यक्ति अपने आपको अलग मानता है, दूसरों से भय और शंका अनुभव करता है। वह यह तथ्य अनुभव नहीं करता कि संपूर्ण सत्ता, वास्तव में, एक व्यापक सच्चिदानंद-चेतना है और वह स्वयं उसी की एक अनन्य अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिक चेतना इसी तथ्य को ही चरितार्थ करती है।

प्रत्यक्ष ही, फिर आध्यात्मिक विकास की मौलिक अभीप्सा और क्रिया होगी आत्म-समर्पण। मन की अहंकारमयी चेतना का समर्पण, विवर्जन तथा त्याग और आत्मा की एकत्वमयी चेतना के लिये आत्म-अर्पण, अभीप्सन तथा प्रेम और चाह। आज के सांस्कृतिक वातावरण में जहां व्यक्तित्व-विकास के नाम पर अहंकार को संगठित करने का यत्न किया जाता है वहां स्वाभाविक रूप से ही समर्पण का भाव आपत्ति पैदा करेगा। लोग समझते हैं इससे तो मौलिकता का नाश हो जायगा, स्वावलंबन जाता रहेगा। वास्तव में ये सब भ्रम हैं। यदि यथार्थ मौलिकता और आत्म-निर्भरता विकसित करनी है तो, अवश्य ही, मन की अहंकारमय मौलिकता और अवलंबन का त्याग करना होगा। आध्यात्मिक गुरु, जो शिष्य के आत्म-विकास का उत्तरदायित्व अंगीकार करता और जिसके आदेश के अनुसार शिष्य साधना करता है, शिष्य के व्यक्तित्व को कभी कुचल नहीं सकता। उसे तो शिष्य का वास्तविक व्यक्तित्व विकसित करना होता है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'आत्मज्ञानी गुरु अपना व्यक्तित्व तथा अपनी सम्मतियां अंध स्वीकृति के लिये शिष्य के ग्रहणशील मन पर थोपेगा नहीं।....उसका तो सारा उद्देश्य ही शिष्य में दिव्य ज्योति जगाना है तथा दिव्य शक्ति को सक्रिय बना देना है, जिनका वह स्वयं एक माध्यम और साधन है। ...वह स्वयं एक मनुष्य ही है जो अपने भाइयों की सहायता करता है, एक बच्चा ही है जो अन्य बच्चों को मार्ग दिखाता है।'

वास्तव में ऐसा निरहंकारी गुरु ही शिष्य के आध्यात्मिक विकास का उत्तरदायित्व ग्रहण कर सकता है, और वही ईश्वर के प्रतिनिधि रूप में शिष्य के संपूर्ण समर्पण का योग्य लक्ष्य हो सकता है। अवश्य ही, अहंकार के समर्पण के बिना आत्म-लाभ संभव नहीं।

—इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद अभिलाष

एक कली जो मेरे पास,
तुम चाहो इसको अपना लो
कर दो इसका पूर्ण विकास !

तुम इस में स्वर्गिक रंग भर दो,
निज सौरभ में मज्जित कर दो,
उर को अक्षय मधु का वर दो,
अधरों पर धर शाश्वत हास !

तुम्हीं मूल इसके बन जाओ,
मधुकर बन इसके ढिग गाओ,
स्नेह वृंत में इसे झुलाओ,
स्वर्ग किरण बन, करो विलास !

देखे एक तुम्हारा यह मुख,
अपलक ऊपर को हो अभिमुख,
दुख में भी माने असीम सुख
कांटों में बिखरा उल्लास !

मलयानिल दे भले निमंत्रण,
पंख खोल उड़ना चाहे मन,
तोड़े यह न प्रणय का बंधन,
करे हृदय डाली पर वास !

नयन रहें स्वप्नों से रंजित,
पलकें हर्ष-अश्रु हिम से स्मित,
उर असीम शोभा से विस्मित
छोड़े जब यह अंतिम सांस !

यह हंसते हंसते झर जावे,
जग में निज सौरभ भर जावे,
भू रज को उर्वर कर जावे
नव बीजों से,–हो न विनाश !

एक कली जो मेरे पास,–
पद अभिलाष !

–सुमित्रानंदन पंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव की जय

जयति-जय मानव की जय !
'तमसो मा ज्योतिर्गमय'
ज्योति में हो जायें लय :
मुक्त सभी; रहें निर्भय
सफल हो मंगल निश्चय :
चिर-विजय, मानव की जय !

—बालमुकुन्द मिश्र

दिवंगता

दीपक की साध अ-बाध।
* *
नहीं दैव आराध,
नहीं देव आराध, (किसी का)
हुई तपस्या कभी सफल—
मुक्त, भाव . . भव . . -मुक्त ।।
* *
मृत्कण मिट्टी में लीन, विकल,
आ-मिलने को फिर करे सबल
उत्कण्ठा, नीचे झांक झांक . . .
नभ-भर का तामस फांक फांक,
उजियाला !
*
टिमटिमा रहा एक-लव्य !
तमस प्राकृतिक भव्य ! !
नयन सव्य-संग्राम नव्य ! ! !
मटियाला !
*
मुक्ति-भोग से ऊबा, तंग—
यह रस क्या है ?—अविरुद्ध, अभंग !
अब जलूं फूट,—क्यों रहूं अनंग ?
—भौतिकी बाला ! !

—'पृथु'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन तार

संसार सिन्धु की लहरों में,
कुछ उथल पुथल थी मची हुई।
डूब रहा था नीचे नीचे,
जान अभी थी बची हुई।

छूकर लहर पदों से आई,
अमित कृपा से युक्त हुआ।
दृढ़ विश्वास जगा अतिमन में,
भव बंधन से मुक्त हुआ।

ऊपर ऊपर उठता जाता,
युद्ध- घोर अति मचा हुआ।
याद तुम्हारी केवल मन में,
विश्व नया था रचा हुआ।

लोभ नहीं है इस नगरी में,
भेद भ्रांति का रूप न था।
भरा पड़ा था विश्व तुम्हीं से,
संकीर्णता का कूप न था।

काम क्रोध की लहरें पहिले
मुझसे टकरा थीं जाती।
विस्मय वे अब छूकर मुझसे,
स्वतः शांत क्यों हो जातीं।

किससे करता द्वेष तुम्हीं थे,
तेरा था यह सब संसार।
विषय भावना दूर हुई सब,
हुआ शांति सुख का संसार।

कृपा-दृष्टि जब हुई तुम्हारी,
समझा मैं जीवन का सार।
बालक हूं अज्ञान तुम्हारा,
उठा गोद में कर लो प्यार।

बना शांति सुख केंद्र आज वह,
जीवन जो पहिले था भार।
घोर निशा से पहले ही, मां,
जगा दिये तूने उर तार।

—योगेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार और अभीप्सा

इस वर्ष की प्रार्थना

'नए वर्ष की प्रार्थना' अब श्रीअरविन्द आश्रम की एक नियमित परंपरा बन गई है। ३१ दिसम्बर की रात के १२ बजे श्री माताजी उदीयमान वर्ष की प्रार्थना को उच्च और गंभीर स्वर में उद्घोषित करती हैं और उसके बाद जब सब आश्रमवासी साधक और दर्शक आशीर्वाद के लिये उनके पास जाते हैं तो वे उन्हें प्रार्थना की छपी हुई एक एक प्रति प्रदान करती हैं। आत्म-जिज्ञासु और श्रद्धालु उसे प्राप्त कर कुतूहल या गंभीर भाव से पढ़ते और विचारते हैं, मानो देखने का यत्न करते हैं कि नया वर्ष कैसा होगा, उसमें उन्हें क्या करना होगा? ३१ दिसम्बर की रात को आश्रम का वातावरण निश्चित रूप में बहुत विशेष होता है। व्यक्ति प्रत्यक्ष से रूप में अपने आपको नए वर्ष की देहली पर खड़ा अनुभव करता है, वह उसकी प्रतीक्षा कर रहा होता है। इस अवसर का महत्त्व जानकर अनेक लोग दूर दूर से नए वर्ष को पूरी भावना से शुरू करने तथा उस अवसर पर श्री माताजी के आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये आश्रम में आने की आज्ञा मांगते तथा आते हैं।

श्रीअरविन्द के दर्शन की चार तिथियों को छोड़कर कुछ एक और दिन भी आश्रम में विशेष रूप से माने और मनाये जाते हैं और ये सर्वसामान्य के लिये श्रीमाताजी के विशेष आशीर्वाद के अवसर होते हैं। ये दिन १ली जनवरी के अतिरिक्त दुर्गाष्टमी, विजयदशमी, दीपावली आदि हैं। परंतु नव वर्ष के रूप में प्रचलित शैली के अनुसार १ली जनवरी का ही दिन मनाया जाता है और इस प्रकार दर्शन-अवसरों के बाद यही प्रथम महत्त्व का है।

नए वर्ष की प्रार्थना मूल में फ्रेंच में लिखी जाती है। उसका अंग्रेजी अनुवाद श्रीअरविन्द करते हैं। फिर अन्यान्य विद्वान् उसे भारतीय भाषाओं में उपस्थित करते हैं। ३१ दिसम्बर की रात्रि को ठीक नव वर्ष के जन्म पर सभी उपस्थित लोगों को प्रार्थना फ्रेंच, अंग्रेजी तथा वांछित भारतीय भाषा अथवा भाषाओं में मिल जाती है।

नए वर्ष के संबंध में श्री माताजी की दृष्टि और भावना प्राप्त करने का पहला अवसर आश्रमवासियों को १९३३ में हुआ था। तीन वर्ष हुए जब इन प्रार्थनाओं को इकट्ठा पुस्तिका-रूप में प्रकाशित किया गया तब लेखक पाण्डु-लिपि ही आगे-पीछे बार बार पढ़ते हुए तथा युद्ध के ५-६ वर्षों की अत्यंत ऐतिहासिक परिस्थितियों को पुनः विचारते हुए गंभीर आश्चर्य में डूब गया। उसे वे प्रार्थनाएं अत्यंत सत्य और मार्मिक जंचने लगीं। उसने साहस करके माताजी से एक प्रश्न कर ही डाला। उसके उत्तर में उन्होंने लिखकर कहा "ये प्रार्थनाएं संसार के पिछले बारह या अधिक वर्षों के मनोवैज्ञानिक विकास की एक प्रकार की ऐतिहासिक प्रतिलिपि हैं"।

यह वाक्य लेखक को एक प्रामाणिक पथप्रदर्शन के रूप में हाथ लग गया और वह संसार की पिछले कुछ वर्षों की मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक स्थितियों को समझने की गंभीर भाव से कोशिश करने लगा। उस अध्ययन को हम संभवतः फिर कभी उपस्थित करेंगे।

इस वर्ष की प्रार्थना विशेष रूप से कुतूहल और जिज्ञासा को प्रेरित करनेवाली है। इसके शब्द हैं:–

"हे प्रभु, नए वर्ष की देहली पर खड़ी होकर मैंने तुझसे पूछा कि इस बार मैं क्या कहूं? तूने मुझे दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विपरीत संभावनाएं दिखला दीं और आदेश दिया—मौन रहो"।*

जिज्ञासु इसे बार बार पढ़ता है और जानने का यत्न करता है कि वास्तव में वर्तमान स्थिति कैसी है और उसे इसमें क्या करना चाहिये? वह यह तो आसानी से अनुभव कर लेता है कि प्रार्थना संसार की व्यापक स्थिति की कल्पना कर रही है पर फिर वह जानना चाहता है कि "दो विपरीत संभावनाओं" का रूप-स्वरूप क्या है तथा इनमें "मौन" रहने के ठीक अर्थ क्या हैं?

गतांक में नए वर्ष की प्रार्थना प्रकाशित होने के बाद हमारे पास कई-एक पत्र आये हैं जिनमें जिज्ञासुओं ने गंभीर भाव से इसके अर्थ पूछे हैं। वास्तव में सभी नए वर्ष की प्रार्थनाएं आध्यात्मिक अनुभूतियां हैं अथवा आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आधारित हैं। इनके गंभीर अर्थ भली प्रकार बतला सकना लेखक के सामर्थ्य से बाहर है। परंतु उसने सदा की तरह इस प्रार्थना को भी समझने की कोशिश की है, इसके संबंध में श्री माताजी ने जो कुछ किसी से कहा है उसे जानने का यत्न किया है तथा अधिक अनुभवी साधकों से भी परामर्श प्राप्त किया है। इन सबके आधार पर जो उसकी भावना बनी है उसे वह पाठकों के लिये उपस्थित करता है।

गत वर्षों की प्रार्थनाओं का सिंहावलोकन हमें विकास की कुछ संगत पूर्व परिस्थितियों से परिचित करा देगा, इसलिये उनपर एक दृष्टि डाल लेना अच्छा रहेगा। सन् ३३ से ३७ तक की प्रार्थनाएं प्रधानतया व्यक्तिगत साधना की भिन्न भिन्न क्रियाओं और गतियों को लक्षित करती प्रतीत होती हैं। ३८ और ३९ की एक तैयारी के लिये प्रेरणा देती हैं। ४० में युद्ध उग्र रूप में चल रहा था। वह 'निष्ठ्यता' और 'प्रतीक्षा' का वर्ष था। ४१ ने 'बहादु योद्धा' बनने की प्रेरणा दी थी। ४२ और ४३ की विशेष अभीप्सा यह थी कि हम 'तितिक्षा' और 'शुद्धताई' द्वारा विजय के योग्य बनें। ४४ और ४५ में युद्ध और विजय के स्थान पर विश्व-शांति विशेष अभीप्सा का विषय बन गई। ४६ में शांति खतरे में दिखाई दी। ४७ के जागति विकास में भारत की स्वाधीनता विशेष घटना थी ४८ में माताजी की प्रेरणा थी कि हमें सदा आ बढ़ते चले जाना चाहिये, सुरंग के सिरे पर प्रका है, संघर्ष के बाद विजय। वास्तव में वह समय जब कि युद्ध का थका हुआ मानव रूस और पश्चि प्रजातंत्रों में नए संघर्ष की संभावना देखकर भयभी हो रहा था।

गत महायुद्ध में पश्चिमी प्रजातंत्र और इकट्ठे हिटलर से लड़ते रहे, परंतु केवल कारण क्योंकि हिटलर ने दोनों पर धावा बोल दि था। उनके अपने आदर्शों और जीवन-शैलियों समता और सहानुभूति न थी। मित्रराष्ट्र वि शांति को संगठित करने में सफल नहीं हो पाये हैं अब उनकी अपनी फूट विश्वव्यापी प्रश्न बन रही

इस वर्ष का वचन बिल्कुल अपने ही ढंग का माताजी सीधे रूप में कोई प्रार्थना या प्रे हमें नहीं दे रहीं। वे भगवान् से नए वर्ष के प्रेरणा की याचना करती हैं। उन्हें दो विप संभावनाएं दिखाई देती हैं और आदेश मिलता "मौन रहो"। हो सकता है ये दो विपरीत संभाव गत वर्ष की प्रार्थना के संघर्ष के ही दो विरो पक्ष और आदर्श हों। परंतु प्रकट रूप में उन

---

*Lord, on the eve of the new year I asked you what I must say. You have made me see two contrary possibilities and given me the command to keep silent.

—The Mother

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के जो भी नाम-रूप हों अंत में वे दिव्य और अदिव्य दो पक्ष ही हैं। ये दो पक्ष वैसे तो सनातन गतियां हैं। परंतु विकसनशील भागवत अभिव्यक्ति में अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव आते हैं। उसमें जहां सामान्य विकास के लंबे समय होते हैं वहां जब लंबी तैयारी के बाद विकास का एक बड़ा कदम आगे उठाना होता है तो अदिव्य शक्तियां बिना संघर्ष किये दिव्य अभिव्यक्ति को नहीं बढ़ने देतीं। तभी संकट पैदा हो जाया करता है। और तब यदि अदिव्य शक्तियों का पलड़ा भारी हो जाता है तो जागतिक विकास पीछे पड़ जाता है और यदि दिव्य पक्ष उस संकट में सफल उतरता है तो विकास आगे बढ़ता है। दिव्य और अदिव्य विश्व की रचना की दो अंतिम शक्तियां हैं, जैसे नैतिक स्तर के पुण्य-पाप तथा भौतिक स्तर के शीतोष्ण आदि द्वंद्व। इन द्वारा जगत् का आध्यात्मिक विकास साधित होता है। अवश्य ही बिल्कुल अंत में एकमात्र ब्रह्म ही दिव्य सत्ता है और अदिव्य उसी की गौण शक्ति, असुर भी देवताओं की तरह उसी प्रजापति के संतान हैं। परंतु जागतिक विकास में अदिव्य अथवा असुर अंत में ध्येयरूप नहीं बल्कि साधनरूप है। असुर के विरोध से दिव्य की दिव्यता निखरकर प्रकट होती है।

इस वर्ष की स्थिति एक नए संघर्ष और संकट की स्थिति है। हिटलरीय युद्ध के देवासुर-संग्राम में तो मानव ने दिव्य पक्ष को स्वीकार करके अपने लिये खूब हित साधित किया, परंतु इस युग की गति विचित्र है, तुरंत ही एक और विरोध आ उपस्थित हुआ है।

ऐसी अवस्था में हम साधकों अथवा सामान्य रूप से मानवों का क्या कर्तव्य होगा? दो विपरीत संभावनाएं जो इस समय की जागतिक स्थिति को निर्धारित करती हैं निश्चित रूप में हमें पता नहीं। माताजी को आदेश है वे उन्हें शब्दरूप में व्यक्त भी न करें। परंतु संकटस्थिति का तो हमें पता है। इसलिये हमें योग्य है कि हम इसकी गंभीरता को अनुभव करते हुए दिव्य पक्ष की विजय के लिये, भागवत अभिव्यक्ति और मानव के आध्यात्मिक विकास के लिये, प्रार्थना और अभीप्सा के भाव में शुभ परिणाम के प्रकट होने की प्रतीक्षा करें, इसी भावना को खूब सजग रखते हुए अपने कर्म-व्यवहार में प्रवृत्त हों; और यह विश्वास रखें कि श्रीअरविन्द और माताजी जो उन संभावनाओं को भली प्रकार जानते हैं और जो अपने आध्यात्मिक बल से उनके साथ निबटने का सामर्थ्य रखते हैं भागवत अभिव्यक्ति और मानव हित संपादित करने में जरूर सफल होंगे। हम उनके गुप्त आध्यात्मिक कार्य तथा प्रत्यक्ष कार्य के साथ पूरी सहानुभूति और सहयोग की भावना रखते हुए आशापूर्ण भाव में प्रतीक्षा करें; यही हमारा वर्तमान अवस्था का कर्तव्य प्रतीत होता है।

और अवश्य ही प्रतीक्षा की स्थिति अच्छी आध्यात्मिक साधना और स्थिति है। इसमें व्यक्ति को अपनी पसंदगियां छोड़नी होती हैं, अहंकार के राग-द्वेष का त्याग करना होता है और अपने आपको तटस्थ भाव में स्थित रखना होता है।

ऐसी तटस्थता में तथा स्वाभाविक आशापूर्ण भाव में हम वर्तमान संकट का निराकरण चाहें तथा एक विशालतर भागवत अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा करें, यही इस वर्ष की प्रार्थना के अनुसार क्रियात्मक साधना प्रतीत होती है।

कर्म, खेल और साधना

गतांक में हमने आश्रम के खेल-विभाग का थोड़ा सा परिचय दिया था तथा आश्रम की नई पत्रिका 'बुलेटिन ऑफ फिजिकल एजुकेशन' और उसमें प्रकाशित श्रीअरविन्द के संदेश की चर्चा की थी। वह संदेश हम इस अंक में पूरे का पूरा दे रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी संबंध में ही हमने अपना 'विशेष वचन' भी "भौतिक चेतना" पर दिया है।

खेल के आधार में, वास्तव में, एक मौलिक साधना की गति है जिसका श्रीअरविन्द के संदेश में केवल संकेतमात्र है। सामान्यतया उसमें बल राष्ट्रीय दृष्टि से चरित्र-निर्माण पर ही है। हम यहां उस आधारभूत साधना के पक्ष पर जरा विचार करना चाहते हैं।

संदेश में श्रीअरविन्द खेलों के आध्यात्मिक अर्थ के रूप में केवल इतना ही कहते हैं कि इनकी आध्यात्मिक उपयोगिता "तात्त्विक और सहज शारीरिक चेतना" (essential and instinctive body consciousness) को जाग्रत् करना है। अब प्रश्न यह है कि यह "तात्त्विक और सहज शारीरिक चेतना" है क्या ?

हमें यहां श्रीअरविन्द का दार्शनिक विचार और यौगिक अनुभूति जिसे वे 'भागवत जीवन' तथा 'योग-समन्वय' में व्याख्या से बतलाते हैं समझना होगा। उनके लिये वैश्व-सत्ता अंत में शुद्ध चेतन सच्चिदानंद है। शरीर, प्राण, मनादि उसी के विकासात्मक स्तर हैं। भागवत चेतना उत्तरोत्तर इनमें अभिव्यक्त और प्रकट होने के लिये यत्नशील है। यह क्रम मनुष्य में सचेतन क्रिया बन सकता है और उसे ही योग कहते हैं। अब, वास्तव में, विकास के अग्रदूत होने के नाते हम मानवों का यह कर्तव्य हो जाता है कि हम मन, प्राण और शरीर की क्रिया में सचेतनता तथा आत्मसजगता पैदा करें। जब यह सजगता विशेषकर प्राणमय शरीर में आ जायगी तो वह मन के लिये भी अमूल्य सहायता होगी।

कर्म और खेल विशेष रूप में प्राणमय शरीर से परिचालित होते हैं। ये स्वयं फिर शरीर के विकास के साधन भी हैं। मन का सहयोग तो चाहिये ही परंतु वह सारी स्थिति में गौण गति है। अब कर्म और खेल में सामान्यतः अंतर होता है। कर्म में एक प्रकार की गंभीरता होती, उत्तरदायित्व होता है, नियम और बंधन होते हैं। खेल में स्वतंत्रता और स्वच्छंदता। परंतु खेल में भी नियम और बंधन हैं और कर्म में भी अपना रस। वास्तव में भेद मनोवृत्ति का है और अवश्य ही कर्म आनंददायक खेल बन सकता है और खेल चिंताजनक कर्म। यदि कर्म में से व्यक्ति का कर्तापन निकल जाय और भागवत लीला का खिलाड़ी होने का भाव आ जाय तो युद्ध-विग्रह जैसे कर्म भी पूर्ण लीला तथा खेल बन सकते हैं। परंतु सामान्यतः कर्म और खेल में अंतर है ही और बच्चों और युवकों के लिये खेल की प्रत्यक्ष ही उपयोगिता और अनिवार्यता है। चेतना की दृष्टि से खेल में कर्म की गंभीर उत्तरदायित्वपूर्ण स्मृति के स्थान पर एक प्रकार की आत्म-विस्मृति होती है, एक तरह की स्वाभाविकता होती है। यदि खेल की स्वाभाविकता में आत्म-सजगता और तटस्थता लाई जा सके तो ऐसी स्थिति चरितार्थ हो जायगी जिसमें शरीर की तात्त्विक आध्यात्मिक चेतना जाग्रत् होगी और खेल में सामान्य स्वाभाविकता के नाते शायद यह कुछ अधिक सरलता से हो भी सकती है और जहां अभ्यास द्वारा यह स्थिर हो जाय तो फिर यह कर्म के क्षेत्र में भी प्रसारित की जा सकती है। इस प्रकार कर्म और खेल एकरस हो जायंगे और दोनों साधना बन जायंगे, वास्तव में साधना में भी आधारभूत आध्यात्मिक गतियां। परंतु यह तभी हो सकता है जब खेल में आत्म-सजगता और स्वाभाविकता उत्तरोत्तर बढ़ती जाय, जब खेल में सदा अन्तरात्मा का स्पर्श (psychic touch) मौजूद रहे।

MOTHER INDIA

गत फरवरी में बम्बई से 'मदर इंडिया' पाक्षिक पत्र के रूप में प्रकाशित होना शुरू हुआ है। यह किसी विशेष राजनीतिक पक्ष का पत्र नहीं बल्कि एक स्वतंत्र सांस्कृतिक पत्र। इसकी मौलिक अनु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूति अथवा प्रेरणा यह है कि भारत माता एक आध्यात्मिक सत्ता है और उसका निजी एक स्वभाव और स्वधर्म भी। भारतीय जनता का भी वही वास्तविक स्वभाव और स्वधर्म है। उसी स्वभाव और स्वधर्म को जानकर तथा उसके अनुसार अपने जीवन को ढालकर ही हम अपना यथार्थ हित-साधन कर सकते हैं और जगत् की यथार्थ सेवा भी। भारत माता के मार्मिक अस्तित्व की सच्ची प्रेरणा के लिये भावना पैदा करना और उसे व्यक्त करने का यत्न करना ही इस पत्र का ध्येय है।

पत्र में प्रत्यक्ष रूप में श्रीअरविन्द की और उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण की छाप दिखाई देती है। इससे हमें अपार संतोष है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को जगत् में चरितार्थ करने का यह साहसपूर्ण कार्य अवश्य ही अत्यंत श्लाघ्य है।

इस पत्र के संपादक श्री के. डी. सेठना हैं तथा प्रबंध-संपादक और सारी आयोजना के संगठन करनेवाले श्री केशवदेव पोद्दार हैं। दोनों महानुभाव अपने अपने काम के लिये खूब योग्य हैं और हम उनकी हार्दिक सफलता चाहते हैं।

पत्र के प्रथम अंक में पत्र के ध्येय और लक्ष्य के विषय में लिखते हुए संपादकमहोदय ने कहा है:—

"हम न तो पूंजीवाद के पक्ष में हैं न ही समष्टिसत्तावाद या अन्य किसी राजनीतिक 'वाद' के। प्रत्येक कार्यक्षेत्र में हम ऐसी हर एक चीज की समालोचना करेंगे जो वस्तुओं की मूल दिव्य गति का विरोध करती और भारतमातारूपिणी अध्यात्मशक्ति के काम में बाधा डालती है। जो कोई इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता तथा इस काम को सरल कर देता है उसे हम यथाशक्ति अधिक से अधिक रचनात्मक सहायता देंगे। मनुष्य के अंदर छिपा देवत्व ही मनुष्य का सत्य स्वरूप है, यही अति तीव्र रूप में भारतीय राष्ट्र का सत्य है, ऐसा सत्य जिसे जीवन में भरसक उतारने की जरूरत है। इससे छोटे किसी आदर्श के लिये हम अपना पत्र नहीं चला रहे हैं। 'सत्य महान् है और यह अवश्य विजयी होगा' इस प्राचीन पुकार को जब हम अपने आदर्शमन्त्र के रूप में अपनाते हैं तब यह परमोच्च आध्यात्मिक आदर्श ही हमारे मन में होता है।"

भारतमाता की आध्यात्मिक शक्ति तथा मानव और जगत् के जीवन में मूल दिव्य प्रेरणा और गति को प्रकट और प्रदर्शित करने, उसके लिये मानव समाज में भावना और ग्रहणशक्ति पैदा करने से और बड़ा ध्येय हो ही नहीं सकता। इस ध्येय की सेवा करने की विलक्षण योग्यता पत्र के संचालकों को प्राप्त हो। वे श्रीअरविन्द की प्रेरणा के अधिकारी बनें और आधुनिक समय में सच्चे और समन्वयात्मक अध्यात्मवाद की दृष्टि से जीवन के सब हितों का, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि का यथार्थ मूल्यांकन करने में सफल हों और भारतमाता की जिस सेवा को बजा लाने के लिये वे कार्यक्षेत्र में उतरे हैं उसमें सफल हों।*

—इन्द्रसेन

*Mother India, 32 Rampart Row, Fort Bombay. Rs. 6 annual.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-परिचय

Sri Aurobindo and his Ashram. Publisher-Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry. Rs. 1/4

श्रीअरविन्द सदा से ही अपूर्व शैली के गंभीर व्यक्ति रहे हैं। कोई कितना ही उनके समीप क्यों न रह ले उनके विषय में विशेष नहीं जान पाता। उनके अंदर की बात कोई तभी जान पाता है जब वे स्वयं ही उसे बताने का निश्चय कर चुके हों और बतावें। स्वदेशी आंदोलन के समय में उन्होंने कई पत्रों का संपादन किया, उससे जनता उनके राजनीतिक विचारों से परिचित हो गई। पीछे वे पांडिचेरी से 'आर्य' का संपादन करते रहे, इससे उनके दार्शनिक विचार पता लग गये, परंतु उनके जीवन के संबंध में न पहले विशेष पता था और न पीछे ही लगा। जितना उन्होंने अपने विषय में हमें बतलाना ठीक समझा उतना ही बतलाया और वही हमने जाना। उनके व्यक्तित्व के संबंध में हमारे अनेक कुतूहल बने ही रहे। उन्हें उन्होंने अनावश्यक समझा, उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। इस संबंध में लेखक श्रीअरविन्द को समझने का यत्न करते हुए एक आनंददायक तथ्य पर पहुंच पाया है, वह यह कि 'सत्य' 'शिव' से स्वतंत्र तथ्य नहीं, जो वैसे ही कहा जाया करे। अथवा जो हमारे अंदर है वह हम बिना प्रयोजन ही कह दिया करें या हित-भाव की स्पष्ट प्रेरणा के बिना, बोलने की प्रवृत्ति के अधीन बोल दिया करें, या अपने अंदर कुछ रख ही न सका करें, यह वास्तव में आत्म-संयम की त्रुटि होगी। भावात्मक रूप में, पूर्ण आध्यात्मिक दृष्टि से, कुछ कहना या करना केवल आन्तरिक दिव्य प्रेरणा से ही निर्धारित होना चाहिये, स्वाभाविक प्रवृत्ति से नहीं और न ही किन्हीं नैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि नियमों से।

किंतु सामान्य मानव तो जिसका वह मान करता है, जिससे उसका प्रेम होता है उसके बारे में सब कुछ जानना चाहता है। उसकी स्थिति, विचार, आदर्श तथा सामान्य व्यवहार, खाना-पीना, उठना-बैठना, हंसी-मजाक आदि सभी कुछ। श्रीअरविन्द के संबंध में वह उनके विचार और आदर्श तथा शायद उनका आध्यात्मिक बल ही अनुभव कर पाया है। इससे अधिक वह बहुत कम जानता है। यही कारण है श्रीअरविन्द की जीवनी के लिये व्यापक मांग है। प्रो. आयंगर ने एक प्रयास किया परंतु उसमें अधिकांश रूप में विचारों की व्याख्या ही हो पाई। जीवन-विकास का एक सामान्य-सा ही रूप वे दे सके। श्रीअरविन्द ने एक बार स्वयं कहा भी था कि मेरी जीवनी लिखना किसी के लिये संभव नहीं क्योंकि मेरा जीवन विशेष रूप से रहा है आन्तरिक है।

परंतु हर्ष का विषय है कि कुछ महीने हुए उपर्युक्त पुस्तक प्रकाशित हुई और श्रीअरविन्द का एक प्रामाणिक जीवनवृत्तांत मिला।

प्रस्तुत पुस्तक के दो भाग हैं। पहला जीवनवृत्तान्त है और दूसरा आश्रम के संबंध में। वृत्तान्त का भाग सर्वथा नया है, दूसरा तो जो The Ashram and its Teachings के नाम से प्रकाशित हो चुका है वही है। पहले भाग में तीन अध्याय हैं प्रारंभिक जीवन और व्यवसाय, राजनीतिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन। ये सब पढ़ने में अतीव रसपूर्ण हैं। पाठक जैसे जैसे श्रीअरविन्द के राजनीतिक और आध्यात्मिक जीवन के विषय में प्रामाणिक बातें जानता जाता है वैसे वैसे वह अनुभव करता है मानो पुराने रहस्य उसके सामने खुल रहे हैं। उनचास पृष्ठ के अंदर ही वह श्रीअरविन्द की जीवनी के बारे में अधिकतम संतोष प्राप्त कर लेता है।

—इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य-समीक्षा

भारतीस्तवः–प्रकाशक–मा० पुं० पण्डित, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी। मूल्य १)

ति. वि. कपाली शास्त्रीजी का बनाया भारतीस्तव पढ़कर बहुत आनंद हुआ। इसमें भारती का अर्थात् भारत की अधिष्ठात्री देवता, भारतशक्ति या भारत माता का सुन्दर गौरव-गान है। स्वाधीनता-दिवस, १५ अगस्त '४७ के दिन के उपलक्ष में लिखे गये ये अर्थगौरवपूर्ण श्लोक संस्कृत जाननेवाले पाठकों को पढ़ने में बड़े आनंददायक और स्फूर्तिदायक होंगे। बहुत से पाठक तो शायद इन्हें कण्ठाग्र कर लेना चाहेंगे। श्लोकों के नीचे हिन्दी में जो अर्थ दिया गया है वह भी बहुत अच्छा हुआ है, श्लोकों के भावार्थ को उत्तमतया हिन्दी में ले आने में पर्याप्त सफल हुआ है।

भारत की आत्मा से, भारत की अभीप्सा से एकात्मता चाहनेवाले को यह पुस्तक अवश्य प्रिय और रुचिकर होगी। –अभय

प्रार्थनावली–प्रकाशकः– प्रकाशन मंदिर, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार।

गुरुकुल कांगड़ी में विद्यालय की कार्यवाही आरंभ होने से पहले प्रार्थना की जाती है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं प्रार्थनाओं का संग्रह किया गया है। पहले भाग में कुछ वेदमंत्र हैं और पिछले भाग में कुछ गीत। वेदमंत्रों का चुनाव अच्छा है। साथ ही आर्यसमाजी दृष्टि से उनका भावानुवाद भी दिया गया है। गीतों में भी कुछ गीत सचमुच सुन्दर हैं जैसे–

तुम प्रभु प्रेम भिखारी ॥
जिनके पग पर लक्ष्मी लोटे, सो याचक बलिहारी।
द्वार द्वार पर जाय पुकारे, लख न सके संसारी।
तुम प्रभु...
जिनकी सुध खो लोक लोक में, ढूंढ़ ढूंढ़ मति हारी।
वे प्रभु आंचल गहें भिक्षु बन, वारी मति मतवारी ॥
तुम प्रभु...

तुलसी–लेखकः– रामेश बेदी आयुर्वेदालंकार, प्रकाशक–हिमालय हर्बल इंस्टीटयूट, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार। मूल्य २)

गुरुकुल कांगड़ी के योग्य स्नातक श्री रामेशजी ने हिन्दी में आयुर्वेदविषयक सर्वसुलभ साहित्य प्रकाशित करने का बीड़ा उठा रखा है। साधारण पाठक को उनकी पुस्तक देखकर यह आश्चर्य अवश्य होता है कि गुरुकुल कांगड़ी से हिन्दी पुस्तक प्रकाशन करनेवाली संस्था को हिन्दी नाम न मिला और उसे अपने आपको हर्बल इंस्टीटयूट का नाम देना पड़ा। अस्तु।

इस पुस्तक में तुलसी के बारे में सब कुछ कहने का प्रयत्न किया गया है। लगभग आधी पुस्तक में तुलसी के बारे में प्रचलित कहानियों और पौराणिक गाथाओं का वर्णन और विवेचन है। इस भाग को यदि जरा संक्षिप्त कर दिया जाता तो इस उपयोगी पुस्तक का दाम कम हो सकता और यह ज्यादा लोगों के हाथ में जा सकती।

तुलसी के बारे में प्राचीन और अर्वाचीन शास्त्रों ने जो कुछ कहा है उसका सारांश इस पुस्तक में दिया गया है। शास्त्रीय योगों से लेकर घरेलू टोटके तक दिये गये हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत उपयोगी हो सकती है। विशेषकर ग्रामों में रहनेवालों के लिये।

यहां पर इस प्रसंग का लाभ उठाते हुए बेदीजी के सामने एक प्रस्ताव रख देना शायद अनुचित न हो। औषधियों का प्रभाव देश और काल के अंतर से बदलता रहता है। कल जो चीज रामबाण मानी जाती थी आज वही बेकार सिद्ध होती है। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप अपनी ग्रंथमाला में सचमुच वैज्ञानिक ढंग से किये गये प्रयोगों और परीक्षणों का प्रकाशन कर सकें—काव्यमयी प्राचीन विधि से नहीं बल्कि आधुनिक ठोस वैज्ञानिक भाषा में—तो बड़ा उपकार हो।

रामेशजी को उनके उत्साह और परिश्रम के लिये बधाई है। आशा है वह और भी उपयोगी पुस्तक हमें दे सकेंगे।

—रवीन्द्र

सत्य का सैनिक—प्रकाशक—श्रीअरविन्द सर्कल, ३२ रैम्पर्ट रो, फोर्ट, बम्बई। मूल्य २)

नाटकीय कला की दृष्टि से इसकी परख करने से यह अच्छे नाटकों की श्रेणी में नहीं आता परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि आध्यात्मिक भावना को उन्नत करने में यह जिज्ञासुओं को बल देगा। सत्य के सैनिक के सामने किस किस प्रकार के प्रलोभन एवं उसे सत्य-मार्ग से विचलित करने के लिये कौन कौन सी विपरीत शक्तियां सामने आती हैं इसका अच्छे रूप से निदर्शन हुआ है। इसमें स्थान स्थान पर जो गीत दिये गये हैं देखा जाय तो उतने में ही पाठक पुस्तक का मूल्य पा जाता है। ये कितने सजीव, हृदयस्पर्शी एवं शक्तिशाली बन उठे हैं! दिलीपकुमार राय तो उन्हें बार बार गाते नहीं अघाते। लेखक के अंदर गीतों के लिये स्वाभाविक प्रतिभा एवं गति है। यदि वे नाटक आदि लिखने के पचड़े में न पड़कर ऐसे गीतों की सृष्टि करें तो वे अनेकों को सत्य का सैनिक बना लेंगे।

—विद्याव्रत

'संजय' का कलियुग विशेषांक—संपादक—श्री भद्रसेन गुप्त, संजय कार्यालय, २४ क्लाइव स्क्वेअर, नई दिल्ली। मूल्य ४)

'संजय' का 'कलियुगांक' हमारे सामने है जिसका नाम सुनते ही एक मधुर हास्य की सृष्टि हो जाती है। इसको ध्यानपूर्वक आद्योपांत पढ़ने से कुछ लेख उच्च कोटि के मिले, कुछ लेखों की सामग्री नवीन रूप में प्राप्त हुई। लेखों का चयन उत्तम हुआ है—कलियुग क्या है, इस युग की विशेषताएं, एवं कलियुगी अवतार कौन है आदि आदि पर विशेष प्रकाश मिला। गेट अप स्वच्छ एवं फोटो की छपाई सुन्दर ढंग से संपन्न हुई है। अंक पठनीय एवं संग्रह करने योग्य है। हम इसका विशेष स्वागत करते हैं क्योंकि इसमें संदेह नहीं कि यह अपनी विशेषताओं को लिये हुए प्रकट हुआ है।

—विद्याव्रत

हमारी राष्ट्रभाषा और लिपि—पं. धर्मदेव विद्या-वाचस्पति, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली। मूल्य ।-)

४३ पृष्ठ की सीमा के अंदर पुस्तिका अपना विषय अत्यंत विशद रूप में और बलपूर्वक उपस्थित करती है। प्रत्यक्ष ही संस्कृत सभी भारतीय भाषाओं का आधार और सतत स्रोत है। इसलिये विकसनशील हिन्दी का जितना घनिष्ठ संबंध अपने आधार और स्रोत से रहेगा उतनी ही वह अन्य भारतीय भाषाओं के निकट रहेगी और वह स्वयं भी व्यापक भारतीय संस्कृति की द्योतक और प्रतिनिधि रहेगी जो कि राष्ट्रभाषा को होना अनिवार्य है। लेखक के इस विचार से हम पूर्णतया सहमत हैं। परंतु भारतीय प्रतिभा और बल परंपरापूर्वक समन्वय की शक्ति में रहे हैं। धर्म में, कला में तथा भाषा में अन्य प्रभाव जब वे भारतीय जीवन में आ उपस्थित हुए हैं भारतीय आत्मा ने मूल में विशालतर सत्य की भावना में, कमजोरी के कारण नहीं, उन्हें एक उचित स्थान देकर अंगीकार किया है। अवश्य ही हिंदुस्तानी के नाम से उर्दू को स्वीकार करके हम भारतीय संस्कृति की प्रधान धारा की शक्ति से अपने आपको वंचित कर लेंगे। ऐसा नहीं होना चाहिये। परंतु हमें भाषा की वर्तमान स्थिति को बलात् बदलने का यत्न भी नहीं करना चाहिये। हमें विश्वास है कि सहज विकास के रूप में जैसे व्यापकतया संस्कृत का अध्ययन बढ़ेगा सभी भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषाएं संस्कृत के नाते से और भी पास पास आती जायंगी और यह संबंध ही राष्ट्रभाषा का स्वरूप निर्धारित करेगा। इस सहज विकास के साथ ही मुसलमान जनता भी कुछ समय में एकरसता-सी में आ जायगी। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आज की राष्ट्रभाषा और दस वर्ष बाद की राष्ट्र-भाषा में प्रत्यक्ष अंतर होगा। बोलचाल की भाषा आज जैसी भी हो वैज्ञानिक और शास्त्रीय भाषा संस्कृतनिष्ठ होगी ही और वास्तव में इसी से भावी राष्ट्रभाषा निर्धारित होगी। राष्ट्रभाषासंबंधी वाद-विवाद में हमें कुछ अनावश्यक हठ और आग्रह दिखाई देता है जो कि अहितकर है।

'हिन्दीप्रेमियों का कर्तव्य' उपशीर्षक के अधीन लेखक ने कुछ सुन्दर सुझाव रखे हैं। उनमें हम एक दो और अपनी ओर से जोड़ना चाहते हैं। हमारा विश्वास है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में अन्य प्रांतीय भाषाओं से बहुत कुछ लेगी और बहुत कुछ देगी भी। यह क्रम विकसित होकर ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा का वास्तविक रूप दे सकेगा। इसके लिये आवश्यक है कि हिन्दीभाषी अन्य भारतीय भाषाओं का अध्ययन अपना कर्तव्य स्वीकार करें। इससे हिन्दी में विशालतर समन्वय पैदा होगा जो इसे भारत की वास्तविक राष्ट्रभाषा बना सकेगा। हमारा विचार है कि हिन्दी प्रांतों में अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन को उसी प्रकार प्रोत्साहन देना चाहिये जिस प्रकार अहिन्दी प्रांतों में हिन्दी को दिया जा रहा है।

और वास्तव में जो हिन्दीप्रेमियों का सबसे बड़ा कर्तव्य है वह यह कि वे अपने हिन्दी-प्रेम को सच्चा हार्दिक प्रेम बनावें और हिन्दी की अभि-व्यंजना को उन्नत और विकसित करें तथा इसकी अभिव्यंजना का रसपान किया करें।

पं. धर्मदेवजी की पुस्तिका विशेष रूप से हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के संबंध को दृष्टांत-पूर्वक दर्शा देती है। इसके अतिरिक्त भी इसकी व्याख्या प्रमाण-संपुष्ट है। पुस्तिका जरूर उपयोगी सिद्ध होगी।

बोधगीत—स्वामी सत्यभक्त, सत्याश्रम, वर्धा। मूल्य ।॥)

यह उनतीस गीतों का संग्रह है। विषय हैं मानव राष्ट्र, नया संसार, मतवाला विज्ञान, सबसे प्यार, मनुष्यता आदि। स्वामी सत्यभक्तजी एक आदर्श के यत्नशील प्रचारक और समाजसुधारक हैं। यह आदर्श मानव मानव में मानव के नाते प्रेम और भाईचारे का आदेश देता है। धर्म, जाति और पेशे से खड़ी हो गई पक्षपात की दीवारों को तोड़ गिराना चाहता है।

इन्हीं विचारों का प्रचार करना इन गीतों का उद्देश्य है। गीतों में बल विशेष रूप से विचारों का ही है। परंतु दो एक गीतों में हमने प्रत्यक्ष भावात्मक प्रेरणा भी अनुभव की है। रचयिता स्वयं भी अपने आपको पद्यकार ही मानते हैं, कवि नहीं। परंतु हम विश्वास है कि वे अपने अनुभवपूर्ण हृदय से कभी भाव और प्रेरणापूर्ण गीतों को रचकर भी संसार को देंगे।

नवयुग—नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, मोरी गेट, दिल्ली।

वर्तमान समय में सचित्र पत्र विशेष प्रिय हो गये हैं। पाठक स्वाभाविक रूप से घटना आदि शब्द की अपेक्षा चित्र में देखकर उसका समन्वया-त्मक भाव सुखपूर्वक ग्रहण कर लेता है। फोटोग्राफी और मुद्रणकला के आविष्कारों ने रंगबिरंगे सचित्र प्रकाशन संभव और सरल भी बना दिये हैं।

भारत का सबसे अच्छा सचित्र पत्र The Illustrated Weekly of India है। उसके मुकाबले का अंग्रेजी में भी दूसरा पत्र नहीं। हमें हर्ष होता है कि नवयुग हिन्दी के क्षेत्र में इस श्रेणी का शायद पहला प्रयास है। इसका मुखपृष्ठ का चित्र कलामय होता है। तथा अंदर के फोटो, रेखाचित्र आदि भी सुन्दर और रुचिपूर्ण होते हैं। पाठ्य सामग्री भी खूब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविधतापूर्ण है। इसके स्तंभों में से 'परमार्थ के पथ पर', 'बाल जगत्', 'छात्रों की दुनिया', 'क्या आप जानते हैं' विशेष उल्लेखनीय हैं।

पत्र का आकार प्रभावशाली है परंतु छपाई ऐसे पत्र के अनुरूप नहीं और प्रूफ की भूलें तो विशेष कष्ट देती हैं। हमें विश्वास है पत्र उत्तरोत्तर अपना स्तर ऊंचा करता चला जायगा।

मानसरोवर–प्रकाशक–दिल्ली प्रेस, पोस्ट बाक्स १६, नई दिल्ली।

'सरिता' और 'Caravan' के संपादक श्री विश्वनाथजी ही इसके भी संपादक हैं। पत्र प्रथम स्पर्श में ही नवीन और मौलिक प्रतीत होता है। विषय, लेखनशैली, चित्र तथा छपाई आदि सभी नवीन और मौलिक हैं। अमरीकन शैली के विविध गुणों से संपन्न है। हम चाहते हैं इस शैली में यह खूब सफल हो। और हो सके तो उसमें भारतीय मौलिकता का समावेश करके उसे भी उन्नत कर दे।

–इन्द्रसेन

लेखक-परिचय

श्री लाजपतरायजी 'पृथु'–आचार्य चमूपति-जी के सुपुत्र। विद्वान् तथा आध्यात्मिक रुचिवाले।

श्री योगेन्द्र–होशियारपुर, पूर्वी पंजाब के वैद्य अत्यंत ही गंभीर भाववाले आध्यात्मिक जिज्ञासु तथा श्रीअरविन्द-साहित्य के साधक-विद्यार्थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोगी

श्रीअरविन्द की एक अत्यंत सरल तथा लोकप्रिय पुस्तक "The Ideal of the Karmayogin" का हिन्दी अनुवाद है। राष्ट्रनिर्माण के आधारभूत तथ्यों का विशद निरूपण है। आज इसका पथप्रदर्शन हमारे लिये विशेष उपयोगी है। दाम–कार्ड बोर्ड-सजिल्द २॥)

योगविचार

श्रीअरविन्द-योग पर एक अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह है। इसके कुछ एक लेख ये हैं–जीवन और योग, योग का उद्देश्य, मनोविज्ञान और योग, श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग, श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातंजल योग। पहला लेख श्रीअरविन्द का, योग-समन्वय में से, है। अन्य लेख आश्रम के अनुभवी साधकों के हैं। मूल्य २॥)

योगदीक्षा

श्री अनिलवरण राय का श्रीअरविन्द के साथ योगजिज्ञासा-विषयक पत्र-व्यवहार है। एक ओर से जिज्ञासा, शंका और प्रश्न हैं, दूसरी ओर से आश्वासन, समाधान और उत्तर। सारा वातावरण अपूर्व है।

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४८ की पूरी चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ५), सजिल्द ६॥)। सन् ४७ के केवल अगस्त और नवम्बर अंक। दाम प्रति अंक १॥)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

कर्मयोगी	२॥)	वेद-रहस्य (सजिल्द)	९)
योगदीक्षा	१)	वेद-रहस्य (अजिल्द)	८)
चार साधन	॥)	उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
योगविचार	२॥)	इस जगत् की पहेली	१॥)
विचार और झांकियां	॥॥)	जगन्नाथ का रथ	॥॥)
दयानन्द	॥॥)	श्रीअरविन्द के पत्र	॥)
नये वर्ष की प्रार्थनाएं	।)	धर्म और जातीयता	१॥)
दुर्गास्तोत्र	।)	गीता की भूमिका	१॥॥)
अदिति माता	१)	मातृवाणी	२)
गीताप्रबन्ध	६॥)	सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
माता	॥॥)	वार्षिक प्रार्थनाएं	=)
योगप्रदीप	॥॥)	श्रीअरविन्द और उनका योग	॥=)
योग के आधार	२)	पूर्णयोग	१॥)

फोन: कार्यालय ८२८३

श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली

(स्थान—एस. एन. संडर्सन एण्ड को.)

फोन: घर २५१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वर्ष ७ अङ्क ४ नवम्बर १९४९

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका

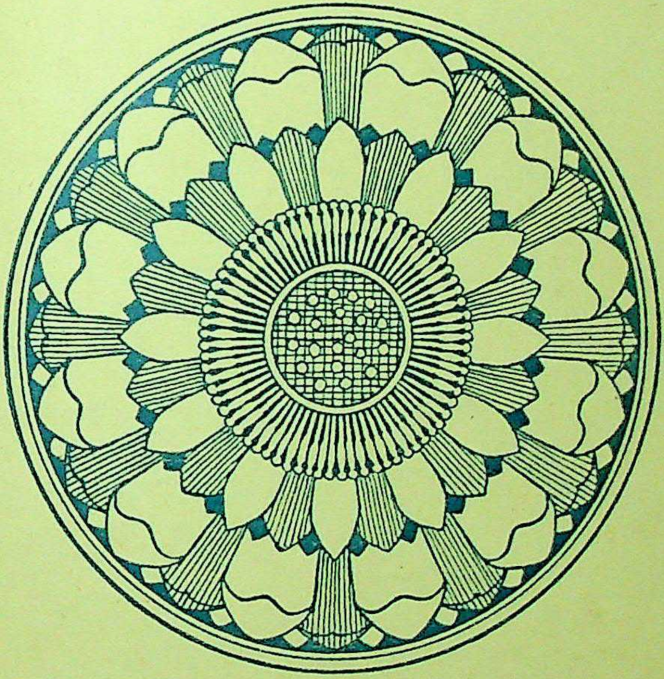

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द

प्रकाशक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर
नई देहली

मूल्य
एक अङ्क १।)
वर्ष भर के चारों अङ्क ५)

विदेश का चन्दा
एक अङ्क ३।। शिलिंग वार्षिक १२।। शिलिंग

ADITI KARYALAYA,
SRI AUROBINDO ASHRAM,
PONDICHERRY.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

ADITI KARYALAYA
SRI AUROBINDO ASHRAM,
PONDICHERRY.

ACKNOWLEDGMENT (INDIAN POSTS & TELEGRAPHS DEPARTMENT)

Date-stamp of office of payment.

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा

Paid by me on ____

Signature

me and whose permanent address is :

Address of identifier.

* To be taken when payee is illiterate or not known to post office or when payment is made to a pardanashin lady or by a village postman.

FOLD HERE

Received the sum specified on the reverse on ____

Signature of witness to be taken when the payee is illiterate or not known to the post office, and in all cases when payment is made by a village postman or to a pardanashin lady on her own signature.

Signature of witness.

Signature (in ink) of payee or thumb-impression of payee

Date ____

The Post Office is not responsible for the payment of a money order to a person other than the rightful payee, if such wrong payment arises out of incorrectness or incompleteness of the name or address of the payee as written by the remitter. If the payee of a money order cannot be found, the amount of the order will be paid to the remitter.

FOLD HERE ———— FOLD HERE

Name and address of remitter.

Postmen are strictly forbidden to accept any fee or gratification from payees of money orders. Before obtaining payment of the money order the payee must sign it and the acknowledgment, and return the form to the postman after cutting off this coupon which should be retained by him (the payee).

BUY NATIONAL SAVINGS CERTIFICATES.

Royal Printing Works Madras-2.—20,000 Bks.—11-48.

विदेश का चन्दा

एक अङ्क ३॥ शिलिंग वार्षिक १२॥ शिलिंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

M. O. 1.

INDIAN POSTS AND TELEGRAPHS DEPARTMENT.

INDIAN MONEY ORDER

To

The Postmaster ______________ S. O. / H. O

FOLD HERE

Received the sum specified on the reverse.

Stamp M. O.
Stamp ... on payment

____
(Signature (in ink) of payee or thumb-impression, if payee is illiterate.)

____
*(Signature of witness)

Paid by me on ______________

Signature ______________

IDENTIFIER'S CERTIFICATE

(To be taken when payee is not permanently resident within the jurisdiction of the paying post office or is not known to it.)
The payment has been made in my presence to the payee who is personally known to me and whose permanent address is :

____

Signature of identifier

Address of identifier.

* To be taken when payee is illiterate ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Oblong M. O. stamp on issue

Date stamp

. O. stamp

No.________Date ________

Issued for Rs. (in words) ________

Amount (in figures)

Rs. As.

M. O. Clerk. Issuing Postmaster

All the entries below to be filled up by the remitter

Additional fee for advising a money order by air in India is 1 anna and to Ceylon or Burma it is 1½ annas. Stamps of these values are to be affixed by the remitter in the adjoining space if advice by air mail is desired.

Amount (in words) } Rupees five and

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

अट्ठाईसवीं कला

२४ नवम्बर १९४९ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष्य में

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

* सूचना *

सार्वजनिक पुस्तकालयों को अदिति आधे दाम पर मिल सकती है।

'अदिति' की प्रेरणा

१. अदिति साधना की, क्रियात्मक जीवन-विकास की पत्रिका है। इसमें साधारणतया मौलिक अनुभवपूर्ण लेखों को ही स्थान दिया जाता है। सामान्य ज्ञान का प्रचार इसका उद्देश्य नहीं।

२. अदिति अपने पाठकों से साधकभाव की अपेक्षा करती है। इसके विषय को वे पढ़ें, विचारें और अपने अंदर रमने दें। इसके भाव और भावनाएं उनका सामान्य वातावरण बन जायं। तब जो स्फूर्त्ति और प्रेरणा वे अपने अंदर अनुभव करेंगे वही अदिति की सफलता की द्योतक होगी।

३. आत्म-जागरण ही व्यक्तित्व-निर्माण का मूल कारण है। सामान्य मनोवैज्ञानिक शैलियां व्यक्तित्व की मूल शक्ति को प्रचालित नहीं कर पातीं। उनका कार्य और क्षेत्र बहुत सीमित है। भारतीय योगविद्या ही जीवन की वास्तविक नव-सृष्टि कर सकती है, उसके अंदर भागवत इच्छाशक्ति की असीम और अजेय धारा प्रवाहित कर सकती है।

४. यह भारतीय योगविद्या आज श्रीअरविन्द के अनुभव में एक विशेष क्रियाशील रूप को प्राप्त हुई है। उसी रूप की प्रेरणा से अदिति का जन्म हुआ है और उसे ही अदिति साधक-पाठकों तक पहुंचाना चाहती है।

५. श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि एक अद्वितीय समन्वय है। आज हम अपने आपको पक्ष-विपक्षों और विविध वादों के जाल में जकड़े हुए अनुभव करते हैं। श्रीअरविन्द की समन्वयात्मक दृष्टि हमें अनुभव करा देती है कि इन वादों से संघर्ष करने की अपेक्षा इनसे जरा ऊपर उठकर इन्हें देखने से ये परस्परविरोधी नहीं परस्परपूरक दिखायी देने लगते हैं। यह चमत्कारक दृष्टि ही अदिति की प्रेरणा है, इसे ही अदिति प्रसारित करना चाहती है।

Le Directeur : Haradhan Bakshi
Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
735—49—750

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

अदिति, नवम्बर १९४९

अक्षय शक्ति		...
श्रद्धांजलि	श्री सुमित्रानंदन पंत	२०९
मातृवचनामृत–		...
प्रार्थना व ध्यान		२११
ठीक जांच सकना		२१२
श्रीअरविन्द-वाणी–		...
विशेष वचन–"अतिमन और दिव्य जीवन"		२१७
श्रीअरविन्द के पत्र–आश्रम में कर्म तथा खेल		२१८
दिव्य शरीर		२२०
सावित्री (महाकाव्य)		२३९
विविध–		...
आलोक के पथ पर	श्री नलिनीकांत गुप्त	२४४
युग-दर्शन	श्री सुमित्रानंदन पंत	२४६
गीता का अधिकारी	श्री केशवदेव आचार्य	२४९
पहले वर्षों की प्रार्थनाएं	डा. इन्द्रसेन	२५२
कविता-कुंज–		...
मेरे जीवन के मधुवन में	श्री नारायणप्रसाद	२५७
दर्शन-प्रतीक्षा	श्री कृष्णराज गुप्त	२५८
श्रद्धांजलि	श्री धर्मदेव विद्यावाचस्पति	२५९
संपादकीय (विचार और अभीप्सा)–	डा. इन्द्रसेन	...
(१) आध्यात्मिक भाव का नवोदय		२६०
(२) अदिति का आठवां वर्ष		२६१
(३) आगामी अंक		२६२
(४) 'संजय' का श्रीअरविन्द-विशेषांक		२६३
श्रीअरविन्द-साहित्य		२६४
नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं		२६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुने हुए फूल

वस्तुओं की आत्मा है अनंत अखंड सत्ता।

*

स्वयंभू-सत्ता अपने स्वयंभू-आनंद को नित्य धारण करती है।

*

आनंद ही सत्ता है।

*

आनंद ही सृष्टि का रहस्य है।

*

आनंद ही जन्म का मूल है।

*

आनंद ही हमारे अस्तित्व में रहने का कारण है।

*

आनंद ही जन्म तथा सृष्टि की परिणति है।

*

अपनी सत्ता के वास्तविक स्वरूप में हम अखंड अनंत-चेतना हैं, अतएव अविच्छेद्य अनंत-आनंद हैं।

*

हमारा सत्य स्वरूप निहित है अन्तर में, उपरितल पर नहीं।

*

मन जागतिक सत्ता को समझने-समझाने में समर्थ नहीं।

*

ज्ञान मन तथा बौद्धिक तर्क के उस पार जिज्ञासु की प्रतीक्षा करता है।

*

मन विश्लेषण तथा संश्लेषण करनेवाला यंत्र है, यह तात्त्विक ज्ञान का करण नहीं।

*

सब प्रकार की आत्म-चरितार्थता सत्ता की आत्म-तृप्ति है।

*

सत्ता का नित्य एवं अविच्छेद्य आनंद, चेतना का आनंद, शक्ति या संकल्प का आनंद, चाहे वह अपने अंदर एकाग्र तथा निश्चल हो या सक्रिय एवं सर्जनशील,—यही है ईश्वर और यही कुछ हैं हम स्वयं, अपनी तात्त्विक एवं अगोचर सत्ता में।

*

आनंद ही जागतिक सत्ता का एकमात्र कारण, हेतु तथा लक्ष्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्षय शक्ति

योग की साधना खिलाड़ी को एक अतिप्रबल सहायता दे सकती है। यह उसे विश्वशक्ति के अक्षुण्ण स्रोत से शक्ति खींच करके अपने विभिन्न सामर्थ्यों को नया और ताजा बनाना सिखा सकती है।

भोजन शक्ति को पुनः प्राप्त करने का अत्यंत परिचित साधन है और भरण-पोषण की कला में आधुनिक विज्ञान ने उन्नति भी बहुत की है। परंतु इस साधन के प्रयोग का क्रम-विधान है अनिश्चित और अनेक प्रकार की सीमाओं से आबद्ध। इसकी हमें यहां चर्चा करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसके विषय में पहले ही बहुत कुछ कहा-सुना जा चुका है। परंतु यह प्रत्यक्ष है कि जब तक जगत् और व्यक्ति ऐसे ही रहेंगे जैसे कि वे हैं तब तक भोजन अपरिहार्य रहेगा। योगविद्या शक्ति प्राप्त करने के अन्य साधन भी जानती है, जिनमेंसे हम यहां दो अधिक महत्त्वपूर्ण साधनों का उल्लेख करते हैं।

पहला है इस जड़ पार्थिव जगत् में राशीभूत शक्ति के साथ समता स्थापित करके इस अक्षय स्रोत से खूब खुली तरह अपने भण्डार को भरना। यह पार्थिव शक्ति अंधकारमय तथा अर्द्ध-अचेतन है। यह मानव में पशुभाव बढ़ाती है, परंतु साथ ही यह उसमें और पार्थिव प्रकृति में एक प्रकार की समस्वरता स्थापित करती है। जो इस शक्ति को ग्रहण करना तथा प्रयोग में लाना जानते हैं वे सामान्यतया जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं और जो कुछ वे करते हैं उसमें कामयाब होते हैं। पर वे अपने जीवन की अन्य बहुत अवस्थाओं से तथा शारीरिक स्वास्थ्य की दशा से सीमित होते हैं। वे जिस समस्वरता को अपने अंदर पैदा कर पाते हैं वह सब प्रकार के आक्रमणों से सुरक्षित नहीं होती। वह अवस्थाओं के विपरीत हो जाने पर प्रायः लुप्त हो जाती है। बालक पार्थिव प्रकृति की इस शक्ति को सहज ही प्राप्त करता है जब कि वह बिना नापे-तोले, खुली तरह और प्रसन्नता से, अपने सारे बल को विभिन्न प्रवृत्तियों में लगा देता है। परंतु अधिक मनुष्यों में जैसे वे बड़े होते हैं यह योग्यता कुण्ठित हो जाती है। कारण है, जीवन की चिंताएं तथा चेतना में मानसिक चेष्टा की प्रधानता।

शक्ति का एक और स्रोत भी है, जो, एक बार जान लेने की बात है, पर सूखता कभी नहीं, बाह्य परिस्थिति तथा जीवन की भौतिक अवस्थाएं चाहे कुछ भी क्यों न हों। इस शक्ति को आध्यात्मिक कहा जा सकता है। यह नीचे से, अचेतन की गहराई से, प्राप्त नहीं की जाती, बल्कि ऊपर से, मानव और विश्व के परम स्रोत से, अतिचेतन के सर्वशक्तिमय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा शाश्वत महातेज से प्राप्त की जाती है। यह यहीं सब जगह, हमारे चारों ओर, सब वस्तुओं में व्यापी हुई है। इसके साथ संबंध बनाने तथा इसे प्राप्त करने के लिये बस यही करना होता है कि मनुष्य इसके लिये सच्चे हृदय से अभीप्सा करे, श्रद्धा और विश्वास के साथ इसके प्रति अपने आपको खोले तथा वैश्व चेतना के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिये अपनी चेतना को बड़ा करे।

प्रारंभ में, यह असंभव नहीं तो काफी कठिन जरूर प्रतीत हो सकता है। परंतु जरा ध्यान-पूर्वक विचारने से यह वैश्व चेतना सामान्यतः विकसित मानवीय चेतना से इतनी दूर तथा इतनी भिन्न नहीं प्रतीत होगी। वास्तव में ऐसे कम ही होंगे जिन्होंने अपने जीवन में एक बार भी कभी यह अनुभव नहीं किया कि वह मानों अपने आपसे ऊपर उठ गये थे और अप्रत्याशित तथा असाधारण शक्ति से भर गये थे, और उसने उन्हें उतने समय के लिये जैसे सब कुछ कर सकने का सामर्थ्य प्रदान कर दिया था। ऐसे अवसर पर कुछ भी अत्यधिक कठिन नहीं प्रतीत होता और 'असंभव शब्द' निरर्थक बन जाता है।

यह अनुभव, चाहे कितना भी क्षणिक क्यों न हो, उच्चतर शक्ति के साथ संबंध की, जो कि यौगिक साधना की कृपा से प्राप्त तथा प्रतिष्ठित होता है, एक प्रकार की झांकी है।

इस संबंध को प्राप्त करने की विधि यहां बतलाना कठिन है। वैसे भी विधि व्यक्तिगत चीज है, हर एक की अपनी अपनी, जो व्यक्ति की वर्तमान स्थिति के सापेक्ष होती है, उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिये मर्यादित तथा उसे एक कदम आगे बढ़ने में सहायक होने के लिये उपयुक्त होती है। मार्ग कई बार लंबा होता है और गति धीमी, परंतु अंत में जो फल मिलता है उसकी दृष्टि से यह कष्ट कुछ भी नहीं। कल्पना करना कठिन नहीं, क्या होंगे परिणाम, उस प्रकाशमय, शुद्ध तथा सर्वसमर्थ शक्ति के असीम स्रोत से इच्छापूर्वक तथा हर परिस्थिति में शक्ति खींच सकने की योग्यता के। श्रांति, अवसन्नता रोग, जरा, यहां तक कि मृत्यु भी बाधामात्र हो जायंगी, जिन्हें धीर मानव जरूर ही विजित कर लेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धांजलि

श्रद्धांजलि अर्पित करता जन, हे मनुष्यता के उन्नायक,
जग-जीवन के महायज्ञ में अतिमानवता के नव पावक !
लोक अभीप्सा की आहुति पा स्वर्ग शिखा से उठे प्रज्वलित
देव धरा के अंधकार को स्वर्णप्रात में करने दीपित !

महाकाल औ' महादिशा ज्यों सहम उठे छबि देख अलौकिक,
रूपांतरित हुए विमुग्ध त्रिभुवन भौतिक, मानस, आध्यात्मिक !
निखिल व्यक्त अव्यक्त, सकल सीमा असीम लय हुए विमोहित
पुनः देव में स्वयं परम को देख दिव्य तन मन में मूर्त्तित !

जीवन मन के मान गल गये, मिटीं पूर्णताएं अपूर्ण बन,
अल्प मनुज के स्वल्प राज्य घुल गये कुहासे-से उर के घन !
अतिमानस के ज्वलित स्वर्ण दर्पण में सहज विलोक प्रतिफलित
शुभ्र भागवत जीवन का भूस्वर्ग : अतीन्द्रिय इन्द्रिय शोभित !

धन्य अवनि, अवतरित हुए जो तुम अतिमानव लोक विधायक,
जन मन के चिर कुरुक्षेत्र के युग सारथि क्रम में अतिनायक !

(श्रद्धा भक्ति अवनत)—सुमित्रानंदन पंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

अनागसो अदितये स्याम

मातृवचनामृत--

प्रार्थना व ध्यान

बिना अधीर और अशांत हुए मैं प्रतीक्षा करती हूं एक नए आवरण के दूर होने की और पूर्णतर मिलन की। मैं जानती हूं कि यह आवरण छोटी छोटी त्रुटियों तथा अनगिनत मोह-बंधनों के एक पूरे समूह से बना हुआ है।...यह समूह कैसे दूर होगा? धीरे धीरे अनगिनत छोटे छोटे प्रयासों से तथा ऐसी सजगता से जो कभी क्षण भर के लिये भी नहीं चूकती, या यह दूर होगा कभी एकदम ही तेरे सर्वसमर्थ प्रेम के एक बृहत् प्रकाश से। पर मैं नहीं जानती और न ही मैं इसके विषय में कुछ शंका करती हूं। मैं तो प्रतीक्षा करती हूं सर्वतः शक्ति भर सजग रहते हुए। परंतु यह मुझे निश्चयपूर्वक पता है कि तेरी इच्छामात्र ही सत् है, कि कर्ता केवल तू ही है, तथा यह कि मैं एक यंत्र हूं। यह भी जानती हूं कि जब यंत्र पूर्णतर अभिव्यक्ति के लिये तैयार हो जायगा तब स्वभावतः ही उसका उसे अवसर प्राप्त होगा।

इस समय भी आवरण के पीछे से आनंद की एक मौन स्वर-लहरी सुनाई पड़ रही है, जो तेरे ओजस्वी अस्तित्व को जतलाती है।

११ दिसम्बर, १९१२

—श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक जांच सकना

एक बिल्कुल सीधी छड़ी लो; उसका आधा भाग पानी में डुबो दो। छड़ी तुम्हें बीच में से टेढ़ी दिखाई पड़ेगी, पर उसका यह रूप झूठा है; और यदि तुम यह सोचो कि छड़ी वास्तव में टेढ़ी हो गई तो तुम्हारा विचार गलत होगा। छड़ी को पानी से बाहर निकालो, तुम देखोगे कि वह पहले की भांति सीधी है।

इसके विपरीत, यह भी संभव है कि एक टेढ़ी छड़ी को इस तरीके से पानी में खड़ा किया जाय कि वह सीधी प्रतीत होने लगे।

कई मनुष्य भी इन छड़ियों के समान होते हैं। कुछ तो होते हैं सच्चे पर वे वैसे प्रतीत नहीं होते; कुछ लगते सच्चे हैं परंतु होते हैं छलिया--ऐसा मायावी रूप वे धारण कर लेते हैं। इसलिये बाह्य रूप का हमें कम से कम विश्वास करना चाहिये, साथ ही किसी व्यक्ति के बारे में मत स्थिर करने में खूब होशियारी बरतने की जरूरत होती है।

भारतवर्ष में एक साधु एक बार भिक्षा मांगता मांगता एक देश में से गुजरा। एक चरागाह में उसे एक मेढ़ा दिखाई पड़ा। जानवर उस समय क्रोध में था। उसने साधु पर झपटने की तैयारी की और वह सिर नीचे कर कुछ कदम पीछे हटा।

"वाह!" वह धर्माभिमानी साधु बोल उठा, "कैसा होशियार और भला है यह जानवर! इसे पता है कि मैं एक गुणी व्यक्ति हूं। मुझे प्रणाम करने के लिये ही तो इसने मेरे सामने सिर झुकाया है।"

ठीक उसी समय मेढ़ा उसपर कूद पड़ा और अपने सिर की एक ठोकर से उस गुणवान् व्यक्ति को जमीन पर दे पटका।

जो अनधिकारी है उसके प्रति विश्वास और सम्मान दिखाने से यही दशा होती है। कुछ लोग होते भयंकर हैं परंतु दिखाई निर्दोष देते हैं, जैसे कि वह कहानी का भेड़िया जिसने चरवाहे का लबादा पहन लिया था और भेड़ें उसे अपना स्वामी समझ बैठी थीं। इसके विपरीत, कुछ दिखते भयंकर हैं पर वैसे होते नहीं, जैसे एक और कहानी का गदहा जिसने शेर की खाल ओढ़ ली थी और वह भयानक प्रतीत होने लगा था।

★ ★

जहां मनुष्य दूसरों के बाह्य रूप में विश्वास करने की गलती कर सकता है वहां, इसके विपरीत, वह दूसरों के बारे में अनुदार और उतावला मत बनाने के प्रलोभन में भी पड़ सकता है।

फारिस का शाह इस्माइल सफवी खुरासान का राज्य जीतकर अपनी राजधानी को वापिस लौट रहा था। जब वह कवि हातिफी के निवासस्थान के पास से गुजरा तो उसके मन में कवि से मिलने की इच्छा हो आई। उस प्रसिद्ध व्यक्ति को देखने की उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा इतनी प्रबल हो उठी कि उसमें इतना धैर्य भी नहीं रहा कि वह मकान के सिंहद्वार तक पहुंच सके। उसकी दृष्टि अहाते की दीवार के बाहर एक पेड़ की लटकती हुई शाखा पर पड़ी। वह उसके सहारे झूल गया और दीवार को फांदता हुआ कवि के बगीचे में जा कूदा।

यदि इसी प्रकार कोई सहसा तुम्हारे मकान में घुस आये तो तुम क्या सोचोगे? निश्चय ही, तुम उसे चोर समझोगे और उसके साथ वैसे ही पेश आओगे।

पर हातिफी ने यह अच्छा किया कि उसने घटना के बाह्य स्वरूप को देखकर और अपने सर्वप्रथम विचार के अनुसार ही अपना मत स्थिर नहीं किया। उसने अपने अनोखे अतिथि की खूब आवभगत की। और कुछ दिनों बाद तो इस घटना पर उसने एक कविता लिखी कि किस प्रकार शाह के मन में उससे मिलने की ऐसी उत्सुकता हो उठी थी।

*　　　　*

साधारणतया दूसरों के अवगुण देखना अधिक आसान होता है। प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई दोष होता ही है और अपनी अपेक्षा दूसरे लोग उसे जल्दी जान लेते हैं। परंतु यदि हम दूसरों के प्रति कम से कम अन्याय करना चाहें तो हमें उनके सर्वोत्तम गुण को देखने का यत्न करना चाहिये। एक लोकोक्ति है—"यदि तुम्हारा मित्र काना है तो उसके मुंह को एक ओर से देखो।"

तुम्हारे जो सहपाठी तुम्हें फूहड़ और सुस्त प्रतीत होते हैं वे वास्तव में सबसे अधिक परिश्रमी हो सकते हैं।

तुम्हारे जो अध्यापक तुम्हें अनुशासनप्रिय और कठोर मालूम देते हैं वे, निश्चय ही, तुमसे प्रेम करते हैं और केवल तुम्हारी उन्नति की ही इच्छा करते हैं।

वह मित्र जो तुम्हें अरुचिकर और गंवार दिखाई पड़ता है तुम्हारा सबसे अधिक हितैषी हो सकता है।

कई ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें हम दुष्ट समझकर प्रेम नहीं करते। इनके भीतर भी कोई न कोई ऐसा गुण होता है जिसको हम देख नहीं पाते।

आगोबीओ नाम के शहर के आसपास के खेतों और जंगलों में एक विशालकाय भेड़िये का इतना आतंक छाया हुआ था कि वहां कोई रास्ता चलने का साहस नहीं करता था। यह अनेक मनुष्यों और पशुओं का सफाया कर चुका था।

अंत में भद्र-प्रकृति संत फ्रांस्वा ने उस भयानक जानवर का सामना करने का निश्चय किया। वे शहर से बाहर निकले। उनके पीछे पुरुषों और स्त्रियों की एक बड़ी भीड़ थी। ज्यों ही वे जंगल के समीप पहुंचे, त्यों ही भेड़िया मुंह फाड़े संत की ओर लपका। परंतु फ्रांस्वा ने शांतिपूर्वक कुछ इशारा किया और भेड़िया ठंडा होकर उनके पैरों के पास ऐसे लोट गया मानों भेड़ का कोई बच्चा हो।

"भाई भेड़िये", संत फ्रांस्वा ने कहा, "तूने इस देश को बहुत हानि पहुंचाई है। जो दंड हत्यारों को मिलना चाहिये तू उसी दंड का अधिकारी है और सब लोग तुझसे घृणा करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। परंतु यदि तेरे और आगोबीओ के मेरे इन मित्रों के बीच में मैत्री स्थापित हो जाय तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

भेड़िये ने अपना सिर झुका लिया और वह अपनी पूंछ हिलाने लगा।

संत फ्रांस्वा ने और कहा—"भाई भेड़िये, मैं तुझसे प्रतिज्ञा करता हूं कि यदि तू इन लोगों के साथ शांतिपूर्वक रहना स्वीकार करे तो ये तेरे साथ अच्छा बर्ताव करेंगे और तुझको प्रतिदिन खाना भी देंगे। क्या तू भी यह प्रतिज्ञा करता है कि आज से तू इनको कोई हानि नहीं पहुंचायेगा?"

अब तो भेड़िये ने अपना सिर पूरी तरह से झुका दिया और अपना दायां पंजा संत के हाथ में रख दिया। इस प्रकार सच्चे दिल से दोनों में संधि स्थापित हो गई।

तब फ्रांस्वा भेड़िये को आगोबीओ के विशाल राजमहल की ओर ले चले। वहां नागरिकों की एक भारी भीड़ के सामने उन्होंने उक्त वचन फिर दुहराये। और उसने भी फिर से अपना पंजा संत के हाथ में धर दिया जिसका अर्थ यह था कि वह भविष्य में अच्छे आचरण की प्रतिज्ञा करता है।

वह भेड़िया उस नगर में दो वर्ष तक रहा और उसने इस बीच में किसी को कोई हानि नहीं पहुंचाई। नगरवासी उसकेलिये प्रतिदिन भोजन लाते थे। जब उसकी मृत्यु हुई तो सबको दुःख हुआ।

वह भेड़िया कितना भी बुरा क्यों न प्रतीत होता था पर उसके अंदर एक ऐसी चीज थी जिसको वास्तव में, तब तक किसी व्यक्ति ने नहीं जाना जब तक संत फ्रांस्वा ने उसे 'भाई' कहकर संबोधित नहीं किया। इस कहानी में भेड़िया निःसंदेह एक बड़े अपराधी का दृष्टांत उपस्थित करता है जिससे सब लोग घृणा करते हैं। परंतु यह हमें बताती है कि उन लोगों में भी, जिनसे किसी को कोई आशा नहीं होती, भलाई के कुछ ऐसे बीज होते हैं जो तनिक सा प्रेम पाकर फूट पड़ते हैं।

ऐसा कोई भी लकड़ी का तख्ता न होगा—चाहे वह कितना भी सड़ा-गला क्यों न हो—जिसमें एक कुशल मिस्त्री कुछ रेशे ठीक अवस्था में न देख सके। एक फूहड़ कारीगर अज्ञान और घृणावश उसको फेंक देगा पर एक प्रवीण बढ़ई उसे उठाकर रख लेगा और जो हिस्सा सड़-गल चुका है उसे निकालकर बाकी को होशियारी से रंदा फेरकर साफ कर लेगा। वृक्षों की कठोर गांठें मूर्त्ति बनानेवाले कलाकार के बड़े काम आती हैं, क्योंकि उन्हीं में वह छोटे छोटे अत्यंत आकर्षक चित्र खोद सकता है।

* *

गियाना प्रदेश का जलवायु योरुपवासियों के लिये बिल्कुल विनाशकारी है। वहां दंडितों और निर्वासितों के लिये बंदीगृह बने हुए हैं। कई वर्षों की बात है, वहां एक बार एक प्रहरी अपनी देखरेख में कैदियों के एक गिरोह को केन नामक स्थान को ले जा रहा था। अचानक, तट के समीप ही, जब लहरें किनारे की ओर बढ़ रही थीं, वह पानी में गिर पड़ा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस बंदरगाह में लहरों के उतार के समय इतनी रेत भर जाती थी कि नौका को वहां खड़ा करना सर्वथा असंभव हो जाता था। इसके विपरीत ज्वार के समय पानी के तेज बहाव के साथ साथ शार्क मछलियां एक बड़ी संख्या में आकर सारे तट को घेर लेतीं।

पानी में गिरे हुए उस प्रहरी की दशा अत्यंत चिंताजनक हो उठी थी, क्योंकि तैरना भी उसे नाममात्र को ही आता था। क्षण क्षण में यह भय बढ़ रहा था कि हिंसक जंतु उसे निगल जायंगे। तभी किसी कोमल भावना से प्रेरित होकर एक कैदी पानी में कूद पड़ा। वह उस प्रहरी को पकड़ने में सफल हो गया और यथेष्ट प्रयत्नों के बाद वह उसे बचा सका।

वह मनुष्य एक अपराधी था—ऐसा अपराधी कि जिसको कोई रास्ता चलता कैदी की पोषाक में, नंबर और निशान सहित, देख ले तो वह घृणा से मुंह फेर ले। उसका तो अपना अब कोई नाम ही नहीं था, वह नंबर ही उसका नाम था और जो अब एक कृपापूर्ण दृष्टि, एक दयापूर्ण शब्द का भी अधिकारी नहीं था। पर इस विचार को हम न्याययुक्त नहीं कह सकते क्योंकि उसके अंदर भी दया नाम की चीज का निवास था। सब दोषों के होते हुए भी उसका हृदय कोमल था। उसने अपनी जान भी खतरे में डाली तो किसके लिये?—उस मनुष्य के लिये जिसको अपने कर्तव्य-पालन के हेतु उसके साथ निरंतर कठोरता का बर्ताव करना पड़ता था।

*　　*

अपराधियों की एक और कहानी भी है। इससे हमें यह पता चलेगा कि यदि मनुष्यों के बाह्य स्वरूपों को देखकर हम अपना मत स्थिर करें तो कितना धोखा खा सकते हैं।

दो कैदी जेल से छूटने के बाद ओ-मारोनी नामक स्थान के कच्चे सोने के एक व्यापारी के यहां नौकर हो गये। व्यापारी इन्हें विश्वस्त मानकर वर्षों तक स्वर्ण-धूलि और स्वर्ण की डलिया इनको सौंपता रहा। वे ही उनको पास के स्वर्ण-बाजार में बेचने के लिये ले जाते। पर वह पास का बाजार भी इतना दूर था कि वहां पहुंचने में तीस दिन लग जाते। नदी के बहाव में नाव द्वारा जाना होता था।

एक दिन उन दोनों छूटे हुए कैदियों ने भागने का निश्चय किया।

क्योंकि वहां कैदियों को अपना दंड भुगत लेने के बाद भी वापिस अपने घर जाने की स्वतंत्रता नहीं थी। उन्हें वहीं प्रायश्चित्त-गृहों में, कभी कभी तो सारा जीवन ही, रहना होता था। वह प्रदेश भी गियाना के समान बंजर और सूखा था, और कहीं कहीं इतना घना जंगल और दलदल भूमि थी कि उन लोगों को सदा ही वहां भूख और ज्वर से मरने का डर लगा रहता था। उनमेंसे अधिकतर तो अवसर मिलते ही भाग खड़े होते थे।

व्यापारी के इन नौकरों ने भी अपने पास नाव पाकर उससे फायदा उठाना चाहा। अतएव परले किनारे पर स्थित हालेंड के किसी उपनिवेश में भाग जाने का उन्होंने निश्चय किया।

पर इससे पहले जितना भी स्वर्ण उनके स्वामी का उनके पास था उन्होंने उसे एक स्थान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर रख दिया और व्यापारी को पत्र लिखकर उस स्थान का पता बता दिया।

उन्होंने लिखा—"आपने हमपर सदा कृपा रखी है। सो भागते समय हम इतने कृतघ्न नहीं हो सकते कि उस धन से, जिसको आपने हमपर विश्वास करके हमें सौंपा है, आपको वंचित कर दें।"

स्मरण रहे, ये दोनों कैदी चोरी-डकैती के लिये दंडित हुए थे। जो स्वर्ण उनके हाथ में था कितना भी थोड़ा क्यों न हो उनके काम आ सकता था। परंतु उनके अंदर कोई चीज सच्ची और खरी भी थी। उन लोगों के लिये जो उनके पूर्व इतिहास को जानते थे और उसी के आधार पर अपना मत बनाते थे वे कुकर्मी चोर और डाकू थे; परंतु उस व्यक्ति के लिये जो उनपर विश्वास करना जानता था, सब दोषों के होते हुए भी वे विश्वासपात्र बन सकते थे।

नन्हे बच्चो, हमें अपने विचारों में उदार और दूरदर्शी होना चाहिये; अपने साथियों के बारे में कोई भी उतावला मत स्थिर कर डालने से हमें बचना चाहिये। सबसे अच्छा तो यह है कि यदि इसके बिना काम चल जाय तो कोई मत इस प्रकार स्थिर ही नहीं करना चाहिये।

(श्रीमती लीलावती द्वारा मूल फ्रेंच से अनूदित)

निस्संदेह वही सुखी है जो भगवान्‌को प्यार करता है, क्योंकि भगवान् सर्वदा उसके साथ रहते हैं।

*

अधिक एकान्तभावसे भगवान्‌के प्रेमकी ओर झुको। जब मनुष्य भगवत्प्रेमको ग्रहण करता है तब भला उसके लिये किसी मानवप्रेमका क्या मूल्य हो सकता है ?

*

मानव-प्रेमके पीछे बराबर ही एक प्रकारका तीखा स्वाद लगा रहता है—एकमात्र भगवत्प्रेम ही ऐसी चीज है जो कभी निराश नहीं करती।

*

तुम्हारी अभीप्साकी सच्चाई ही वह चीज है जिसके उत्तरमें अपने-आप दिव्य प्रेम प्रकट होता है।

—श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविंद-वाणी–

विशेष वचन

"अतिमन और दिव्य जीवन"

अतिमन और उसकी सत्य-चेतना की अभिव्यक्ति अवश्यंभावी है; यह इस संसार में जल्दी या देर में होकर ही रहेगी। परंतु इसके दो पहलू हैं,—ऊपर से अवतरण, नीचे से आरोहण, परम आत्मा का प्राकट्य, विश्वप्रकृति में विकास। आरोहण अवश्यमेव एक प्रयत्न है, प्रकृति की एक क्रिया है, उसका निम्नांगों को विकासात्मक अथवा क्रांतिकारी तरीके से, उन्नति अथवा रूपांतर द्वारा उठाकर दिव्य तत्त्व में परिवर्तित कर देने का एक संवेग या प्रयास है। और यह परिवर्तन एक क्रमिक प्रक्रिया और उन्नति के ढंग से हो सकता है अथवा एक द्रुत चमत्कार के रूप में। परम आत्मा का अवतरण या स्व-प्राकट्य परम सद्वस्तु की ऊर्ध्वस्थ क्रिया है, जिसके कारण सिद्धि संभव हो जाती है। यह क्रिया दिव्य सहायता के रूप में प्रकट होकर विकास-प्रक्रिया को पूर्ण रूप से चरितार्थ करती है या यह ईश्वरादिष्ट चमत्कार के रूप में भी प्रकट हो सकती है। विकास का जैसा रूप हम इस संसार में देखते हैं वह एक मंद तथा कठिन प्रक्रिया है और निःसंदेह उसे स्थायी परिणामों तक पहुंचने में प्रायः युगों की जरूरत होती है। परंतु यह इसलिये कि विकास, अपने स्वरूप में, अचेतन प्रारंभों से एक प्रकार की उत्क्रांति है; निश्चेतनामूलक है, प्राकृतिक सत्ताओं के अज्ञान के भीतर प्रत्यक्षतः अचेतन बल द्वारा होनेवाली एक क्रिया है। इसके विपरीत, एक ऐसा विकास भी हो सकता है जो पूर्ववत् अंधकार में नहीं बल्कि प्रकाश में हो, जिसमें विकासोन्मुख जीव सचेतन रूप से भाग ले तथा सहयोग दे, और ठीक यही चीज यहां घटित होगी। अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रयास एवं प्रगति में भी हमारी प्रकृति के शिखरों पर, पूर्ण रूप में नहीं तो आंशिक रूप में, यही होगा और आध्यात्मिक परिवर्तन, उपलब्धि और रूपांतर की ओर अंतिम प्रयास में तो पूर्ण रूप से ऐसा ही होगा। अज्ञान और ज्ञान की विभाजक रेखा को लांघकर जब कि विकास ज्ञान से महत्तर ज्ञान की ओर, चेतना से महत्तर चेतना की ओर, सत्ता से महत्तर सत्ता की ओर होगा तब तो यह और भी अधिक होगा। तब साधारण विकास की मंद गति की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी; तब तो द्रुत परिवर्तन एवं रूपांतर के बाद रूपांतर झटपट हो सकेगा जो हमारे साधारण वर्तमान मन को चमत्कारों की शृङ्खला प्रतीत होगा।

"अतिमन और दिव्य जीवन" यह शारीरिक शिक्षण पत्रिका में श्रीअरविंद का अगला नया लेख है जो हम अपने फरवरी अंक में देंगे। इसमें श्रीअरविंद ने अत्यंत सजीव और समूर्त रूप में अतिमन की चर्चा की है। मानव विकास का वह कैसा सबल और निर्णायक साधन है यह अनुभव-सा हो जाता है। उसी में का एक पैरा यहां विशेष वचन के रूप में पेशगी दे रहे हैं। —सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द के पत्र–

आश्रम में कर्म तथा खेल

आश्रम में कर्म का लक्ष्य

यह आश्रम दूसरे आश्रमों जैसा नहीं है–आश्रमवासी संन्यासी नहीं हैं; यहां के योग का अनन्य लक्ष्य मोक्ष नहीं। यहां जो कुछ किया जा रहा है वह कर्म की तैयारी है–उस कर्म की जो यौगिक चेतना तथा योगशक्ति पर प्रतिष्ठित होगा, और जिसका अन्य कोई आधार हो ही नहीं सकता। इस बीच में, यहां के प्रत्येक साधक से यह आशा की जाती है कि वह अपनी आध्यात्मिक तैयारी के अंग के तौर पर आश्रम में कुछ न कुछ काम करे।

कर्मयोग की मूल चेतना

जो चीज तुमने प्राप्त की तथा कर्म के समय धारित रखी वह निःसंदेह कर्मयोग की सच्ची आधारभूत चेतना है–ऊपर से आई शांत चेतना है जो कर्म को आश्रय देती है तथा ऊपर से आई शक्ति है जो कर्म करती है, इसके साथ ही तुम्हें ऐसी भक्ति भी प्राप्त हुई है जो इस चेतना को यूं अनुभव करती है कि माताजी की ही चेतना तुममें साक्षात् उपस्थित है तथा कर्म कर रही है। अब तुम्हें अनुभव से पता लग गया है कि कर्मयोग का रहस्य क्या है।

१५.९.१९३६

माताजी के लिये कर्म

माताजी पर यथार्थ एकाग्रता सहित उनके लिये किया हुआ काम उतनी ही बड़ी साधना है जितनी ध्यान-धारणा तथा आन्तर अनुभूतियां।

कर्म में यथार्थ वृत्ति

जब कर्म के साथ सदा ही माताजी का चिंतन चलता है, जब वह उनके प्रति भेंट के रूप में तथा इस प्रकारपूर्वक किया जाता है कि वही तुम्हारे द्वारा इसे करें तब ऐसा ही होता है। अहंमूलक सब विचार, कर्म के साथ अहंकारमय भावों का समस्त संबंध दूर हो जाना चाहिये। व्यक्ति अनुभव करने लगता है कि माताजी की शक्ति कर्म कर रही है; अन्तरात्मा कर्म की मूलभूत एक विशेष अन्तर्वृत्ति से विकसित होती है और आधार अंदर से प्राप्त आन्तरात्मिक सहजज्ञानों एवं प्रभावों तथा ऊपर से होनेवाले अवतरण–दोनों की ओर खुल जाता है। तब ध्यान का फल स्वतः कर्म से प्राप्त हो सकता है।

५.५.१९३६

साधना में सच्ची गति

तुम ध्यान किसे कहते हो? आंखें मूंद करके एकाग्रता करना? यह सच्ची चेतना को नीचे पुकार लाने के लिये केवल एक विधि है। सच्ची चेतना से जुड़ जाना, योगयुक्त होना या उसका अवतरण अनुभव करना ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है और यदि यह रूढ़ पद्धति के बिना प्राप्त हो जाय, जैसे कि यह सदा ही मुझे प्राप्त हुई, तो बहुत ही उत्तम होगा। ध्यान केवल एक साधन या उपाय है, सच्ची गति तो वह है जब मनुष्य चलते-फिरते, कामकाज करते या बोलते-चालते भी साधना में रहे।

१०.६.१९३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म द्वारा साधना

(१)

शांत, नित्य-विस्तारशील चेतना में कर्म करना एक साथ साधना भी है तथा सिद्धि भी।

२६.५.१९३७

(२)

तुम्हारे वैयक्तिक अनुभव के बल पर, वह अनुभव चाहे छोटा हो या बड़ा, तर्क करके उससे कोई व्यापक सिद्धांत क्यों बनाया जाय? बहुतेरे लोग (शायद बहुसंख्यक) इसे (कर्म द्वारा साधना को) सबसे सुगम पाते हैं। बहुतों को काम करते हुए माताजी का चिंतन करना आसान मालूम होता है; किंतु जब वे पढ़ते लिखते हैं तो, उनका मन पठित या लिखित वस्तु की ओर चला जाता है, फलतः वे और सब कुछ भूल जाते हैं। मेरा ख्याल है कि अधिकतर लोगों की यही दशा होती है। इसके विपरीत शारीरिक कर्म मन के अत्यंत बाह्य भाग से किया जा सकता है और शेष सारा मन स्मरण करने या अनुभव करने के लिये स्वतंत्र छोड़ा जा सकता है।

भौतिक वस्तुओं में चेतना

यह बिल्कुल ठीक है कि भौतिक वस्तुओं के भीतर चेतना होती है जिसे सार-संभाल का संवेदन होता है तथा जो उसका प्रत्युत्तर देती है और असावधानतापूर्ण स्पर्श एवं अनाड़ी प्रयोग के प्रति शीघ्रचैतन्य है। यह बात जानना या अनुभव करना तथा उनके प्रति सावधान होना सीखना चेतना की महान् प्रगति है।

१६.४.१९३६

आश्रम में खेल

निःसंदेह, हम आश्रम में खिलाड़ी ही खिलाड़ी नहीं देखना चाहते : इससे तो यह आश्रम न रहकर क्रीड़ाक्षेत्र बन जायगा। खेल तथा शारीरिक व्यायाम मुख्य रूप से स्कूल के बच्चों के लिये हैं और वे भी केवल खेल ही नहीं खेलते बल्कि उन्हें अपनी पढ़ाई-लिखाई में भी ध्यान देना होता है। गौण रूप से, युवक साधकों को इन खेलों में सम्मिलित होने की अनुमति दी गई है, पर आदेश नहीं, यहां तक कि परामर्श भी नहीं, पर निश्चितरूपेण, ऐसा तो नहीं माना जाता कि वे खिलाड़ी ही बनेंगे, उन्हें अन्य भी अधिक आवश्यक कार्य करने को हैं। खिलाड़ी होना अवश्य ही ऐच्छिक चुनाव का विषय है और इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति को इस विषय में रस एवं रुचि है या नहीं। ऐसे लोग बहुत से हैं जिन्हें खेलों में भाग लेने का कभी स्वप्न में भी विचार नहीं आयगा और माताजी के मन में भी यह कभी नहीं आयगा कि वे उन्हें ऐसा करने को कहें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिव्य शरीर

हमारा प्रश्न

दिव्य शरीर में दिव्य जीवन ही हमारे ध्येय का सूत्र है। परंतु दिव्य शरीर क्या होगा? उसका स्वरूप, उसकी रचना, उसकी क्रिया का मूलतत्त्व क्या होगा? जिस सीमित एवं अपूर्ण स्थूल देह में हम आज बंधे हुए हैं उससे विलक्षण उसकी पूर्णता क्या होगी? उसके जीवन के वे कौनसे गुण-कर्म होंगे जिनसे वह, पृथ्वी-आश्रित तथा भौतिक होने पर भी, दिव्य समझा जा सकेगा?

यदि यह दिव्य शरीर क्रमविकास से ही उत्पन्न होना हो,—और हमें इसे इसी रूप में ही अपने लक्ष्य में रखना चाहिये कि यह हमारी मानवीय अपूर्णता एवं अज्ञान में से आत्मा और प्रकृति के महत्तर सत्य में हमारा विकास होने पर उत्पन्न होगा—यदि ऐसा ही होना हो तो किस प्रक्रिया से और किन अवस्थाओं में से होता हुआ यह शरीर क्रमशः वर्द्धित होगा या शीघ्रता से अभिव्यक्त होगा? पृथ्वी पर होनेवाले क्रमविकास की प्रक्रिया अब तक बड़ी ही धीमी गति से और बड़े विलंब से चलती रही है—अगर कोई रूपांतर होनेवाला हो, अगर क्रमशः या सहसा कोई परिवर्तन होनेवाला हो तो किस तत्त्व को हस्तक्षेप करना होगा?

विकासक्रम और दिव्य शरीर

निःसंदेह क्रमविकास के फलस्वरूप ही हम इस रूपांतर की संभावना तक पहुंचते हैं। जिस तरह प्रकृति ने जड़तत्त्व से परे विकसित होकर प्राण को अभिव्यक्त किया है, प्राण के परे विकसित होकर मन को अभिव्यक्त किया है, उसी तरह वह निश्चय ही मन के परे विकसित होगी और हमारी सत्ता की एक ऐसी चेतना और शक्ति को अभिव्यक्त करेगी जो हमारी मानसिक सत्ता की अपूर्णता और ससीमता से मुक्त होगी, एक अतिमानसिक या सत्य-चेतना होगी और आत्मा की शक्ति और पूर्णता को विकसित करने में समर्थ होगी। यहां अब यह आवश्यक नहीं कि हमारे विकास का विधान या उसकी पद्धति धीमी और अधिक समय लेनेवाली हो; परंतु जब तक मानसिक अज्ञान चिमटा रहकर हमारे आरोहण में बाधा पहुंचायेगा तब तक यह न्यूनाधिक मंद एवं शिथिल ही रहेगी; परंतु एक बार हम सत्य-चैतन्य के अंदर उन्नीत हुए नहीं कि फिर सत्ता तथा आध्यात्मिक सत्य-संबंधी इसकी शक्ति ही सब बातों का निर्णय करेगी। उसी सत्य के अंदर हम मुक्त होंगे और वह मन, प्राण और शरीर को रूपांतरित कर देगा। वहीं अतिमानसिक सत्य-चेतना की स्वाभाविक शक्तियों के रूप में ज्योति, आनंद सौंदर्य विद्यमान हैं और वहीं है समस्त सत्ता की पूर्णताप्राप्त सहज निर्दोष क्रिया। ये सब अपने स्वभाववश ही मन, प्राण और शरीर को, यहीं, इस पृथ्वी पर ही, सत्य-चेतन आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में परिवर्त्तित कर देंगे। अतिमानसिक सत्य-चेतना के सामने पृथ्वी की अंधताएं नहीं टिकेंगी, क्योंकि विजय प्राप्त करने के लिये यह पृथ्वी के अंदर भी काफी मात्रा में आत्मा की सर्वज्ञ ज्योति और सर्वसमर्थ शक्ति को ले आयगी। उसकी परिपूर्ण ज्योति और शक्ति की ओर सब कुछ भले ही न उद्घाटित हो, पर जो कुछ जितना उद्घाटित होगा वह उतने अंश में अवश्य ही परिवर्त्तित होगा। यही इस रूपांतर का सिद्धांत होगा।

हो सकता है कि इस समस्या को हल करने के लिये पहला कदम या पहला प्रयत्न यह हो कि हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंदर एक प्रकार का आध्यात्मिक परिवर्तन होकर अन्तरात्मा प्रकृति का स्वामी बन जाय, मन एक ज्योतितत्त्व में तथा प्राणबल एक शक्ति एवं पवित्रता में रूपांतरित हो जाय और इस प्रकार हम निपट मानवीय प्रणाली को अतिक्रम कर एक ऐसी चीज की प्रतिष्ठा करें जो पृथ्वी पर दिव्य जीवन कहला सके और अतिमानवता का प्रथम स्थूल चित्र या पार्थिव प्रकृति की परिस्थिति के अंदर अतिमानसिक जीवनशैली की प्रारंभिक रूपरेखा समझी जा सके। परंतु यह वह पूर्ण और समूल परिवर्तन नहीं हो सकता जो वास्तव में आवश्यक है; यह सर्वांगिण रूपांतर नहीं होगा, दिव्य शरीर में दिव्य जीवन का पूर्ण वैभव नहीं होगा। शरीर तो अभी भी मानवीय बना रहेगा। और वह अपने मूल रूप और मूलगत स्वभाव में पशु-शरीर ही होगा और वह शरीर जीव के उच्चतर अंगों पर अपनी अपरिहार्य सीमाएं लादेगा। जिस तरह अरूपांतरित मन का मूलगत दोष है अज्ञान और भूलभ्रांति के द्वारा सीमित करना, अरूपांतरित प्राणशक्ति का दोष है अपूर्ण आवेगों, उत्कट प्रयासों और कामना की चाहों से सीमित करना, उसी तरह अरूपांतरित या अपूर्ण रूप से रूपांतरित शरीर का दोष होगा शारीरिक कर्म करने की क्षमताओं की अपूर्णता, इससे की जानेवाली मांगों के प्रति इसकी अर्द्ध-चेतना के प्रत्युत्तर की ससीमता और इसके आदि पशुत्व के भद्देपन और गंदगी का बना रहना। ये सब चीजें महज बाधा पहुंचा सकती हैं और यहां तक कि प्रकृति के उच्चतर भागों की क्रिया को अपनी ओर नीचे खींच ले जा सकती हैं। शरीर का रूपांतर करना निश्चय ही प्रकृति के सर्वांगपूर्ण रूपांतर की एक आवश्यक शर्त्त होना चाहिये।

यह भी संभव है कि यह रूपांतर शनैः शनैः सिद्ध हो; हमारी प्रकृति में कुछ ऐसी शक्तियां भी हैं जो मनोमय क्षेत्र से संबंध रखती हुई भी वर्द्धमान विज्ञान की ही बीजरूप शक्तियां हैं, ये हमारे मानव मन से परे उन्नीत हैं और भगवान् की ज्योति और शक्ति में हिस्सा बंटाती हैं, इन सब स्तरों से होकर ऊपर उठना तथा इनका मानस सत्ता में उतरना विकास का स्वाभाविक क्रम मालूम हो सकता है। परंतु व्यवहार में यह पता चल सकता है कि सर्वांगपूर्ण रूपांतर के लिये ये सब मध्यवर्ती स्तर पर्याप्त नहीं हैं। ये स्तर स्वयं मानस-सत्ता की ही प्रवुद्ध शक्तियां होने के कारण तथा अभी तक पूरे अर्थ में अतिमानसिक न होने के कारण, मन के अंदर केवल आंशिक दिव्यत्व को ही ले आ सकते हैं अथवा मन को उस (दिव्यत्व) की ओर उठा ले जा सकते हैं पर उसे सत्य-चेतना की परिपूर्ण अतिमानसिकता के अंदर ले जाकर वहां स्थापित नहीं कर सकते। फिर भी ये स्तर आरोहण के विभिन्न क्रम या अवस्थाएं हो सकते हैं जिन्हें कुछ लोग प्राप्त करेंगे और वहीं रुक जायंगे जब कि दूसरे और ऊपर चले जायंगे और एक अर्द्ध-दिव्य जीवन के उच्चतर स्तर में पहुंच जायंगे और वहीं निवास करेंगे। यह नहीं मान लेना चाहिये कि सारी मनुष्यजाति एक साथ ही अतिमानस में ऊपर उठ जायगी; आरंभ में केवल वे ही लोग आरोहण की उच्चतम या किसी मध्यवर्ती ऊंचाई तक पहुंचेंगे जिनका आंतरिक विकास उन्हें किसी वैसे महान् परिवर्तन के योग्य बना चुका होगा अथवा जो भगवान् के सीधे स्पर्श के द्वारा भगवान् की पूर्ण ज्योति और शक्ति और आनंद के अंदर उन्नीत हो चुके होंगे। संभव है कि मानवजाति का एक बहुत बड़ा दल बाद में भी बहुत दिनों तक एक सामान्य या केवल अंशतः उद्भासित और उन्नीत मानव प्रकृति से ही संतुष्ट बना रहे। परंतु अपने आप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में यह भी पार्थिव जीवन का एक प्रकार का पर्याप्त मौलिक परिवर्तन और प्रारंभिक रूपांतर होगा; क्योंकि उन सब लोगों के लिये रास्ता खुला रहेगा जो ऊपर उठने की इच्छा रखेंगे, सत्य-चेतना का अतिमानसिक प्रभाव पार्थिव जीवन को स्पर्श करेगा और पृथ्वी के अरूपांतरित मानवसमाज को भी प्रभावान्वित करेगा और अंत में सब मनुष्यों को ही एक आशा और एक आश्वासन प्राप्त होगा जिसे आज बहुत थोड़े से लोग ही प्राप्त या सिद्ध कर सकते हैं।

खैर, जो हो, ये सब चीजें केवल प्रारंभिक होंगी और ये पृथ्वी पर प्राप्त होनेवाले दिव्य जीवन की पूर्णता को नहीं गठित कर सकतीं; निश्चय ही पार्थिव जीवन का एक नवीन दिशा में मुड़ना इसे कहा जा सकेगा पर उस जीवन के परिवर्तन की चरम पराकाष्ठा यह नहीं हो सकता। उसके लिये अतिमानसिक सत्य-चेतना का—ऋत-चित् का—साम्राज्य स्थापित होना ही चाहिये। पृथ्वी पर जीवन के अन्य जितने भी रूप हैं वे सब इस ऋत-चित् के अधीन हो जायंगे और इसे ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व और चरम शक्ति मानकर इसी पर निर्भर करेंगे, वे इसे ही अपना लक्ष्य समझेंगे, इसके प्रभावों से लाभ उठावेंगे और इसकी ज्योति और सर्वत्र प्रविष्ट होनेवाली शक्ति के कुछ अंश के द्वारा परिचालित और उन्नीत होंगे। विशेषतः जिस तरह मनुष्य से पहले के पशु-शरीर में कुछ सुधार होकर मनुष्य-शरीर उत्पन्न हुआ था और मनोमय जीव के मन और प्राणतत्त्व के लिये उपयोगी और आवश्यक अपनी गतिविधियों और क्रियाओं के द्वारा जीवन की एक नई शक्ति को अभिव्यक्त करनेवाला उसका सीधा आकार प्रकट हुआ था, उसी तरह अब एक और प्रकार के शरीर का विकास अवश्य होना चाहिये जिसमें एक ऐसे दिव्य कर्म की नई शक्तियां, क्रियाएं या मात्राएं हों जो सत्य-सचेतन सत्ता को प्रकट करनेवाला हों, अतिमानसिक चेतना के उपयुक्त हो और सचेतन आत्मा को मूर्त्तिमान् करे। जहां उस शरीर में यह क्षमता होनी चाहिये कि वह पार्थिव जीवन की उन सभी क्रियाओं को ग्रहण करे, उन्नत और सूक्ष्म बनावे जो अध्यात्मभावापन्न होने के योग्य हों, वहां उसे उस मूल पशुत्व को और उसकी अमिट छाप से रंजित क्रियाओं को अतिक्रम भी करना ही होगा; अथवा कम से कम इस सर्वांगीण परिवर्तन का यह फल अवश्य होना चाहिये अथवा उसके साथ-साथ स्वयं यह अवश्य घटित होना चाहिये कि इन सबका कोई न कोई उद्धारक रूपांतर हो जाय, इन्हें सजीव बनानेवाली चेतना और इनके मूल उद्देश्यों का आत्मा या हृत्-पुरुष के प्रभाव के द्वारा कुछ रूपांतर हो जाय और जो कुछ इस तरह रूपांतरित न हो सके उसे झाड़कर फेंक दिया जाय, यहां तक कि जिस चीज को हम उसका यंत्ररूप ढांचा, उसकी क्रियावली और संगठन कह सकते हैं, उसका भी परिवर्तन हो जाय और इन सब चीजों पर एक प्रकार का पूर्ण और अभूतपूर्व संयम स्थापित हो जाय। ये सब चीजें कुछ अंशों में अनेक आध्यात्मिकशक्ति-संपन्न महापुरुषों के जीवन में देखी जा चुकी हैं; परंतु वे एक तरह से असाधारण और सामयिक चीजें थीं, एक अर्जित क्षमता की आकस्मिक या अपूर्ण अभिव्यक्तियां थीं, एक नई चेतना के, एक नवीन जीवन और नई प्रकृति के सुसंगठित होने का परिणाम नहीं थीं। तब भला शरीर का एक ऐसा रूपांतर किस हद तक सिद्ध किया जा सकता है? भला उस रूपांतर को किन सब सीमाओं के अंदर आबद्ध रहना होगा जिससे कि पार्थिव जीवन के साथ उसका सामंजस्य बना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहे और वह उस जीवन को पार्थिव क्षेत्र के परे न ले जाय या उसे अपार्थिव–अतिपार्थिव जीवन की ओर न ढकेल ले जाय? अतिमानसिक चेतना कोई कठोर, बंधी-बंधाई चीज नहीं है, बल्कि एक शक्ति है जो संभावना के उच्च से उच्चतर क्षेत्रों की ओर तब तक अग्रसर होती रहती है जब तक वह आध्यात्मिक जीवन की सर्वोच्च परिणति तक नहीं पहुंच जाती; वह परिणति अतिमानस को जीवन में चरितार्थ करती है जिस तरह कि अतिमानस आध्यात्मिक चेतना के उन क्षेत्रों को परिपूर्ण और चरितार्थ करता है जो मानव या मनोमय स्तर से उसकी ओर धक्का देते हैं। इस क्रमविकास के अंदर शरीर भी अधिक पूर्ण रूप को प्राप्त हो सकता है और उसकी अभिव्यंजक शक्तियों का एक उच्चतर क्षेत्र, दिव्यत्व का अधिकाधिक पूर्ण पात्र बन सकता है।

दिव्य शरीरसंबंधी प्राचीन भावनाएं

शरीर की इस भवितव्यता की कल्पना प्राचीन काल में बहुत कम–प्रायः नहीं ही की गई है अथवा यहां, इस पृथ्वी के शरीर के लिये नहीं की गई है। विशेषकर लोगों की कल्पना यही रही है, उनका सूक्ष्म दर्शन यही रहा है कि ऐसी देहों को प्राप्त करना स्वर्गीय सत्ताओं की ही विशेषता है और अभी तक पार्थिव प्रकृति से बंधी हुई अन्तरात्मा के भौतिक आधार के रूप में ऐसी देहों को प्राप्त करना संभव नहीं। वैष्णवों ने अध्यात्मभावापन्न सचेतन शरीर–चिन्मय देह–की बात कही है; प्रोज्ज्वल या ज्योति विकीर्ण करनेवाले शरीर की भी परिकल्पना की गई है जो संभवतः वही चीज है जिसे वेदों में 'ज्योतिर्मय देह' कहा गया है। कुछ लोगों ने बहुत अधिक उन्नत आध्यात्मिक पुरुषों के शरीरों से ज्योति निकलते हुए देखा है और यहां तक कि किसी किसी के चारों ओर एक व्यापक ज्योतिमंडल तक भी देखा है। इस तरह की एक प्रारंभिक क्रिया का वर्णन हमें रामकृष्ण जैसे एक महान् आध्यात्मिक व्यक्ति के जीवन में प्राप्त होता है। पर ये सभी चीजें या तो केवल काल्पनिक हैं या विरल और सामयिक हैं और अधिकांश में यही माना गया है कि शरीर आध्यात्मिक संभावना से रहित और रूपांतर के अयोग्य है। शरीर को धर्मसिद्धि का साधन कहा गया है–**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**–और यहां धर्म के अंतर्गत सभी उच्च उद्देश्य, प्राप्तियां और जीवन के आदर्श आ जाते हैं और आध्यात्मिक परिवर्तन भी उससे बाहर नहीं; परंतु यह एक ऐसा यंत्र है जिसे कार्य पूरा हो जाने पर फेंक ही देना होगा और यद्यपि शरीर में रहते हुए ही आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो सकती है और प्राप्त होनी ही चाहिये, फिर भी सिद्धि पूर्ण रूप से तभी फलवती हो सकेगी जब कि इस भौतिक ढांचे को त्याग दिया जायगा। अधिक साधारण रूप में आध्यात्मिक परंपरा के अंदर शरीर को एक बाधा ही माना गया है, यही मान्यता रही है कि यह अध्यात्मभावापन्न होने या रूपांतरित होने के योग्य नहीं और यह एक ऐसा भारी बोझ है जो अन्तरात्मा को पार्थिव प्रकृति के अंदर दबाये रखता है और या तो परात्पर ब्रह्म के अंदर प्राप्त होनेवाली आध्यात्मिक परिपूर्णता की ओर उसके आरोहण में बाधा पहुंचाता है या परात्पर ब्रह्म के अंदर उसकी व्यष्टिसत्ता को विलीन होने से रोकता है। परंतु हमारी भवितव्यता के अंदर शरीर के कार्य-भाग (पार्ट) के संबंध में यह जो मान्यता है, वह जहां उस साधना के लिये पर्याप्त मात्रा में अनुकूल है जो पृथ्वी को केवल अज्ञान के एक क्षेत्र के रूप में देखती है और पार्थिव जीवन को जीवन से भाग जाने की–जो आध्यात्मिक मुक्ति के लिये अनिवार्य अवस्था है–एक तैयारी के रूप में देखती है, वहां यह मान्यता उस साधना के लिये अनुपयुक्त है जो पृथ्वी पर दिव्य जीवन प्राप्त करने की कल्पना करती है और स्वयं पार्थिव प्रकृति की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्ति को भी यहां आत्मा के मूर्तिमान् होने के संपूर्ण उद्देश्य का एक अंग मानती है। अगर सत्ता का सर्वांगीण रूपांतर करना हमारा उद्देश्य हो तो शरीर का रूपांतर भी उसका एक अनिवार्य अंग अवश्य होगा; उसके बिना पृथ्वी पर पूर्ण दिव्य जीवन प्राप्त करना संभव नहीं।

शरीर के रूपांतर में बाधाएं

वास्तव में शरीर का जो विगत विकास है और विशेषकर उसका जो पशु-स्वभाव है और उसके पशुत्व का जो इतिहास है, वही शरीर की परिणति के रास्ते में रोड़ा अटकाता हुआ प्रतीत होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, शरीर निश्चेतना की संतान और उसी की सृष्टि है और स्वयं भी निश्चेतन या केवल अर्द्ध-चेतन है; यह अचेतन जड़तत्त्व के एक आकार के रूप में आरंभ हुआ था, फिर इसने प्राण को विकसित किया और यह एक जड़ वस्तु से एक सजीव वर्द्धनशील वस्तु बन गया; फिर इसने मन को विकसित किया और उद्भिद् की अवचेतना से और आदि मौलिक मन से अथवा पशु की अपूर्ण बुद्धि से विचारशील मन का और मनुष्य की पूर्णतर बुद्धि का विकास किया और अब वह हमारे पूर्ण आध्यात्मिक प्रयास के भौतिक आधार का, उसे धारण करनेवाले पात्र का और यंत्ररूप साधन का काम कर रहा है। इसका जो पशु-स्वभाव है और इसकी जो भद्दी त्रुटियां और सीमाएं हैं, वे निश्चय ही हमारी आध्यात्मिक परिपूर्णता में बाधा पहुंचाती हैं; परंतु इसने जो एक अन्तरात्मा को विकसित किया है और एक साधन के रूप में जो यह उस अन्तरात्मा की सेवा करने की क्षमता रखता है, यह बात सूचित कर सकती है कि इसमें और भी आगे विकसित होने की क्षमता है और यह आत्मा का मंदिर और मूर्त्ति बन सकता है, जड़तत्त्व की गुप्त आध्यात्मिकता को प्रकट कर सकता है, केवल आधा ही नहीं बल्कि पूर्ण रूप से सचेतन हो सकता है, आत्मा के साथ एक प्रकार का एकत्व प्राप्त कर सकता है। अगर इसे पूर्ण जीवन का पूर्ण यंत्र बनना है और अब बाधा के रूप में नहीं रहना है तो इतना तो इसे करना ही होगा और कम से कम अपनी आदिम पार्थिव प्रकृति को तो इसे अतिक्रम करना ही होगा।

*

फिर भी पाशविक शरीर और उसके पाशविक स्वभाव और आवेग-प्रवेगों की असुविधाएं तथा उत्तम से उत्तम अवस्था में मनुष्य-शरीर की सीमाएं आरंभ में रहती ही हैं और वे बराबर ही तब तक बनी रहती हैं जब तक पूर्ण एवं मूलगत मुक्ति नहीं प्राप्त हो जाती। और फिर शरीर की निश्चेतनता या अर्द्ध-चेतनता भी रहती ही है और यह अन्तरात्मा, मन और प्राणशक्ति को जड़तत्त्व के साथ, सब प्रकार के जड़त्व के साथ, अशुद्ध पार्थिव प्रकृति की मांगों के साथ बांधे रखती है और ये सब चीजें निरंतर आत्मा की मांग का विरोध करती रहती हैं और उच्चतर चीजों की ओर हमारे आरोहण को रोकती रहती हैं। यह शरीर भौतिक सत्ता को जड़ यंत्रों-मस्तिष्क, हृदय और इन्द्रियों–के बंधन में ले आता है, और इन जड़ यंत्रों ने जिन चीजों के साथ अपना गठबंधन कर रखा है वे हैं सब प्रकार की स्थूलताएं, जड़ताएं एवं भौतिकताएं, शरीररूपी यंत्र और उसकी आवश्यकताएं एवं बाध्यताएं, भोजन की अनिवार्य आवश्यकता और साथ ही उसे जीवन की एक अभ्यस्त आवश्यकता समझकर उसे प्राप्त करने और बटोरकर रखने के साधनों के प्रति व्यस्तता, थकावट और नींद, शरीर की कामनाओं की तृप्ति। इन्हीं तुच्छ चीजों के साथ मनुष्य की प्राणशक्ति भी यहां नीचे बंधी पड़ी है; उसे अपनी बृहत्तर महत्वाकांक्षाओं और कामनाओं के दायरे को संकुचित कर देना पड़ता है, पृथ्वी के आकर्षण के ऊपर उठकर अपने आन्तरिक भागों की अधिक स्वर्गीय संबोधि का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हृदय के आदर्श का और अन्तरात्मा की तीव्र स्पृहाओं का अनुसरण करने के अपने प्रवेग को सीमित कर देना पड़ता है। मन के ऊपर शरीर भौतिक सत्ता और भौतिक जीवन की सीमाएं लादता है और यह बोध प्रदान करता है कि भौतिक वस्तुएं ही एकमात्र पूर्ण सत्य हैं और बाकी सब चीजें एक प्रकार से कल्पना की उज्ज्वल आतिशबाजियां हैं, उन ज्योतियों और महिमाओं के खेल हैं जो केवल इस जगत् से परे स्वर्ग में ही, सत्ता के उच्चतर लोकों में ही अपनी पूरी करामात दिखा सकती हैं, पर यहां पृथ्वी पर नहीं दिखा सकतीं; यह भावना और अभीप्सा को शंका-संदेह के बोझ से, सूक्ष्म इन्द्रियों और संबोधि की साक्षी को अनिश्चयता से और अतिभौतिक चेतना और अनुभूति के विशाल क्षेत्र को असत्यता के आरोप से घायल करता है और अपने मूल सीमित करने-वाले मनुष्यत्व के कारण अतिमानस सत्य और दिव्य प्रकृति में आत्मा की उन्नति को अपनी पार्थिव जड़ों के साथ नीचे बांध रखता है। इन बाधाओं को पार किया जा सकता है; शरीर की जो अस्वीकृतियां हैं और उसका जो विरोध है उन सबको जीता जा सकता है; उसे रूपांतरित करना संभव है। यहां तक कि हमारा निश्चेतन और पशु-भाग भी आलोकित हो सकता है और उसे देव-स्वभाव को अभिव्यक्त करने के योग्य बनाया जा सकता है जिस तरह कि हमारी मनोमय मानवता अतिमानसिक सत्य-चेतना की मानवता को और उस सद्वस्तु की दिव्यता को अभिव्यक्त करने के योग्य बनाई जा सकती है जो अभी हमारे लिये अतिचेतन है; इस प्रकार यहां पूर्णांग रूपांतर को सत्य सिद्ध किया जा सकता है। परंतु इसके लिये यह जरूरी है कि शरीर की पशुता की जो बाध्यताएं और आवश्यकताएं हैं, वे दूर हो जायं, उनका कोई बंधन नहीं रह जाय और इसके जड़ तत्त्व की ऐसी शुद्धि हो जाय कि स्वयं वह जड़तत्त्व ही दिव्य प्रकृति की अभिव्यक्ति के लिये एक ठोस पदार्थ में परिवर्त्तित हो जाय। क्योंकि पार्थिव रूपांतर की परिपूर्णता के अंदर कोई भी आवश्यक चीज छोड़ नहीं देनी चाहिये; स्वयं जड़तत्त्व भी परिवर्तित होकर आध्यात्मिक सद्वस्तु, श्रीभगवान् के प्राकट्य का एक साधन बन सकता है।

कामवृत्ति पर प्रभुत्व

इसकी कठिनाई द्विविध है—एक है सूक्ष्म आंतरिक कठिनाई और दूसरी है स्थूल शरीर की कठिनाई। पहली कठिनाई है असंस्कृत पशुत्व का जीवन पर प्रभाव, विशेषकर शरीर की स्थूल सहज प्रेरणाओं, आवेगों और कामनाओं के हठ के द्वारा पड़नेवाला प्रभाव; दूसरी है उच्चतर दिव्यप्रकृति की क्रियाशक्ति के ऊपर अपनी सीमाएं लादनेवाले हमारे शारीरिक गठन और अंगों की यांत्रिकता के कारण उत्पन्न कठि-नाई। इन दो कठिनाइयों में से पहली कठि-नाई का सामना करना और उसे जीतना अपेक्षा-कृत आसान है; क्योंकि इस क्षेत्र में हमारी संकल्पशक्ति हस्तक्षेप करके उच्चतर प्रकृति की शक्ति को शरीर के ऊपर लाद सकती है। शरीर की इन सब प्रवृत्तियों और सहजप्रेरणाओं में से कुछ चीजों को आध्यात्मिक साधकों ने विशेष रूप से हानिकर पाया है और उनके कारण ही शरीर का त्याग करने की संन्यासि-यों की वृत्ति का पलड़ा काफी भारी हो गया है। कामवृत्ति और कामुकता का तथा काम-प्रवृत्ति से उत्पन्न होनेवाली और उसके अस्तित्व को सिद्ध करनेवाली सभी चीजों का आध्यात्मिक जीवन से निषेध और त्याग कर देना पड़ा, और ऐसा करना, यद्यपि कठिन है, पर एकदम असंभव नहीं है और इसे आध्यात्मिक साधक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिये एक प्रधान शर्त्त बनाया जा सकता है। त्यागप्रधान सभी साधनाओं के लिये यह स्वाभाविक है और इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और इस शर्त्त को पूरा करना, चाहे आरंभ में उतना सहज नहीं है पर कुछ समय बाद एकदम सहज सुकर हो जाता है। सहज काम-प्रेरणा और कामावेग को जीतना निःसंदेह उन सभी लोगों के लिये अनिवार्य है जो आत्मप्रभुत्व प्राप्त करना और आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहते हैं। इसके ऊपर संपूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करना सभी आध्यात्मिक साधकों के लिये अत्यंत आवश्यक है और इसको पूर्णरूपेण दूर करना पूर्ण संन्यासी के लिये आवश्यक है। इस बात को स्वीकार करना ही होगा और इसके आवश्यक महत्त्व और इसके मूल सिद्धांत की अवहेलना नहीं की जा सकती।

परंतु यदि कामावेग की तृप्ति के लिये स्थूल शारीरिक भोग करने की वृत्ति को छोड़ भी दिया जाय तो भी समस्त कामतत्त्व को ही हम पृथ्वी पर प्राप्त होनेवाले दिव्य जीवन से एकदम बाहर नहीं स्वीकार कर सकते; यह चीज जीवन के अंदर विद्यमान है, एक बहुत बड़ा कार्य करती है और इसका समुचित समाधान करना ही होगा, इसकी ओर हम महज उपेक्षा का भाव नहीं रख सकते, इसे केवल संयमित कर या नीचे दबाकर या आंख से ओझल करके नहीं रख सकते। सबसे पहले, अपने एक रूप में यह एक विश्वगत और यहां तक कि एक दिव्य तत्त्व है; यह ईश्वर और शक्ति का आध्यात्मिक रूप ग्रहण करता है और इसके बिना कोई जगत्-सृष्टि नहीं हो सकती या पुरुष और प्रकृति-रूपी जगत्-तत्त्व अभिव्यक्त नहीं हो सकता। ये पुरुष और प्रकृति दोनों ही सृष्टि के लिये आवश्यक हैं और इसलिये भी आवश्यक हैं कि उनके पारस्परिक सहयोग और आदान-प्रदान के द्वारा ही सृष्टि की सूक्ष्म आंतरिक क्रिया चलती है और वे ही फिर इस लीला की समस्त प्रक्रिया के मूल अंतरात्मा और स्थूल प्रकृति के रूप में प्रकट होते हैं। स्वयं दिव्य जीवन में भी, नई सृष्टि को संभव बनाने के लिये यह अनिवार्य होगा कि वे दोनों शक्तियां पृथ्वी पर अवतरित हों या कम से कम किसी भी रूप में उनकी उपस्थिति या उनकी किन्हीं साकार मूर्त्तियों या उनके प्रतिनिधियों के द्वारा उनका प्रारंभिक प्रभाव कार्य करे। मनोमय और प्राणमय स्तर पर अपनी मानवीय क्रिया में कामवृत्ति एकदम अदिव्य तत्त्व नहीं है; इसके भी श्रेष्ठतर भाव और आदर्श हैं और हमें यह देखना होगा कि किस तरह से और किस हद तक ये सब चीजें नवीन और बृहत्तर जीवन में स्वीकार की जा सकती हैं। कामवासना और कामावेग की तृप्ति के लिये जितनी भी स्थूल और पाशविक क्रियाएं हैं उन्हें दूर करना ही होगा; वे केवल उन्हीं लोगों में रह सकती हैं जो उच्चतर जीवन के लिये तैयार नहीं हैं या अभी तक पूर्ण आध्यात्मिक जीवन यापन करने के लिये तैयार नहीं हैं। जो लोग आध्यात्मिक जीवन की अभीप्सा कर चुके हैं पर अभी तक पूर्ण रूप से उसे ग्रहण करने में असमर्थ हैं, उन लोगों में कामवृत्ति को शुद्ध होना होगा, आध्यात्मिक और चैत्य आवेग-प्रवेगों और उच्चतर मन और उच्चतर प्राण के संयम के अधीन होना होगा और अपने समस्त हलके, निकम्मे या विकृत रूप को झाड़ फेंकना होगा और इस आदर्श की पवित्रता के स्पर्श को अनुभव करना होगा। प्रेम रहेगा, उच्च से उच्चतर स्तरों में प्रेम के विशुद्ध सत्य के सभी रूप तब तक विकसित होते रहेंगे जब तक वह अपने उच्चतम स्वरूप को नहीं प्राप्त हो जाता, विश्वप्रेम में विस्तारित नहीं हो जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवत्प्रेम में विलीन नहीं हो जाता। पुरुष और स्त्री का प्रेम भी उसी ऊंचाई और परिणति को प्राप्त होगा; क्योंकि जो सब चीजें उस आदर्श के और उस आध्यात्मिक जीवन के स्पर्श को अनुभव कर सकेंगी वे सभी चीजें तब तक आरोहण के मार्ग का अनुसरण करेंगी ही जब तक वे अपने दिव्य सत्य-स्वरूप को नहीं प्राप्त कर लेतीं। शरीर और उसकी क्रियाओं को दिव्य जीवन के अंग के रूप में स्वीकार करना ही होगा और वे निश्चय ही इस विधान के अंदर से गुजरेंगी; परंतु क्रमविकास के दूसरे-दूसरों संक्रमणकालों की तरह ही इस बार भी जो चीजें दिव्य जीवन के विधान को स्वीकार नहीं कर सकेंगी वे स्वीकृत नहीं हो सकतीं और वे अवश्य ही आरोहणात्मिका प्रकृति में से झड़कर अलग हो जायंगी।

भोजन की आवश्यकता से मुक्ति

एक और कठिनाई है जिसका सामना शरीर के रूपांतर को करना होगा। वह यह है कि शरीर को अपना अस्तित्व बना रखने के लिये भोजन पर निर्भर रहना पड़ता है और यहां भी नाना प्रकार की स्थूल भौतिक सहजप्रेरणाएं, आवेग-प्रवेग तथा कामनाएं इस कठिन विषय के अंतर्गत हैं तथा इससे संबद्ध हैं, जैसे, रसना की अनिवार्य लालसाएं, पेट का भोजन के लिये लोभ, और पशुसुलभ भूरि भोजन की इच्छा, मन का भद्दापन जब कि वह इन्द्रियों के कीचड़ में लोटता है, अपने नितांत पशुभाव की गुलामी करता है और जड़तत्त्व के साथ दृढ़ता से अपने को बांध देता है। हमारे अंदर जो उच्चतर मानवतत्त्व है वह एक प्रकार के मिताहार की, आहार में संयम और निग्रह की, शरीर और उसकी मांगों के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा की शरण लेने की चेष्टा करता है और उच्चतर चीजों में डूबे रहने का प्रयास करता है। आध्यात्मिक साधक प्रायः ही, जैन साधुओं की तरह, लंबे और सतत उपवासों का आश्रय ग्रहण करता है जो उसे कुछ समय के लिये कम से कम शरीर की मांगों के चंगुल से बाहर निकाल देते हैं और अपने अंदर आत्मा के विशाल कक्ष की विशुद्ध शून्यता अनुभव करने में उसकी सहायता करते हैं। परंतु यह सब मुक्ति नहीं है और यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि, केवल आरंभ में ही नहीं बल्कि सदा-सर्वदा ही, दिव्य जीवन को भी इस आवश्यकता की अधीनता को तो स्वीकार करना ही होगा। पर दिव्य जीवन इस आवश्यकता से अपने आपको तभी एकदम मुक्त कर सकेगा जब कि वह उस रास्ते को ढूंढ़ निकाले जिससे कि शरीर विश्व-व्यापी शक्तिभंडार से इस प्रकार शक्ति आहरण कर सके कि वह शक्ति हमारे शरीर के केवल प्राणमय भागों को ही पुष्ट न करे बल्कि उसके उपादान जड़तत्त्व का भी पोषण करे और पोषण के लिये बाहर से किसी प्रकार के जड़ पदार्थ की सहायता लेने की आवश्यकता न पड़े। निश्चय ही यह संभव है कि बहुत दिनों तक उपवास करने पर भी अन्तरात्मा और मन और प्राण की, यहां तक कि शरीर की भी पूर्ण शक्तियों और क्रियाओं को बनाये रखा जाय, सब समय जाग्रत् पर योग में समाहित रहा जा सके, अथवा गभीरता के साथ चिंतन किया जा सके और दिन रात लिखा जा सके, नींद को बंद कर दिया जा सके, प्रतिदिन आठ घंटा घूमा जा सके, इन सभी क्रियाओं को अलग अलग या एक साथ ही चलाया जा सके और शक्ति की किसी प्रकार की हानि, किसी प्रकार की थकावट, किसी प्रकार के अभाव या ह्रास का अनुभव न हो। फिर उपवास के अंत में मनुष्य तुरत अपना पूरा भोजन ग्रहण करना आरंभ कर सकता है अथवा पुष्टि के लिये साधारण भोजन से अधिक भी भोजन ग्रहण कर सकता है और यह सब चिकित्सा-शास्त्र के बतलाये विधि-विधानों और सावधानी के उपायों का पालन किये बिना भी कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है, पूर्ण उपवास और भरपूर भोजन ये दोनों अवस्थाएं, बारी बारी से एक अवस्था से दूसरी अवस्था में तुरत और आसानी से चला जाना, उस शरीर के लिये स्वाभाविक हो सकता है जिसने एक प्रकार के प्रारंभिक रूपांतर के द्वारा योग की शक्तियों और क्रियाओं का यंत्र होना सीख लिया हो। परंतु एक चीज से मनुष्य नहीं बच सकता और वह है शरीर के स्थूल तंतुओं का, उसके मांस और जड़ पदार्थ का ह्रास। ऐसा प्रतीत होता है कि, यदि केवल एक व्यावहारिक पथ और साधन खोज निकाला जा सके तो, यह अंतिम अलंघ्य बाधा भी पार की जा सकती है और जड़प्रकृति की शक्तियों के साथ शरीर की शक्तियों का आदान-प्रदान करके, जड़-प्रकृति की आवश्यकता को व्यक्ति से पूरा कराकर और उसकी विश्वव्यापी सत्ता की पोषक शक्तियों को सीधे उससे लेकर शरीर को बनाये रखा जा सकता है। यह भी समझ में आता है कि जीवन के क्रमविकास के शिखर पर मनुष्य उस क्षमता को पुनः खोज सकता है और पुनः स्थापित कर सकता है जिसे हम उसके मूल आधार में देखते हैं, अर्थात् अपने पोषण को और अपने आपको पुनः सजीवता और नवीनता प्रदान करने के साधनों को अपने इर्दगिर्द की सभी चीजों से आहरण करने की शक्ति प्राप्त कर सकता है। अथवा, इसके अलावा, विकसित जीव उन सब साधनों को अपने चारों ओर के वातावरण से, अपने आसपास की सभी चीजों से और अपने नीचे से अपने पास खींचने या अपने अंदर ले लेने के बजाय ऊपर से खींच लाने की महत्तर शक्ति को प्राप्त कर सकता है। परंतु जब तक ऐसी कोई चीज नहीं प्राप्त हो जाती अथवा संभव नहीं बना ली जाती तब तक हमें भोजन और प्रकृति की सुप्रतिष्ठित जड़ शक्तियों को स्वीकार करना ही होगा।

विश्वव्यापी शक्ति से शरीर का पोषण

वास्तव में हम निरंतर, चाहे कितने ही अचेतन रूप में हो, विश्वव्यापी शक्ति से अपने लिये शक्ति आहरण करते हैं, जड़तत्त्व के अंदर विद्यमान शक्ति को अपनी भौतिक सत्ता और शरीर में रहने वाली मानसिक, प्राणिक तथा अन्यान्य क्षमताओं को पुनः नई शक्ति से भरने के लिये आकर्षित करते हैं। हम इस कार्य को सीधे प्रकृति द्वारा निरंतर बनाई रखी हुई आदान-प्रदान की अदृश्य प्रक्रियाओं के द्वारा करते हैं और साथ ही प्रकृति के द्वारा निर्धारित विशिष्ट साधनों के द्वारा भी। इनमें एक श्वास-प्रश्वास की क्रिया है, निद्रा और विश्राम भी इन प्रक्रियाओं के अंतर्गत हैं। परंतु स्थूल भौतिक शरीर और उसकी क्रियाओं और उसकी आंतर क्षमताओं को बनाये रखने और पुनः पुनः नया बनाते रहने के अपने मूल साधन के रूप में प्रकृति ने जो मार्ग चुना है वह है भोजन के रूप में बाहरी स्थूल पदार्थ ग्रहण करना, उसे पचाना, जो कुछ उसमेंसे आत्मसात् करने योग्य हो उसे आत्मसात् करना और जो कुछ आत्मसात् न हो सके या आत्मसात् करने योग्य न हो उसका त्याग कर देना। महज शरीर को बनाये रखने के लिये स्वयं यह भी पर्याप्त है, पर इस तरह बनाये रखे हुए शरीर में स्वास्थ्य और शक्ति को दृढ़ बनाने के लिये प्रकृति ने शारीरिक व्यायाम करने और नाना प्रकार के खेल खेलने की प्रवृत्ति, शक्ति को व्यय करने और फिर से प्राप्त करने की विधियां, नाना प्रकार के कार्य और परिश्रम करने की रुचि या आवश्यकता और जोड़ दी हैं। नए जीवन में, कम से कम उसकी आरंभिक अवस्थाओं में, यह आवश्यक या युक्तिसंगत नहीं होगा कि भोजन की आवश्यकता के आत्यंतिक या अंधाधुंध त्याग की ... अभी तक अपूर्ण रूप से रूपांतरित शरीर की रक्षा के लिये सुनिश्चित स्वाभाविक पद्धति के त्याग की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मांग की जाय। अगर या जब कभी इन सब चीजों को अतिक्रम करना हो तब वह अतिक्रम आत्मा की संकल्पशक्ति के जागरण का ही फल होगा, स्वयं जड़-तत्त्व के अंदर की इच्छाशक्ति का, क्रमविकास के एक अनिवार्य प्रवेग का, काल के सृष्टिक्षम परिवर्तन की एक क्रिया का या परात्पर लोक से होनेवाले एक अवतरण का ही परिणाम होगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कभी कभी, बहुधा या निरंतर ऐसा चमत्कार हो सकता है कि सत्ता की उच्चतर शक्तियों की सचेतन क्रिया के द्वारा अपने इर्दगिर्द से विश्वव्यापी शक्ति को अपने अंदर ग्रहण किया जाय या अभी तक हमारे लिये जो परात्पर चेतना है उसकी ओर पुकार करके, या स्वयं परात्पर के आक्रमण या अवतरण के द्वारा ऊपर से शक्ति ग्रहण की जाय। और यहां तक कि यह भोजन से होने-वाले कार्य को कम कर सकता है और उसकी आव-श्यकता को घटाकर एक ऐसी चीज बना सकता है जिसके लिये अब अधिक व्यस्त होने की आवश्यकता नहीं, एक ऐसी आवश्यकता में परिवर्त्तित कर सकता है जो मामूली और उत्तरोत्तर कम अनिवार्य हो। इस बीच भोजन और प्रकृति की साधारण पद्धति स्वीकार की जा सकती है यद्यपि इसके व्यव-हार को आसक्ति और कामना-वासना से, स्थूल-तर विवेकशून्य भूखों से और रक्त-मांस के सुखों पर झपटने की वृत्ति से मुक्त रहना ही होगा क्योंकि यह अज्ञान का मार्ग है। भौतिक प्रक्रिया-ओं को शुद्ध और सूक्ष्म होना ही होगा और अत्यंत स्थूल क्रियाओं का त्याग करना ही होगा और नई प्रक्रियाओं को ढूंढ़ निकालना होगा या नए साधनों को स्वयं प्रकट होना होगा। जब तक भोजन को स्वीकार करना पड़ रहा है तब तक उसमें एक प्रकार के शुद्धीकृत, उन्नत सुख-भोग की भावना को भी बनाये रखा जा सकता है और यहां तक कि भोजन से जो एक प्रकार का भौतिक आस्वाद, एक प्रकार की तृप्ति प्राप्त होती है और उसके लिये अपनी रुचि और अ-रुचि के द्वारा मनुष्य की जो चुनाव करने की वृत्ति है, जो प्रकृति द्वारा हमें प्राप्त वस्तुओं के प्रति हमारा वर्तमान अपूर्ण प्रत्युत्तर है, उसका स्थान रसास्वादन का एक कामनारहित आनंद ग्रहण कर सकता है। यह बात अवश्य याद रहनी चाहिये कि पृथ्वी पर दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिये पृथ्वी और जड़तत्त्व का त्याग नहीं करना है और न उनका त्याग हो ही सकता है, बल्कि उनको केवल परिष्कृत और उन्नत बनाना है और उनके द्वारा आत्मा की संभावना-ओं को प्रकट करना है, उन्हें आत्मा के उच्चतम उपयोगों में व्यवहृत करना है और एक महत्तर जीवन के यंत्रों के रूप में रूपांतरित करना है।

दिव्य जीवन को बराबर ही सिद्ध करना होगा पूर्णता की ओर अग्रसर होकर; और जीवन के आनंद की पूर्णता उसका एक अंग और अत्यंत प्रधान अंग है, वस्तुओं में प्राप्त शरीर का आनंद और शरीर का जीवनानंद इससे बाहर की चीजें नहीं हैं; उनको भी पूर्ण बनाना होगा। इस नवीन और वर्द्धमान जीवन का स्वभाव—स्वरूप ही है एक विशाल सर्वांगीण परिपूर्णता, एक प्रकार की ज्योतिर्मय वस्तु में रूपांतरित मन की, आध्यात्मिक बल और प्रसन्नता की एक शक्ति में परिवर्त्तित प्राण की, दिव्य कर्म, दिव्य ज्ञान, दिव्य आनंद के एक यंत्र में रूपांतरित शरीर की संभावनाओं की परिपूर्णता। जो चीजें रूपांतरित होने में समर्थ हैं, जो चीजें अपने आपको मूर्त्ति-मान् करनेवाले आत्मा की इस सर्वांगीण पूर्णता को प्रकट करने के यंत्र, पात्र और अवसर बन सकती हैं वे सभी चीजें इस दिव्य जीवन के दायरे में ग्रहण की जा सकती हैं।

★

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामवृत्ति का समूल रूपांतर—संतानोत्पत्ति की गुह्य प्रक्रिया

जो लोग कामवृत्ति को, शरीर के पशुत्व के द्वारा थोपी हुई और उच्चतर जीवन के अभीप्सु साधक के मार्ग में एक अटल बाधा के रूप में रखी हुई मजबूरियों को संपूर्ण रूप से त्याग देना चाहते हैं, उनके सामने कामवृत्ति की ओर से एक समस्या खड़ी की जाती है; वह है जाति की प्रवृद्धि की आवश्यकता जिसके लिये कामप्रवृत्ति ही एकमात्र साधन है और जिसे प्रकृति ने सजीव प्राणियों के लिये अभी तक दे रखा है और जो अनिवार्य रूप से अपने को जाति के ऊपर थोपता है। अवश्य ही दिव्य जीवन की खोज करनेवाले किसी एक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह इस समस्या पर विचार करे अथवा उस एक दल के लिये भी आवश्यक नहीं है जो केवल अपने लिये ही दिव्य जीवन की खोज नहीं करता, बल्कि यह भी चाहता है कि मनुष्यजाति कम से कम एक आदर्श के रूप में इसे व्यापक रूप से स्वीकार कर ले। प्रायः सर्वदा ही ऐसे असंख्य लोग वर्तमान रहेंगे जो इसके साथ कोई संबंध नहीं रखेंगे अथवा इसको पूर्ण रूप से व्यवहार में लाने के लिये तैयार नहीं होंगे और जाति की वृद्धि की चिंता उन्हीं के हवाले कर दी जा सकती है। और जैसे जैसे दिव्य जीवन का आदर्श फैलेगा वैसे वैसे जो लोग इस अभीप्सा की ओर आकृष्ट होंगे वे स्वेच्छापूर्वक इसे ग्रहण करेंगे और इस तरह दिव्य जीवन यापन करनेवालों की संख्या सुरक्षित रह सकती है और बढ़ाई जा सकती है; इसके लिये किसी भौतिक साधन का आश्रय ग्रहण करने की, कठोर कामनिग्रह के नियम से च्युत होने की कोई आवश्यकता न होगी। परंतु फिर भी ऐसी परिस्थितियां आ सकती हैं जब कि एक और ही दृष्टि से, उन अन्तरात्माओं के लिये स्वेच्छापूर्वक शरीर उत्पन्न करना समुचित प्रतीत हों जो पृथ्वी पर दिव्य जीवन की सृष्टि करने और उसे फैलाने में सहायता करने के लिये पार्थिव जीवन में प्रवेश करना चाहती हों। तब इस उद्देश्य से भौतिक संतानोत्पादन की आवश्यकता का केवल तभी परिहार किया जा सकता है जब कि अतिभौतिक ढंग का कोई नया साधन विकसित किया जाय और सुलभ्य बनाया जाय। इस प्रकार का कोई भी विकास अवश्यंभावी रूप से उस क्षेत्र से संबंध रखेगा जो अभी गुह्यविद्या का क्षेत्र, कर्म या सृष्टि की उन गुप्त शक्तियों के व्यवहार का क्षेत्र माना जाता है जिन्हें मनुष्यजाति का साधारण मन न तो जानता है न प्राप्त कर सका है। गुह्यविद्या का ठीक ठीक अर्थ है अपनी प्रकृति की, अन्तरात्मा, मन, प्राणशक्ति की उच्चतर शक्तियों का और सूक्ष्म भौतिक शक्तियों का उपयोग करना, इसलिये उपयोग करना कि उनके अपने लोक में या भौतिक लोक में उनके किसी अपने गुप्त विधान के या उनके अंतर्निहित सामर्थ्यों के दबाव के द्वारा कुछ फल उत्पन्न हो, मनुष्य के अंदर या पार्थिव मन, प्राण और शरीर के अंदर या जड़ जगत् की वस्तुओं और घटनाओं के अंदर कोई परिणाम उत्पन्न हो, कोई अभिव्यक्ति साधित हो। आज कुछ विचारक इस बात की कल्पना कर रहे हैं कि अपने निकटतम क्रमविकास में मनुष्यजाति जो दूसरा कदम बढ़ायेगी उसमें वह इन सब अल्पज्ञात या अभी तक अविकसित शक्तियों को खोज निकालेगी या उनका विस्तार करेगी; इन सब विकासों के अंदर उपर्युक्त सृष्टिपद्धति सम्मिलित नहीं की गई है, पर फिर भी उन सब नवीन संभावनाओं में यह भी एक संभावना के रूप में सहज ही परिगणित हो सकती है। आज भौतिक सायंस भी एक ऐसा भौतिक साधन प्राप्त करने का प्रयास कर रही है जिससे मनुष्यों और पशुओं के अंदर भौतिक जीवनी-शक्ति उत्पन्न करने या उन्हें पुनरुज्जीवित करने का जो प्रकृति का साधारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधन या प्रक्रिया है उसे अतिक्रम किया जा सके; पर इसके लिये गुह्य उपायों का सहारा और सूक्ष्म भौतिक प्रक्रियाओं का हस्तक्षेप, अगर ये दोनों बातें संभव हो सकें तो, और भी श्रेष्ठ मार्ग साबित होंगे, ऐसे श्रेष्ठ मार्ग जो मात्र जड़शक्ति के विधान को प्राप्त साधनों और फलों की सीमाओं, विकृतियों, अधूरेपन और बोझल अपूर्णता से दूर रह सकते हैं। भारत में अत्यंत प्राचीन काल से ही बराबर जन-साधारण का यह विश्वास रहा है कि इन सब शक्तियों का उपयोग करना संभव है और ये सब बातें सत्य हैं; जिन लोगों को इन सब गुप्त चीजों का ऊंचा ज्ञान प्राप्त है या जिन लोगों को उच्च कोटि का आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव और क्रियाशक्ति उपलब्ध है वे लोग इनका व्यवहार करते हैं, और तंत्रों में तो इनकी पद्धति और साधना का एक सुव्यवस्थित शास्त्र ही पाया जाता है। इस बात में भी लोग विश्वास करते आ रहे हैं कि एक योगी के हस्तक्षेप करने पर संतानोत्पत्ति हो सकती है और प्रायः ही लोग योगियों से इसके लिये प्रार्थना करते हैं और कभी कभी योगियों से अपनी इच्छा या आशीर्वाद से इस तरह उत्पन्न बालक को कोई आध्यात्मिक सिद्धि या भवितव्यता प्रदान करने के लिये कहा जाता है और इस तरह के परिणामों का वर्णन केवल भूतकाल की परंपरा में ही नहीं मिलता बल्कि वर्तमान काल भी अपनी साक्षी के द्वारा उन्हें स्थापित करता है। परंतु इन सब अवसरों पर भी उत्पत्ति के साधारण साधनों और भौतिक प्रकृति की स्थूल पद्धति का सहारा लेने की आवश्यकता पड़ती है। अगर हमें इस आवश्यकता से बचना हो तो फिर एक विशुद्ध गुह्य पद्धति को संभव बनाना होगा, ऐसी अतिभौतिक प्रक्रियाओं का सहारा लेना होगा जो भौतिक फल उत्पन्न करने के लिये अतिभौतिक साधनों के द्वारा कार्य करें; इसके बिना काम-प्रेरणा और उसकी पशुसुलभ प्रक्रिया को अतिक्रम नहीं किया जा सकता। अगर स्थूल वस्तु को सूक्ष्म रूप में पलट देने और फिर उसे सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप में ले आने की क्रिया में कुछ सत्यता हो, जिसके संभव होने का दावा गुह्यविद्याविशारद करते हैं और जिसे घटनाओं के द्वारा सिद्ध होते हुए हम लोगों में से बहुतों ने देखा है, तो फिर इस तरह की एक पद्धति का होना असंभव नहीं होगा। क्योंकि गुह्यविद्या-विशारदों के सिद्धांत के अंदर और हमारी सत्ता के क्षेत्रों और लोकों की क्रमपरंपरा के अंदर, जिसे यौगिक ज्ञान ने हमारे लिये निश्चित किया है, एक-मात्र सूक्ष्म भौतिक शक्ति का ही अस्तित्व नहीं है बल्कि एक सूक्ष्म भौतिक जड़तत्त्व भी है जो प्राण और स्थूल जड़तत्त्व के बीच में विद्यमान है और इस सूक्ष्म भौतिक पदार्थ के अंदर रूपों की सृष्टि करना और इस तरह तैयार रूपों को हमारे स्थूलतर जड़तत्त्व के अंदर निक्षेप करना संभव है। यह संभव होना चाहिये और ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह संभव है कि इस सूक्ष्म भौतिक पदार्थ के अंदर मूर्तिमान् कोई वस्तु, चाहे किसी स्थूल भौतिक प्रक्रिया की सहायता मिलने या हस्तक्षेप होने पर या उस सहायता या हस्तक्षेप के न होने पर भी, किसी गुह्य शक्ति और पद्धति के हस्तक्षेप के द्वारा सीधे अपने सूक्ष्म रूप से स्थूल जड़ की स्थिति में संक्रमण कर जाय। अगर कोई अन्तरात्मा शरीर में प्रवेश करना चाहे या अपने लिये एक शरीर बनाना चाहे और पृथ्वी पर दिव्य जीवन के अंदर हिस्सा लेना चाहे तो उसे ऐसा करने में सहायता दी जा सकती है अथवा यहां तक कि सीधे रूपांतर करने की इस पद्धति के द्वारा उसके लिये एक ऐसा स्थूल आकार रचा जा सकता है और उसे इसके लिये काम-प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त जन्म के भीतर से नहीं गुजरना होगा या अपने मन और स्थूल शरीर की वृद्धि और विकास के अंदर किसी तरह की विच्युति या किसी तरह की बोझल ससीमता के अधीन नहीं होना होगा जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी वर्तमान जीवनपद्धति के लिये अनिवार्य है। उस समय वह तुरत उस सच्चे दिव्य भौतिक शरीर के ढांचे और महत्तर शक्तियों और क्रियाओं को ग्रहण कर सकता है जो दिव्य शरीर एक दिन दिव्य-भावापन्न पार्थिव प्रकृति के अंदर विद्यमान जीवन और रूप दोनों की पूर्णतः रूपांतरित सत्ता की ओर होनेवाले क्रमोन्नत विकास के अंदर अवश्य प्रकट होगा।

परंतु इस दिव्य शरीर का भीतरी या बाहरी रूप और ढांचा क्या होगा और उसके करण क्या होंगे? पशु और मानव शरीर के विकास के स्थल इतिहास ने शरीर को बड़ी बारीकी से बनाये हुए और क्रमशः उन्नत किये हुए एक अंगसमूह के साथ और उनकी क्रिया की एक अनिश्चित व्यवस्था के साथ बंधा हुआ छोड़ दिया है, वह व्यवस्था आसानी से एक अव्यवस्था बन सकती है, एक साधारण या स्थानिक विशृंखला की ओर उद्घाटित हो सकती है जो विशृंखला सहज ही विक्षुब्ध होनेवाले स्नायु-मंडल पर निर्भर करती है और एक ऐसे मस्तिष्क के द्वारा शासित होती है जिसके स्पंदन स्वयं अपने आप यंत्रवत् होनेवाले और हमारे सज्ञान अधिकार के बाहर माने जाते हैं। जड़वादी के मतानुसार यह सब कुछ केवल जड़तत्त्व की क्रिया है जिसका मौलिक स्वरूप रासायनिक है। इस मत के अनुसार हमें मानना होगा कि शरीर रासायनिक तत्त्वों की क्रिया के द्वारा बना है। यह रासायनिक क्रिया अणु-परमाणुओं और कोषों को गढ़ती है और फिर ये सब उस जटिल भौतिक ढांचे और यंत्र के आधार में रहकर कार्य करते और केवल पथप्रदर्शन करते हैं जो हमारे सभी कार्यों, विचारों, अनुभवों के एक-मात्र यांत्रिक कारण हैं। अन्तरात्मा इस यंत्र की एक मिथ्या रचना है और मन और प्राण उसकी केवल स्थूल और यंत्ररूप अभिव्यक्ति और आकृति हैं और वह यंत्र निश्चेतन जड़तत्त्व में अंतर्निहित शक्ति के द्वारा और उसमें वर्तमान चेतना के एक अंश के साथ क्रियान्वित होता है और स्वयं अपने आप चलता है। अगर यही सत्य हो तो फिर यह स्पष्ट है कि शरीर या अन्य किसी चीज का कोई दिव्यीकरण या दिव्य रूपांतर एक भ्रमजाल, एक स्वप्न, एक अर्थहीन और असंभव कपोल-कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। परंतु हम यदि मान भी लें कि इस शरीर में एक अंतरात्मा है, एक सचेतन संकल्प-शक्ति कार्य करती है, तो भी यह शरीर तबतक किसी दिव्य रूपांतर को नहीं प्राप्त हो सकता जबतक कि शरीर के स्वयं यंत्र तक में और उसकी स्थूल क्रियाओं के संगठन में कोई आमूल परिवर्तन न आ जाय। ऐसा न होने तक तो रूपांतरकारी शक्ति स्थूल अंगों की अपरिवर्तनीय सीमाओं से बंधी रहेगी और अपना कार्य करने में असमर्थ रहेगी और हमारे अंदर के अपरिवर्तित या अपूर्ण रूप से परिवर्तित आदिम पशु द्वारा रोक दी जायगी। इन भौतिक व्यवस्थाओं के लिये स्वाभाविक अव्यवस्थाओं, विच्युतियों और व्याधियों की संभावना फिर भी बनी रहेगी और एकमात्र सतत जागरूकता अथवा शाश्वत संयम के द्वारा बंद की जा सकेगी जो संयम कि शरीर-रूपी यंत्र के आध्यात्मिक अधिवासी और स्वामी के लिये अनिवार्य होगा। इसको एक सच्चा दिव्य शरीर नहीं कहा जा सकता; क्योंकि दिव्य शरीर के लिये इन सब चीजों से एक स्वाभाविक स्वतंत्रता प्राप्त करना स्वाभाविक और चिरस्थायी होगा, यह स्वतंत्रता उसकी सत्ता का एक सामान्य और स्वाभाविक सत्य होगी और इस लिये अनिवार्य और अपरिवर्तनीय होगी। शरीर की क्रियाओं का और, संभवतः, उसकी गठन का और निश्चय ही उसकी अति यांत्रिक और स्थूल प्रेरणा का और शरीर-संस्थान को चलानेवाली शक्तियों का आ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल रूपांतर करना अपरिहार्य होगा। तब भला हमें ऐसी कौनसी क्रियाशक्ति उपलब्ध हो सकती है जिसे हम इस सर्वप्रधान मुक्ति और परिवर्तन का साधन बना सकें? ऐसी कोई चीज हमारे अंदर है या ऐसी कोई चीज विकसित करनी होगी, संभवतः अपनी सत्ता के किसी केंद्रीय और अभी तक गुह्य अंग को विकसित करना होगा जिसमें ऐसी-ऐसी शक्तियां विद्यमान हैं जिनकी क्षमताएं जिस हद तक प्रकट हो सकती हैं उसका केवल एक अंश ही हमारे वास्तविक और वर्तमान गठन के अंदर प्रकट हुआ है; परंतु वे यदि पूर्ण और प्रधान बन जायं तो वे अंतरात्मा और अतिमानसिक सत्य-चैतन्य की ज्योति और शक्ति की सहायता से आवश्यक भौतिक रूपांतर को सिद्ध कर सकती हैं और उसके फलों को उत्पन्न कर सकती हैं। यह बात तांत्रिक ज्ञान के द्वारा प्रचारित और विभिन्न योगमार्गों में स्वीकृत षट्चक्रों के अंदर पायी जा सकती है। वे चक्र हमारी सत्ता की समस्त क्रियात्मिका शक्ति-सामर्थ्यों के सचेतन केंद्र और मूल स्रोत हैं, विभिन्न ग्रंथियों के द्वारा वे अपने कार्य करते हैं और एक क्रमशः ऊपर उठती हुई क्रमपरंपरा में व्यवस्थित हैं जो सबसे नीचे के भौतिक केंद्र से आरंभ हो सबसे ऊपर के मानस-केंद्र और आध्यात्मिक केंद्र तक जाती है। इस सर्वोच्च केंद्र को ही सहस्रदल कमल कहते हैं जहां आरोहणात्मक प्रकृति, तांत्रिकों की कुंडलिनी शक्ति, ब्रह्म के साथ युक्त होती है और भागवत सत्ता के अंदर मुक्त होती है। ये सब चक्र हमारे अंदर बंद हैं या आधे खुले हैं और अपनी भौतिक प्रकृति में उनकी संपूर्ण क्षमताओं को प्रकट करने के लिये उन्हें उद्घाटित करना होगा; परंतु एक बार जब वे उद्घाटित हो गये और पूर्ण रूप से क्रियाशील हो गये तो फिर सहज ही उनकी क्षमताओं के विकास की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती और सर्वांगीण रूपांतर संभव हो सकता है।

दिव्य शक्तियों के प्रभाव से शरीर का पूर्ण रूपांतर

परंतु इन सब शक्तियों के आविर्भाव का और उनकी मुक्त और दिव्य क्रिया का स्वयं शरीर के ऊपर क्या परिणाम होगा, शरीर के साथ उनका क्रियात्मक संबंध क्या होगा और इसके अभी तक विद्यमान पशुस्वभाव और इसकी पशुसुलभ प्रेरणाओं और स्थूल भौतिक पद्धति के ऊपर उनका रूपांतरकारी कार्य क्या होगा? हम यह मान सकते हैं कि पहला आवश्यक परिवर्तन होगा मन का, प्राणशक्ति का और सूक्ष्म भौतिक क्रियाशक्तियों और भौतिक चेतना का एक स्वतंत्रतर और दिव्यतर क्रिया के अंदर मुक्त होना, उनकी चेतना की एक बहुमुखी और असीम कर्मधारा के अंदर, उच्चतर शक्तियों के एक विशाल आविर्भाव के अंदर और स्वयं शरीर चेतना की, इस जड़ जगत् के अंदर अन्तरात्मा को अभिव्यक्त करनेवाले उसके करण, क्षमता और योग्यता की शुद्धि और उन्नति के अंदर मुक्त होना। जो सूक्ष्म इन्द्रियां अभी हमारे अंदर गुप्त हैं वे खुले रूप में कार्य करने के लिये सामने आ सकती हैं और स्वयं स्थूल इन्द्रियां भी उन सब वस्तुओं के दर्शन पाने के साधन या प्रणालियां बन सकती हैं जो अभी हमारे लिये अदृश्य हैं अथवा उन चीजों को पाने का साधन बन सकती हैं जो हमारे चारों ओर विद्यमान हैं पर अभी अग्राह्य हैं और हमारे ज्ञान के दायरे से बाहर रखी गई हैं। हमारी पशु-प्रकृति की प्रेरणाओं पर एक सुदृढ़ नियंत्रण लाया जा सकता है और वे इस तरह परिशुद्ध और उन्नीत हो सकती हैं कि वे हमारे लिये संपत्ति बढ़ानेवाली बनें न कि घटानेवाली और इस तरह रूपांतरित हो सकती हैं कि वे दिव्यतर जीवन के अंग और प्रक्रियाएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन सकें। परंतु ये सब परिवर्तन भी, अभी भौतिक प्रक्रियाओं के अवशेष को छोड़ जायंगे जो पुराने तरीके को बनाये रखेगा और उच्चतर संयम के साथ मेल नहीं खायेगा और, अगर वह रूपांतरित न हो सका तो, बाकी रूपांतर स्वयं रुक सकता है और अपूर्ण रह सकता है। शरीर का संपूर्ण रूपांतर इस बात की अपेक्षा रखेगा कि शरीर-संघटन के अत्यंत स्थूल भाग का, उसकी रचना, उसकी प्रक्रियाओं और उसके स्वभाव की व्यवस्था का भी पर्याप्त परिवर्तन हो जाय।

फिर, लोग यह भी समझ सकते हैं कि पूरा पूरा संयम आ जाना, शरीर के इस संगठन और उसके अदृश्य कार्य का ज्ञान और दर्शन पा जाना, अपनी सचेतन इच्छा के अनुसार उसकी क्रियाओं को निश्चित करने की कार्यकारी क्षमता अर्जन कर लेना भी पर्याप्त होगा; यह संभावना एक उपलब्ध वस्तु के रूप में और कुछ लोगों की आन्तरिक शक्तियों के विकास के अंग के रूप में प्रस्थापित हो चुकी है। शरीर में प्राणशक्ति के अचल अटल बने रहने पर भी श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को बंद कर देना, केवल श्वास-प्रश्वास को ही नहीं वरन् प्राणशक्ति की सब प्रकार की अभिव्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार दीर्घकाल तक पूर्णरूपेण बंद रखना, उसी तरह विचार और वाणी और अन्यान्य मानसिक क्रियाओं के निर्विघ्न चलते रहने पर भी अपनी इच्छा के अनुसार हृदय को बंद कर देना तथा ऐसे ही शरीर के ऊपर इच्छाशक्ति के अन्यान्य कार्य लोगों को ज्ञात हैं और ये इस प्रकार के प्रभुत्व के पूर्ण प्रामाणिक उदाहरण हैं। परंतु ये सब चीजें सामयिक या विरल सफलताएं हैं और रूपांतर नहीं कही जा सकतीं। एक प्रकार का पूर्ण संयम और एक प्रकार का सुप्रतिष्ठित और व्यावहारिक और, निःसंदेह, स्वाभाविक प्रभुत्व आवश्यक है। यह जो कुछ प्राप्त हो चुका है उसके होते हुए भी शरीर को पूर्ण रूप से मुक्त करने और दिव्य शरीर में रूपांतरित करने के लिये कुछ और भी अधिक आवश्यक चीज की मांग की जा सकती है।

फिर, यह बात कही जा सकती है कि शरीर के आधाररूप बाहरी रूप की तरह ही उसकी इन्द्रिय-रचना को भी एक ऐसे आवश्यक स्थूल आधार के रूप में बनाये रखना होगा जिसके सहारे पार्थिव प्रकृति को, पार्थिव जीवन के साथ दिव्य जीवन के संबंध को बनाये रखा जाय और क्रमविकास की प्रक्रिया को भी इस तरह जारी रखा जाय कि पार्थिव जीवन से बाहर और उससे दूर ऊपर की ओर प्रस्फुटित होकर उसे सत्ता की किसी ऐसी स्थिति में जाने से रोका जा सके जो स्थिति वास्तव में किसी उच्चतर लोक से संबंध रखनेवाली हो और इस पृथ्वी पर की दिव्य परिपूर्णता के साथ उसका कोई संबंध न हो। हमारी प्रकृति में जो पशुता है, अगर वह पर्याप्त मात्रा में रूपांतरित होकर अभिव्यक्ति का एक यंत्र बन जाय और बाधा न बनी रहे तो, उसकी सत्ता ही उस संबंध को बनाये रखने के लिये, संपूर्ण क्रमविकास की धारा को बनाये रखने के लिये आवश्यक होगी; इसकी आवश्यकता इसलिये भी होगी कि यह इस स्थूल जगत् में प्रकट होनेवाले देवता का सजीव वाहन बने जिस जगत् में देवता को कार्य करना है और नए जीवन के कार्यों और चमत्कारों को पूरा करना है। यह निश्चित है कि शरीर का एक ऐसा आकार अवश्य रहेगा जो इस संबंध को बनाये रखेगा और शरीर का एक ऐसा कार्य अवश्य रहेगा जिसमें पार्थिव क्रियाशक्ति और उसकी मूलगत क्रियाएं वर्तमान होंगी, परंतु वह संबंध एक बंधन या घेरनेवाली सीमा या परिवर्तन की परिपूर्णता का विरोधी नहीं होना चाहिये। अगर वर्तमान इन्द्रियसमूह को उसका कोई रूपांतर किये बिना ही बनाये रखा जाय तो वह एक ऐसे बंधन का ही कार्य करेगा और पुरानी प्रकृति के अंदर ही बंद कर रखेगा। उस समय एक स्थूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार तो रहेगा पर वह होगा पृथ्वी का ही, पृथ्वी से, पुरानी पृथ्वी से संबंध रखनेवाला ही और वह दिव्यतर आध्यात्मिक गठनवाली किसी नई पृथ्वी का नहीं होगा; क्योंकि उस गठन के साथ प्राचीन संस्थान का कोई मेल नहीं बैठेगा और यह अपने आगे का क्रमविकास साधित करने में या जड़ के अंदर उसके आधार के रूप में उसे धारण करने में भी असमर्थ होगा। यह सत्ता के एक भाग को, निम्नतर भाग को एक अरूपांतरित मनुष्यत्व और अपरिवर्तित पशुसुलभ क्रिया के साथ बांध रखेगा और अतिमानसिक प्रकृतिवाले अतिमानवत्व के अंदर मुक्त होने से उसे रोकेगा। अतएव यहां भी परिवर्तन की आवश्यकता है, संपूर्ण शारीरिक रूपांतर के एक आवश्यक अंग की आवश्यकता है जो समूचे मनुष्य को, कम से कम अंतिम परिणाम में, दिव्य बना देगा और उसके विकास को अपूर्ण अवस्था में नहीं छोड़ेगा।

यह उद्देश्य, हम कह सकते हैं, पर्याप्त मात्रा में सिद्ध होगा अगर चक्रों और उनकी शक्तियों की क्रिया प्रकृति के समस्त क्रियाकलापों पर अपना राज्य फैला दे, शरीर पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर दे और उसके रूप की गठन और उसकी इन्द्रियों की क्रियाओं में, दोनों में ही, उसे उन सब कामों के लिये पारस्परिक संबंध की एक मुक्त प्रणाली और साधन तथा ज्ञान और कर्म का एक नमनशील यंत्र बना लिया जाय जिन कामों को इस पार्थिव जीवन में, इस जड़ जगत् में उन्हें करना है। स्वयं स्थूल इन्द्रियों की कार्यपद्धतियों में एक परिवर्तन लाना होगा और, यह भी संभव है कि, उनकी बनावट तक में और उनके महत्त्व में भी परिवर्तन करना पड़े; उन्हें नए भौतिक जीवन पर अपनी सीमाओं को अनिवार्य रूप से नहीं लादने दिया जा सकता। आरंभ में, अधिक स्पष्ट रूप में वे पारस्परिक संबंध और कर्म की प्रणालियों के बाहरी छोर बन सकती हैं, देही के आन्तरिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, अपने प्रत्युत्तरों में कम अंधी और जड़ हो सकती हैं और उन सब आन्तरिक गतियों और शक्तियों के कार्य और लक्ष्य के विषय में सचेतन हो सकती हैं जो उन्हें व्यवहृत करती हैं और जिनके विषय में भूल से हमारे अंदर का पार्थिव मनुष्य यह समझता है कि वे इन्द्रियां ही उन्हें उत्पन्न करती और व्यवहृत करती हैं। मस्तिष्क विचारों का रूप वहन करने का एक यंत्र होगा और शरीर तथा बाहरी जगत् पर उनका जोर डालने के लिये एक बैटरी का काम करेगा जहां वे विचार सीधे अपना प्रभाव डाल सकेंगे, बिना किसी भौतिक साधन के एक मन से दूसरे मन में जा सकेंगे और उतने ही सीधे रूप में दूसरे के विचारों, कार्यों और जीवनों के ऊपर या स्थूल वस्तुओं के ऊपर भी प्रभाव उत्पन्न कर सकेंगे। उसी तरह चैत्य केंद्र की शक्तियां जिन सब अनुभवों और भावावेगों को बाहर की ओर जगत् के ऊपर फेंकेंगी उन्हें सीधे ले आने और उनके पारस्परिक आदान-प्रदान की मध्यस्थता का काम हृदय करेगा। हृदय सीधे हृदय को उत्तर दे सकेगा, जीवनी-शक्ति दूसरों के जीवनों को सहायता पहुंचा सकेगी और उनके दूर और अपरिचित होने पर भी उनकी पुकारों का उत्तर दे सकेगी, बहुत से प्राणी बिना किसी बाहरी संबंध के एक दिव्य केंद्र से आनेवाले संदेश को पाकर पुलकित हो जायंगे और उस केंद्र से आनेवाली गुप्त ज्योति के अंदर परस्पर युक्त होंगे। संकल्प-शक्ति भोजन से संबंध रखनेवाली इंद्रियों पर अधिकार कर सकती है, सहज ढंग से स्वास्थ्य की रक्षा कर सकती है, लालसा और कामना-वासना को दूर हटा सकती है, सूक्ष्मतर प्रक्रियाओं को विकसित कर सकती है अथवा विश्वव्यापी जीवनी-शक्ति से बल और सत्त्व आहरण कर सकती है जिसमें शरीर अपनी शक्ति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्त्व को बिना खोये या नष्ट किये दीर्घकाल तक बनाये रख सके और इस तरह स्थूल आहार के द्वारा पोषण पाने की आवश्यकता के बिना ही बना रहे और फिर भी बिना किसी थकावट के या नींद या विश्राम के लिये रुके बिना श्रम-साध्य कार्य करता रहे। अंतरात्मा की और मन की संकल्पशक्ति उच्चतर भूमिकाओं से कामकेंद्र और कामेंद्रिय पर क्रिया कर सकती हैं और स्थूल काम-प्रेरणा या उसके नशे को दृढ़ता से रोक सकती या दूर भी कर सकती हैं और एक पशुसुलभ उत्तेजना या स्थूल प्रवेग या वासना को कार्यान्वित करने के बदले उनका व्यवहार मूलशक्ति, ओजस् को–जिसका कि यह क्षेत्र एक कारखाना है–एकत्र करने, उत्पन्न करने और मस्तिष्क, हृदय और जीवनी-शक्ति की ओर ले जाने के लिये कर सकती हैं जिससे कि वह शक्ति मन और अंतरात्मा और आत्मा के तथा उच्चतर जीवनी-शक्तियों के कार्यों को धारण कर सके और निम्नतर वस्तुओं के लिये शक्ति के व्यय को सीमित कर सकें। अंतरात्मा, हृत्-पुरुष, अधिक आसानी से सब कुछ ज्योति से भर सकता है और शरीर के जड़तत्त्व तक को अपने महत्तर उद्देश्य की सिद्धि के लिये उच्चतर उपयोगों में व्यवहृत कर सकता है।

यह एक पहला शक्तिशाली परिवर्तन होगा, पर किसी भी तरह यही वह सब कुछ नहीं है जो संभव है या आवश्यक है। क्योंकि यह भी हो सकता है कि क्रमविवर्तन का प्रवेग आगे बढ़े और स्वयं इंद्रियों की स्थूल क्रिया और उपयोग के अंदर एक परिवर्तन ले आये और बहुत अंशों में उनके कार्य की आवश्यकता को और उनके अस्तित्व तक को कम कर दे। सूक्ष्म शरीर के चक्र, जिनके विषय में साधक सचेतन होगा और जिनके अंदर होनेवाली सारी क्रियाओं को जानेगा, अपनी शक्तियों को स्थूल स्नायु और केंद्र और तंतु के भीतर ढाल देंगे और उन्हें समूचे स्थूल शरीर के भीतर से विकीर्ण करेंगे। इस नए जीवन में समस्त भौतिक जीवन और उसके आवश्यक कार्यकलाप जारी रखे जा सकते हैं और इन उच्चतर कार्य-शक्तियों के द्वारा एक अधिक उन्मुक्त और परिपूर्ण तरीके से और एक कम बोझल और सीमित करनेवाली पद्धति से किये जा सकते हैं। यह क्रिया इतनी अधिक बढ़ सकती है कि ये इंद्रियां अनिवार्य ही न रह जायं और अत्यंत बाधक भी प्रतीत हों; केंद्रीय शक्ति क्रमशः उनका व्यवहार कम कर दे और अंत में एकदम उनके व्यवहार को दूर ही हटा दे। अगर ऐसा हुआ तो वे पोषण के अभाव में नष्ट हो जा सकती हैं, महत्त्वहीन मामूली अवस्था को प्राप्त हो सकती हैं अथवा विलीन भी हो सकती हैं। केंद्रीय शक्ति उनके स्थान में उनसे अत्यंत भिन्न स्वभाववाली सूक्ष्म इंद्रियों को उत्पन्न कर सकती है अथवा, अगर किसी स्थूल इंद्रिय की आवश्यकता हो तो, ऐसे यंत्रों को उत्पन्न कर सकती है जो क्रियाशक्ति के रूप होंगे अथवा उसके नमनीय वाहन होंगे, ठीक वे ही चीजें नहीं होंगे जिन्हें हम इंद्रियों के रूप में जानते हैं। यह चीज शरीर के चरम सर्वांगपूर्ण रूपांतर का अंग हो सकती है यद्यपि यही चीज अंतिम अवस्था नहीं हो सकती। ऐसे परिवर्तनों की कल्पना करना अपनी दृष्टि को अत्यंत दूर ले जाना है और वस्तुओं के वर्तमान रूप से आसक्त मन उनकी संभावना में विश्वास करने में असमर्थ हो सकता है। पर क्रमविकास के आवेग के ऊपर आवश्यक परिवर्तन की कोई ऐसी सीमा या असंभाव्यता नहीं लादी जा सकती। सब कुछ को समूल परिवर्तित नहीं होना होगा; बल्कि इसके विपरीत, सर्वांगीण पूर्णत्व के अंदर जो कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक होगा उस सबको बनाये रखना होगा, पर सबको पूर्ण बनाना होगा। विकास का उद्देश्य है चेतना को बढ़ाना, फैलाना और ऊंचा उठाना। यही उसका यहां केंद्रीय संकल्प और लक्ष्य प्रतीत होता है। इसके लिये तथा शक्ति-दायी साधनों और रक्षणशील पारिपार्श्विकता की क्रमवृद्धि के लिये जो जो कुछ आवश्यक है, उस सबको रखना और बढ़ाना होगा; परंतु जो चीज अतिक्रम करने की है, जिस चीज का अब कोई उप-योग नहीं है अथवा जो अवनत, विकृत हो गई है, जो चीज अब सहायक नहीं है या बाधक बन गई है, वह त्यागी जा सकती है और रास्ते में फेंकी जा सकती है। यह बात शरीर के आरंभिक रूपों से लेकर उसके अत्यंत विकसित नमूने, मनुष्य तक के क्रम-विकास के इतिहास में देखी जा चुकी है और ऐसा कोई कारण नहीं कि मानवशरीर से दिव्य शरीर में परिवर्त्तित होने की क्रिया में यह पद्धति हस्तक्षेप न करे। पृथ्वी पर दिव्य शरीर को अभिव्यक्त या गठित करने के लिये एक प्राथमिक रूपांतर अवश्य होना चाहिये, एक नवीन, एक महत्तर और अधिक विकसित नमूने का आविर्भाव होना चाहिये, छोटे मोटे सुधारों के साथ वर्तमान भौतिक रूप और उसकी सीमित संभावनाएं ही नहीं बनी रहनी चाहियें। जो कुछ चीजें बचा रखने योग्य हैं उन्हें अवश्य ही बचा रखना होगा और उनके अंदर वे सब चीजें शामिल हैं जो इस पृथ्वी पर नवीन जीवन के व्यवहार के लिये आवश्यक हैं या पूर्ण रूप से उप-योगी हैं। जो चीजें अभी आवश्यक हैं और उसकी उद्देश्यसिद्धि में काम आयंगी पर अपूर्ण हैं, उन्हें रखना होगा पर उन्हें विकसित करना और पूर्ण बनाना होगा। जो चीजें नए उद्देश्यों की दृष्टि से अब किसी काम की नहीं हैं या एक प्रकार की अक्षम-ताएं हैं, उन्हें अलग फेंक देना होगा। जड़तत्त्व के जो आवश्यक रूप हैं और जो कार्यकारी यंत्र हैं वे अवश्य रहने चाहियें, क्योंकि जड़तत्त्व के जगत् में ही दिव्य जीवन को अभिव्यक्त होना है, पर उनके जड़त्व को निश्चय ही शुद्ध, उन्नत, महान् और प्रकाशपूर्ण बनाना होगा, क्योंकि जड़तत्त्व और जड़ जगत् को अपने अंदर निवास करनेवाले आत्मा को अधिकाधिक अभिव्यक्त करना है।

यह नया नमूना, दिव्य शरीर अब तक विकसित विवर्तनात्मक रूप को ही अवश्य बनाये रखेगा; इतने काल से प्रकृति जिस नमूने को विकसित करती आ रही है उसे अवश्य बने रहना होगा, मानव से दिव्य शरीर तक एक क्रम बना रहना होगा, किसी अबोध्य चीज तक आकर यह क्रम टूट नहीं जायगा, बल्कि जो कुछ अब तक सिद्ध हो चुका है और अंशतः पूर्ण बनाया जा चुका है उसी के उच्च परिणाम तक पहुंचेगा। मनुष्य-शरीर के विभिन्न भागों और यंत्रों में ऐसी चीजें हैं जो दिव्य जीवन में प्रयुक्त होने के लिये पर्याप्त मात्रा में विकसित की गई हैं; इन सब चीजों को अपने स्वरूप में बने रहना होगा, यद्यपि उन्हें और भी अधिक पूर्ण बनाना होगा, उनके क्षेत्र और व्यवहार की सीमाओं को दूर होना होगा, दोष-त्रुटि, रोग-शोक और विकृति की उनकी अधीनता को नष्ट होना होगा और उनके ज्ञान और कर्मण्यता की क्षमताओं को वर्तमान सीमाओं के परे ले जाना होगा। शरीर के द्वारा ऐसी नई नई शक्तियों को प्राप्त करना होगा जिन्हें उपलब्ध करने की आशा हमारी वर्तमान मनुष्यता नहीं कर सकती, जिनका स्वप्न तक भी नहीं देख सकती अथवा जिनकी महज कल्पना तक कर सकती है। अधिक से अधिक आज जो कुछ केवल जाना जा सकता है, आविष्कृत हथियारों और कलों के व्यवहार के द्वारा कार्यान्वित अथवा उत्पन्न किया जा सकता है, उसे नया शरीर अपनी निज शक्ति से अथवा शरीर में रहनेवाला आत्मा सीधे अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा प्राप्त करने में संभवतः समर्थ हो सकेगा। स्वयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर अन्य शरीरों के साथ आदान-प्रदान करने के नए नए साधनों और क्षेत्रों को संभवतः प्राप्त कर सकेगा, ज्ञान प्राप्त करने की नई पद्धतियां, एक नया सौंदर्यबोध, स्वयं अपना और वस्तुओं का कुशलतापूर्वक व्यवहार करने की नई नई क्षमताएं लाभ कर सकेगा। संभवतः उसके लिये ऐसे साधनों को अधिकृत करना या प्रकट करना असंभव नहीं होगा जो उसकी अपनी निजी गठन, सत्त्व या स्वाभाविक कार्यशक्ति के लिये स्वाभाविक हों और दूर को समीप बनायें और दूरी को नष्ट करें, जो कुछ अभी शरीर के लिये बोधगम्य नहीं उसे बोधगम्य बनावें, जहां अभी कार्य करना उसकी पहुंच के या उसके क्षेत्र के बाहर है वहां कार्य करें, ऐसी सूक्ष्मता और नमनीयता को विकसित करें जो वर्तमान अवस्थाओं में एक जड़ ढांचे की आवश्यक कठोरता को नहीं प्रदान की जा सकतीं। ये और दूसरी असंख्य क्षमताएं प्रकट हो सकती हैं और शरीर क्या हो सकता है–इस विषय में आज हम जो कुछ कल्पना कर सकते हैं उससे अनंत गुना श्रेष्ठ एक यंत्र वह बन सकता है। सत्य-चैतन्य के प्रथम स्पर्श से आरंभ कर अतिमानस के क्रमोन्नत स्तरों के सर्वोच्च शिखरों तक एक क्रमविकास हो सकता है और वह स्वयं अतिमानस की निजी सेवाओं को भी अतिक्रम कर सकता है। वहां वह एक परात्पर विशुद्ध सत्, चैतन्य और आनंद–जो कि सत्ता, तपस् की क्रियाशक्ति, आनंद की महत्ता और मधुरता, सर्वस्रष्टा आनंद के विशुद्ध सार और शिखर के उच्चतम सत्य के लोकों की रचना करते हैं उनका–स्पर्श पाये हुए जीवन के अभिव्यंजक रूपों का नक्शा खींचना, उन्हें विकसित तथा चित्रित करना आरंभ करता है। क्रमविकास की इस अटूट धारा का अनुसरण भौतिक सत्ता–शरीर का रूपांतर भी कर सकता है और दिव्य शरीर यहीं, इस पृथ्वी पर ही, एक दिव्य जीवन के अंदर आत्माभिव्यक्ति करनेवाले आत्मा की इस उच्चतम महत्ता और महिमा के यत्किंचित् अंश को प्रतिबिंबित और अभिव्यक्त कर सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविंद के महाकाव्य के
एक सर्ग का श्री सुमित्रानंदन पंत द्वारा
हिंदी रूपांतर

सावित्री

(एक कथा और रूपक)

तृतीय पर्व 'भागवती माता' का प्रथम सर्ग

अज्ञेय की खोज

समस्त जो विश्व दे सकता है अत्यंत नगण्य है:
इसकी शक्ति और ज्ञान महाकाल के दान हैं
और आत्मा की पवित्र पिपासा को पूर्ण नहीं कर सकते।
यद्यपि ये महत्ता के स्वरूप एकमेव के हैं
और उसकी अनुकंपा की सांस से ही हमारे जीवन स्थित हैं,
यद्यपि, स्वयं निकटता से भी हमारे अधिक निकट,
वह कोई पूर्ण सत्य है जिसके हम बने हैं,
अपने ही व्यापारों से अंतरित वह दूर जान पड़ता था,
अभेद्य, गुह्य, वाणी-हीन, दुर्ज्ञेय।
दिव्य सन्निधि खो गई जिससे सब पदार्थों में मोहकता है,
परम महिमा लुप्त हो गई जिसके ये अस्पष्ट चिह्न हैं।
प्रेयसी का मुख ओझल हो जाने पर प्रेम की तरह
विश्व-क्रम, अपने कारण से रिक्त होकर, चलता रहा।
जानने के लिये श्रम करना मन का व्यर्थ प्रयास प्रतीत हुआ;
समस्त ज्ञान परम अज्ञेय में पर्यवसित हो गया
शासन करने का प्रयत्न मनःशक्ति का थोथा गर्व,
महाकाल से तिरस्कृत अकिंचित्कर सिद्धिमात्र जान पड़ा;
समस्त शक्ति सर्वशक्तिमय में लीन हो गई।
अंधकार की एक गुहा शाश्वत प्रकाश की रक्षा करती है।
उसके प्रयत्नशील हृदय पर एक मौन भाव स्थापित हो गया;
संसार की ईषणा के स्वरों से मुक्त होकर
वह अनिर्वचनीय के कालहीन आह्वान की ओर उन्मुख हुआ।
एक चिर परिचित संज्ञातीत सत्ता,
एक विस्तृत अभिभूत करनेवाला महानंद तथा शांति
अपने में तथा सर्व में अनुभव होने पर भी अग्राह्य,
मानों उसे सदैव और भी अग्रसर होने को आकृष्ट करती हुई,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके आत्म अनुसंधान के समीप आई और विलीन हो गई।
निकट आकर वह हट जाती; दूर जाकर भी उसे बुलाती।
उसके आह्लाद के अतिरिक्त और किसी वस्तु से संतोष न मिलता :
उसका अभाव महत्तर कर्मों को भी नीरस कर देता,
उसकी उपस्थिति क्षुद्रतम को भी दिव्य सा बना देती।
जब वह वहां होती, हृदय का अतल गर्त भर जाता;
किंतु जब ऊपर उठानेवाली महत् सत्ता अपने को खींच लेती
अस्तित्व का उद्देश्य महाशून्य में खो जाता।
चिर अनादि भुवनों का क्रम,
साधन यंत्रों की देवोपम परिपूर्णता
क्षणभंगुर दृश्यपटी के अवलंबों के रूप में बदल जाती।
किंतु वह महाशक्तिमत्ता कौन थी अभी वह नहीं जानता था।
अस्पृश्य, फिर भी समस्त विद्यमान में व्याप्त,
वह शतशः विश्वों को बनाती और मिटाती थी,
तथा सहस्रों रूपों और नामों को धारण और लय करती थी।
वह एक दुर्ज्ञेय महाप्रसार की आकृति ग्रहण करती थी,
या आत्मा में एक सूक्ष्म बीज सी लगती थी :
एक सुदूरवर्ती महानता उसे विशाल तथा अस्पष्ट बनाए थी,
एक रहस्यमय सन्निकटता उसे मधुरिमा में छिपाए थी :
वह कभी एक कल्पना या परिच्छद जान पड़ती
और कभी अपनी ही महाकार छाया प्रतीत होती थी।
एक विकट आशंका की छाया ने उसकी प्रगति को ग्रस्त कर लिया।
एक तटस्थ सर्वाधारस्वरूप महाशून्य के पार
जिसकी रिक्तता उसकी एकाकी अमर आत्मा का उपचार करती थी,
किसी रहस्यमय परम पुरुष की ओर आकृष्ट हो,
गहन दुर्ज्ञेय महाशक्तियों से बाध्य, उनसे सहाय पाकर,
अभीप्साशील और आधा डूबता और ऊपर उठता हुआ,
वह अदम्य रूप से बिना रुके चढ़ता गया।
सदैव एक चिह्नहीन अस्पष्ट अपरिमेयता,
आसन्नता रहित, प्रत्युत्तर के अतीत,
सीमित पदार्थों की निरर्थकता की उपेक्षा करती हुई,
अननुरूपता से उसका सामना कर, आच्छन्न रहती थी।
फिर आरोहण की एक महान् सीमा आई :
एक उच्च स्थिति प्राप्त हुई जहां कुछ भी घटित नहीं रह सकता था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक रेखा, जहां प्रत्येक आशा तथा अनुसंधान का अंत निश्चित है,
किसी असहिष्णु रिक्त महत् यथार्थता के निकट पहुंची,–
एक शून्य जो सीमाहीन विवर्तन से सगर्भ हो गया था।
एक भ्रामक छोर पर, जहां सब छलछद्म पराजित हो जाते हैं
और मानव मन को परम ज्योति के लिये अपना आसन छोड़ना पड़ता है
या शलभ के सदृश महासत्य की नग्न ज्वाला में झुलस मरना होता है,
उसने अपने को एक महत् संकल्प के लिये विवश पाया।
सब जो वह कभी था और सब जो वह अब भी था
उसे अब पीछे छोड़ना होगा या फिर उस परम के रूप में
रूपांतरित होना होगा जिसकी कोई उपाधि नहीं है।
एकाकी तथा एक महाशक्ति के समक्ष खड़े
जो कुछ भी विचारणा की पकड़ में नहीं आने देती थी
उस आत्मा ने अद्‌भुत साहसपूर्वक महाशून्य का सामना किया।
रूप के विश्वों से उच्छिन्न होकर उसने संघर्ष किया।
एक फलीभूत विश्वव्यापी महा अज्ञान वहां आप्लावित किये था;
विचार की लंबी घूम-फेरवाली यात्रा अंतिम छोर पर आ गई थी,
और कारक संकल्पशक्ति असमर्थ होकर रुद्ध हो गई थी।
अस्तित्व की प्रतीक रूप प्रणालियां और सहायक नहीं हुईं,
निर्ज्ञाति जिन आकारों की रचना करता है ध्वस्त होकर विफल हो गये,
और विश्व को धारण करनेवाली आत्मा भी
अपनी दीप्तिमय अपर्याप्ति में विमूर्छित हो गई।
समस्त विरचित पदार्थों के अतलस्पर्शी भ्रंश में
प्रत्येक नाशवान् आधार को अतिक्रम करते हुए
और अंत में अपने महान् शक्तिमय उद्‌भव को प्राप्त कर
वियुक्त आत्मा को लय होना होगा या मन की सार्थकता के परे
एक महत् सत्य में नवीन रूप से जन्म लेना होगा।
बाह्य रूपरेखा का समस्त गौरव, सामंजस्य की मधुरिमा,
क्षुद्र स्वरों के अलंकरण की तरह अस्वीकृत हो,
महत् सत्ता की नग्न गभीर नीरवता से उच्छिन्न होकर
एक सूक्ष्म तथा परम सुखमय महाशून्य में निःशेष हो गये।
विधाताओं के नाम और रूप खो गये,
वे महान् व्यवस्थामय लोक जिनकी उन्होंने योजना तथा रचना की थी
एक एक कर ग्रस्त तथा विनष्ट होकर अतिक्रमित हो गये।
विश्व ने अपना रंगीन अवगुंठन उठा लिया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और निर्मित पदार्थों की बृहत् पहेली के कल्पनातीत छोर पर
समग्र का सुदूर-दृष्टिगत परमेश्वर प्रकट हुआ,
जिसके चरण महा जीवन के सुविशाल पंखों पर प्रतिष्ठित थे,
–महाकाल का सर्वशक्तिमान् या एकांत साक्षी,
अन्तर्मुख, दुर्ज्ञेय, हीरोज्ज्वल दृष्टियुक्त।
अगाध भावना से आकृष्ट होकर
असमाप्त मंद वृत्त-संचरण, उस अदृश्य समुद्र से पुनः उठने के लिये,
अपने उद्गम की ओर लौटे।
उसके शौर्य से उत्पन्न सब कुछ अब व्यर्थ हो गया;
वैश्व मन जिसकी धारणा करता है वह कुछ भी नहीं रहा।
शाश्वतता विलीन होने को उद्यत हो गई
और महाशून्य पर एक छाया तथा आरोप सी प्रतीत हुई।
महाकाश स्वप्न के पंख की फड़क के समान था
जो अपने अंत होने के पूर्व ही महाशून्य की अतल गहराइयों में निमग्न हो गया।
वह चेतना जिसका विनाश नहीं होता और परम देव सत्ता की आत्मा
महत् अविज्ञेय से उत्सर्जित पुरावृत्तों सी प्रतीत हुईं;
उसी केवल से सब उत्पन्न हुआ, उसी केवल में लय होने को बुलाया जाता है।
किंतु वह केवल क्या है, कोई विचार या दृष्टिदर्शन नहीं बता सका।
आत्मा का एक आकारहीन महत् आकार शेष रह गया,
कुछ जो था उसका अत्यंत क्षीण प्रेतमात्र,
सीमाहीन सिंधु में विलीन होने के पूर्व
गिरती हुई लहर का अंतिम अनुभव,–
मानों उसने महाशून्य के छोर पर भी
जिस सिंधु से उसका उद्भव हुआ था उसकी अपनी मात्र-भावना को बनाये रखा।
महादिशा के बोध से मुक्त एक महत् विस्तार
महाकाल से विच्छिन्न एक अनाद्यंतता आच्छन्न रही;
एक अद्भुत उदात्त अपरिवर्तनीय महाशांति ने
विश्व और आत्मा को चुपचाप अपने से वियुक्त कर दिया।
एक निःशेष निःसंग महत् यथार्थता ने
अंत में उसकी आत्मा की उत्कट खोज का उत्तर दिया:
विकारहीन, शब्दहीन, अगाध शांति में निमग्न,
उस रहस्य को धारण करती हुई जिसे कभी भी कोई न भेद सकेगा,
वह अपनी मूक दारुण निश्चलता से उसका सामना कर
अस्पृश्य तथा अज्ञेय रूप से आच्छन्न रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका विश्व से कोई साम्य नहीं था:
उसके महा विस्तार में कोई क्रिया, कोई गति न थी:
जीवन का प्रश्न इसकी नीरवता का सामना कर उसी के ओठों पर भर गया,
परम प्रकाश से समर्थन न पाकर
विश्व का प्रयत्न अज्ञान के दोष के कारण स्थगित हो गया:
अपनी ज्ञान की आवश्यकता लिये वहां मन न था:
अपनी प्रेम की आवश्यकता लिये वहां हृदय भी न था।
सब व्यक्ति उसकी नामहीनता में विनष्ट हो गये।
वहां अपर न था, कोई उसका सहकारी या समान न था;
केवल मात्र वही अपने लिये सत्य था।
एक शुद्ध अस्तित्व विचार और वृत्ति से मुक्त,
एक असर अविभक्त, अत्यानंद का चैतन्य,
अद्वितीय और अनुपम, अवचनीय रूप से एकाकी,
वह अपनी रिक्त निःसीमता में पृथक् रहता था।
एक निराकार परम अस्तित्व, रूपहीन तथा मूक:
जो अपने को अपनी ही कालहीन आत्मा से जानता था,
अपनी गतिहीन गहराइयों में सदैव प्रबुद्ध,
अकर्ता, स्वयंभू तथा अजन्मा,
वह परम जो सबको धारण करता है, जिसे कोई धारण नहीं करता.
महत् अव्यक्त के आवरणों से संरक्षित
एक अपरिमेय प्रकाशमय रहस्य,
इस विवर्तनशील वैश्व विष्कंभक से ऊपर
परम धाम, निर्विकार रूप से सम,
एक नीरव गुह्य आदि कारण, अभेद्य,–
असीम, शाश्वत, अचिंत्य, एकाकी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध–

आलोक के पथ पर

(३)

इस युग की साधना

प्रथम और आदिम सत्य था जड़–जड़ जगत् जिसका अंश हमारी यह स्थूल देह है। इसमें केवल जड़शक्ति का कौतुक चल रहा है–स्थूल भौतिक रासायनिक क्रिया और प्रतिक्रिया चल रही हैं।

किंतु सृष्टि में केवल जड़ ही तो नहीं है, सजीव वस्तु भी है, प्राणवंत सत्ता भी है, देह के अतिरिक्त हममें जीवन भी है, प्राण भी हैं। यह प्राण केवल जड़ का ही एक विशेष धर्म अथवा क्रिया अथवा रूप हो, सो नहीं। प्राणों की एक पृथक्, अपनी ही सत्ता है–अपनी ही धर्म-कर्म-सार्थकता है। जड़ के समान प्राणों का भी एक अपना समूचा जगत् है और उसी का अंश है हमारी यह प्राण-शक्ति, विश्व-जीवन में निमज्जित हमारा यह जीवन। जड़ के बाद प्राण हुए दूसरी सीढ़ी।

प्राणों के सिवा भी–प्राणों के अंतराल में और उनसे ऊपर–एक और भी वस्तु है–मन। फिर यह मन केवल प्राणों की ही एक विशेष क्रियामात्र हो सो नहीं; इसकी भी एक स्वतंत्र सत्ता और सार्थकता है–एक अपनी ही भरी-पूरी दुनिया है। हमारा मन इसी विश्वमन का अंश और व्यष्टिस्वरूप है। यह हुई तीसरी सीढ़ी।

मन तक आकर ही इस परंपरा की इति हो गई हो, ऐसा नहीं। मनोमय लोक से ऊपर एवं पीछे एक और भी लोक है–जिसे कभी-कभी विज्ञानमय लोक कहा जाता है। हम इसे साधारणतया अध्यात्मचेतना के लोक के नाम से पुकार सकते हैं। यही चौथी सीढ़ी अथवा तुरीय अधिष्ठान हुआ।

विश्वसृष्टि का रहस्य ठीक इसी जगह है: यह सारी लोकपरम्परा चिरकाल से चलती आने पर भी–अनादि-अनंत-सनातन होने पर भी–उसका प्रकाश हुआ है बाहर की ओर क्रम से, सिलसिले से, एक के बाद एक। सबसे प्रथम के भीतर, उसी प्रथम के सहारे, शुरू हुई थी सृष्टि की आदिम यात्रा, और वहीं से शेष सभी–सीढ़ी-दर-सीढ़ी–प्रकट और प्रमूर्त्त होते आ रहे हैं।

युग-युगान्तर तक प्रारंभ में केवल जड़ की सत्ता थी–जड़ ही जड़ की–निर्जीव प्राणहीन वस्तु का समारोह था। उसीमें एक दिन प्राण उतर आए। एक विप्लव, क्रांति, रूपांतर घटित हुआ। प्राणों के धर्म ने जड़ को अधिकृत नियंत्रित किया सृष्टि के किसी एक अख्यात कोने में: जीव की–प्राणी की–उत्पत्ति हुई। जीव में–प्राणी में–अब निरे जड़ का ही धर्म नहीं रहा, किसी बृहत्तर, ऊर्ध्वतर धर्म के द्वारा वह परिवर्तित हो गया।

ऐसा ही एक विपर्यय–विप्लव–एक बार फिर आया, जब और जहां प्राण कुछ इस तरह पुष्ट एवं परिणत हो उठे कि उनमें मनोमय शक्ति का अवतरण हुआ। परिणामस्वरूप आविर्भाव हुआ मनुष्य का। मन के धर्म द्वारा प्राणों को–देह को–गठित और नियंत्रित करना ही मनुष्यत्व की साधना है।

मनुष्य अपनी मननशक्ति के बल पर मन के ऊर्ध्वतर–ऊर्ध्वतम लोक की शक्ति को उतारकर जीवन की नवीन मूर्ति गढ़ने की चेष्टा कर रहा है–युगों-युगों से। साधक शिल्पी संस्कारक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्शव्रती—सभी अपने अपने रास्ते से इसी साधना में लगे हैं।

किंतु इस समय आवश्यकता है—पहले की युगसंधियों के समान एक आमूल विपर्यय, विप्लव, क्रांति के आनयन की। एक नवीन जगत्—नवीन जगत् की शक्ति को नीचे उतारकर एक नवीन सृष्टि का आयोजन करने की।

कह आए हैं, मन से ऊपर का लोक है विज्ञानमय अध्यात्मलोक। इसी अध्यात्मलोक को नीचे उतारकर मनोमय लोक में प्रतिष्ठित करना होगा—अध्यात्म के धर्म-कर्म द्वारा मनोमयी प्राणमयी अन्नमयी स्थिति को गठित, नियंत्रित करना होगा।

इसमें संदेह नहीं कि अध्यात्मलोक की रश्मियां, कण, प्रभा पृथ्वी के मनोमय लोक में अनेक बार देखने में आई हैं: इधर उधर उन्होंने रूप—आकार भी ग्रहण करने का प्रयास किया है। किंतु समस्त लोक अर्थात् अध्यात्म की पूर्णशक्ति चिरस्थायी होकर पृथ्वीतल पर पृथ्वी के अच्छेद्य एवं स्वाभाविक अंग के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुई।

पृथ्वी पर जिस प्रकार वनस्पति-समाज, प्राणी-समाज, मानव-समाज वर्तमान हैं, वैसे ही मनुष्य के बाद आविर्भूत होगा सिद्धों का अध्यात्म-पुरुष-समाज—देव-समाज।

मनुष्य के विकास तक—मनुष्य को जन्म देने तक—प्रकृति ने अपनी अचेतन साधना संपादित की है। मनुष्य के मनोमय पुरुष का आश्रय लेकर प्रकृति सचेतन हो उठी है। आज प्रकृति का सचेतन यंत्र बनकर मनुष्य को मनुष्यत्व से परे पहुंचना होगा, पहुंचना होगा अध्यात्मलोक की अध्यात्मचेतना में: वहां उसे स्थिर रूप से प्रतिष्ठित होना होगा; फिर उससे परिपूर्ण होकर उसे नीचे उतार लाना होगा—मन को, प्राणों को—यहां तक कि देह को भी उसी चेतना और सत्ता की ज्योति द्वारा अमर रूप में गढ़ना होगा।

सृष्टि की, प्रकृति की गति-परिणति कदाचित् यहां भी समाप्त नहीं होती: विकास की सीढ़ियां शायद असमाप्य हैं। किंतु आज की साधना एक विशेष युगसंधि का प्रयास है। उसका अर्थ है अपरार्द्ध से परार्द्ध की सृष्टि की ओर आरोहण: अपरार्द्ध उठकर परार्द्ध तक पहुंचे और उसी के साथ परार्द्ध भी उतरकर अपरार्द्ध में स्थापित हो। इतने दिन तक सृष्टि की, चेतना की, प्रगति अंधकार से निकलकर अस्पष्ट प्रदोषालोक तक बढ़ती आई। अब प्रगति होगी आलोक से आरंभ: पूर्ण आलोक से चलकर पूर्ण आलोक के अंतराल से गुजरते हुए पूर्ण आलोक में उत्तीर्ण होना ही इस प्रगति की सार्थकता है।

अपरार्द्ध में—देह, प्राण, मन से जो अर्द्धरचित है उसमें—ऊर्ध्वतर प्रतिष्ठान अपने से निम्नतर प्रतिष्ठान को संपूर्णतया आयत्त अथवा रूपांतरित नहीं कर सकता। प्राण जड़ का आश्रय लेकर—नियंत्रित करके—प्राणी के रूप में परिणत हुए थे यह सही है, प्राणी में प्राणशक्ति ही मुख्य धर्म है, किंतु वह जड़ के खिंचाव—प्रभाव—को छोड़ नहीं सके। ऐसे ही, मन के आविर्भाव के साथ जब मनुष्य प्रकट हुआ, तब मन ने प्राणों को और जड़ देह को आश्रय करके नियंत्रित तो किया किंतु स्वयं भी उनके द्वारा बहुत कुछ प्रभावान्वित रहा ही आया। केवल परार्द्ध ही एक ऐसी स्थिति है जहां उत्तीर्ण होने पर नीचे के समस्त धर्मों के अतीत हुआ जाता है। तभी वे सब धर्म ऊपर के परिपूर्ण आयत्त में पहुंच पाते हैं—। संपूर्णतया रूपांतरित हो पाते हैं कारण, उनके अंतर की जो निगूढ़ सत्य सत्ता है, उसका उत्स इसी परार्द्ध की चेतना में है।

(अनुवादक—श्री मोहनलाल बाजपेयी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग-दर्शन

श्री सुमित्रानंदनजी पंत को उनकी नवीन काव्य-रचना "स्वर्ण-धूलि" के लिये हाल में ही एक पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया गया है। इससे हमें विशेष आनंद है और हम उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं।

उनका जीवन-दर्शन जो "स्वर्ण-धूलि" में विशेष प्रेरणा और विशदता से व्यक्त हुआ है उनकी "युग-वाणी" में भी मौजूद था। "प्रतीक" में प्रकाशित उनके "'युगवाणी' पर एक दृष्टि" नामक लेख से यह स्पष्ट है। मानव संस्कृति के आधारभूत प्रश्न को आपने अत्यंत ही मौलिक रूप में अनुभव किया है। पदार्थ (Matter) और चेतना (Spirit) का उचित समन्वय ही सारा प्रश्न है। मध्ययुग की तरह जगत् को माया कह देने में हल नहीं, न आज की तरह जड़ जगत् को ही सत्य मानने में है। पदार्थ और चेतना दोनों में यथार्थ संबंध और समन्वय ढूंढ़ निकालना ही इस युग का विशेष सांस्कृतिक प्रश्न है। आज आवश्यकता है "अध्यात्मवाद के सक्रिय, संगठित एवं सामूहिक प्रयोग" की। इसमें अवतरण और विकास, उच्चतर चेतना का यहां प्रतिष्ठित होना तथा मानव का नीचे से ऊपर की ओर उठना दोनों संचरण सम्मिलित हैं। इसी से वह युगांतर साधित हो पायगा जो आज के बढ़े हुए भौतिक विकास को अधिकृत करने में समर्थ होगा। इसके साथ नर-नारी के रागात्मक संबंधों में भी रूपांतर आ जायगा। पंतजी कहते हैं "मनुष्य-स्वभाव को संस्कृत बनाने के लिये रागात्मिका प्रवृत्ति का विकास होना अनिवार्य है। वह एक मूल प्रवृत्ति है। इस वृत्ति के विकास से मनुष्य अपने देवत्व के समीप पहुंच जायगा और संसार में नर-नारी-संबंधी रागात्मक मान्यताओं में प्रकारांतर हो जायगा।"

पंतजी के उक्त लेख को अधिकांश में यहां उद्धृत करते हुए हमें अत्यंत प्रसन्नता है। यद्यपि इन विचारों का पूरा आनंद लेने के लिये पाठक को कवि का प्रेरणापूर्ण काव्य पढ़ना होगा। –सं०

मानव जीवन एवं समाज का रूपांतर करने तथा पृथ्वी पर मानव स्वर्ग बसाने का वस्तु-स्वप्न नवीन युग की भावनात्मक देन है। मध्ययुग के दार्शनिकों ने जिस प्रकार बाह्य जीवन-सत्य की अवहेलना कर जगत् को माया या मिथ्या कहा है और आधुनिक भूतदर्शन जिस प्रकार अब जीवन-सत्य की उपेक्षा कर उसे बहिर्जीवन के अधीन रखना चाहता है, 'युगवाणी' में इन दोनों एकांगी दृष्टिकोणों का खण्डन किया गया है।

लोक-कल्याण के लिये जीवन की बाह्य (संप्रति राजनीतिक-आर्थिक) और आभ्यन्तरिक (सांस्कृतिक-आध्यात्मिक) दोनों ही गतियों का संगठन करना आवश्यक है। मात्रा और गुण दोनों में संतुलन होना चाहिये। जहां एक ओर असंख्य नंगे-भूखों का उद्धार करना जरूरी है वहां पिछली संस्कृतियों के विरोधों एवं रीति-नीतियों की शृंखलाओं से मुक्त होकर मानव-चेतना को युग-उपकरणों के अनुरूप विकसित लोकजीवन निर्माण करने की ओर संलग्न होना है।

'युगवाणी' को विश्वमूर्त्ति कहा है जिससे वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातिगत मन से मुक्त होकर युग के विश्वमन एवं लोकमन को अपने स्वरों में मूर्त्त कर सके: मनुष्य की अंतश्चेतना में जो सत्य अभी अमूर्त्त है उसे रूप दे सके: जीवन-सौंदर्य की जो मानवी प्रतिमा आज अंतर्मन में विकसित हो रही है उसे भौतिक जीवन में साकार कर सके; और हमारा मनःस्वर्ग पृथ्वी पर उतर आवे।

कहीं कहीं भावी जीवन की कल्पना प्रत्यक्ष हो उठी है। यथा, अब छंदों और प्राणों में सीमित कविता विश्व-जीवन के रूप में बहने लगी है, मानव-जीवन ही काव्यमय बन गया है: कलात्मक भाव जीवन की वास्तविकता में बंध गये हैं। ऐसे संसार में जहां सांस्कृतिक शक्तियां उन्मुक्त हो गई हैं अब जीवन-संघर्षण एवं समाजनिर्माण का श्रम सुखद सुन्दर लगता है।

इस युग के असंगठित जीवन को अधंकार कहा है, संगठित मन को प्रकाश। विकसित व्यक्तिवाद के साथ ही विकसित समाजवाद को विशेष महत्त्व दिया है, जिससे देव बनने के एकांगी प्रयत्न में हम मनुष्यत्व से विरक्त होकर सामाजिक जीवन में पशुओं से भी नीचे न गिर जायं। देवत्व को आत्मसात् कर हम मनुष्य बने रहें और मानव-दुर्बलताओं के भीतर से ही अपना निर्माण एवं विकास करें। नवीन समाज की परिस्थितियां हमें आदर्शों की ओर ले जानेवाली हों। हमारा मन युग युग के छाया-भावों से संत्रस्त न रहे, हम आज के मनुष्य की चेतना को खंड युगों की चेतना मानकर उसका विकसित विश्व-परिस्थितियों के अनुरूप संगठन एवं निर्माण करें।

अपने देश में जन-साधारण के मन में जीवन के प्रति जिस खोखले वैराग्य की भावना घर कर गई है उसका विरोध कर नवीन सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर नवीन मानसिक जीवन प्रतिष्ठित करने पर जोर दिया गया है। भौतिक विज्ञान के विकास के कारण भू-रचना के जिस भावात्मक दर्शन का इस युग में आविर्भाव हुआ है उसे युग-दर्शन का एक मुख्य स्तंभ समझना चाहिये।

मध्ययुग आत्मदर्शन या आत्मवाद का सक्रिय, संगठित एवं सामूहिक प्रयोग नहीं कर सका। तब भौतिक विज्ञान इतना समुन्नत नहीं था; वाष्प, विद्युत्, रश्मि आदि मानवजीवन के वाहन नहीं बन सके थे। जीवन की बाह्य परिस्थितियां एक सीमा तक विकसित होने के बाद निष्क्रिय और जड़ हो गई थीं। मध्ययुगीन विचारकों, संतों एवं साधुओं के लिये यह स्वाभाविक ही था कि वे विश्व-संचरण के प्रति निरीह होकर (मायावाद, मिथ्यावाद आदि जिसके दुष्परिणाम हैं) व्यक्ति से सीधे परात्पर की ओर चले जायं। उनके नैतिक उन्नयन के प्रयत्न भगीरथ प्रयत्न कहे जा सकते हैं पर वे राम-प्रयत्न या कृष्ण-प्रयत्न (जिन्हें राम-कृष्ण-अवतरण कहना उचित होगा) नहीं थे जिनके द्वारा विश्व-संचरण में भी प्रकारांतर या युगांतर उपस्थित हो सकता और जिनकी विकसित चेतना विश्वजीवन के रूप में संगठित एवं प्रतिष्ठित हो सकती। वर्तमान युग नैतिक उन्नयन से अधिक इसी प्रकार के बहिरंतर रूपांतर की प्रतीक्षा करता है। रूप सत्य और कर्म के मन से मेरा अभिप्राय लोकजीवन के संगठित रूप से और संस्कृति के रूप में संगठित मन से है। पिछले जीवन के प्रचलित संगठित सत्य (संस्कृति) को जिसके मूल केवल मध्ययुगीन चेतना के आकाश में हैं लोकसंग्रह की प्राणशक्ति ग्रहण करने के लिये अधोमूल बन जाना है,—फिर नीचे से ऊपर की ओर उठाना है। गीता में विश्व को ऊर्ध्वमूलमधःशाखं कहा है। वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार समस्त सत्य जीवन की विश्वभूमि में बीजरूप में संचित है, जहां से वह जगत्-जीवन में अवतरित एवं प्रस्फुटित होती है। 'युगवाणी' में, अवतरण और विकास, दोनों संचरणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को महत्त्व दिया है। इसी प्रकार का समन्वय पाठकों को 'ज्योत्स्ना' में भी मिलेगा।

संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठनरूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचारधारा भी सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग के नामों के प्रादुर्भाव, निर्माण, विकास और ह्रास के वृत्त-संचरणों पर विश्वास रखती है। पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है। भविष्य में जब मानवजीवन विद्युत् और अणुशक्ति की सबल टांगों पर प्रलय-वेग से दौड़ने लगेगा तब आज के मनुष्य के तर्कों-वादों में बिखरी हुई चेतना उसका संचालन करने म किसी तरह भी समर्थ नहीं हो सकेगी। इसलिये सामाजिक जीवन के साथ ही मनुष्य की अंतश्चेतना में भी युगांतर का होना अवश्यंभावी है।

इस युगविवर्तन में अनेक अभावात्मक एवं विरोधी शक्तियां भी काम कर रही हैं जो हमारे पिछले सामाजिक संबंधों की प्रतिक्रियाएं हैं। वर्तमान राजनीतिक आर्थिक आंदोलन इन्हीं विरोधों को दबाने एवं नवीन भाव-परिस्थितियों का निर्माण करने के लिये जन्म ले रहे हैं। एक विरोधी तत्त्व और भी है, जो इनसे सूक्ष्म है। वह है मनुष्य का रागतत्त्व, जो पिछले युगों के संस्कारों से रंजित और सीमित है। इस रागतत्त्व को अपने विकास के लिये भविष्य में अधिक ऊर्ध्व एवं व्यापक धरातल चाहिये। वर्तमान नारी-जागरण और नारी-मुक्ति के आंदोलन उस धरातल पर पहुंचने के लिये सोपानमात्र हैं। रागसंबंधी आंदोलन एक प्रकार से अभी अविकसित और पिछड़ा हुआ है। प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान उसपर केवल आर्थिक प्रकाश डालता है। मनुष्य-स्वभाव को संस्कृत बनाने के लिये रागात्मिका प्रवृत्ति का विकास होना अनिवार्य है। वह एक मूल प्रवृत्ति है। इस वृत्ति के विकास से मनुष्य अपने देवत्व के समीप पहुंच जायगा और संसार में नर-नारी-संबंधी रागात्मक मान्यताओं में प्रकारांतर हो जायगा। दोनों भौतिक विज्ञान-शक्ति से संगठित भावी लोकतंत्र में रहने योग्य संस्कार-विकसित प्राणी बन सकेंगे। तब शायद धरती की चेतना स्वर्ग के पुलिनों को छूने लगेगी। रागसंबंधी इस संचरण के लिये 'युगवाणी' में यत्र तत्र संकेत किया गया है।

—सुमित्रानंदन पंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता का अधिकारी

गीता के कुछ टीकाकार उसके कुछ श्लोकों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि वह ज्ञानमार्ग और संन्यासमार्ग का प्रतिपादक ग्रंथ है। उनकी दृष्टि से गीता में जो कर्मयोग का प्रतिपादन हुआ है वह उसका मुख्य और उच्चतम ज्ञान नहीं है अपितु गौण और मध्यम श्रेणी का है और गीता में उसका समावेश केवल इस कारण हुआ है क्योंकि उसका उपदेश क्षत्रिय अर्जुन को हुआ जो कि मध्यम श्रेणी का अधिकारी था।

निःसंदेह गीता ने कर्म के स्वरूपतः परित्याग*-रूप संन्यास को मोक्ष का एक मार्ग, उच्चकोटि का मार्ग माना है, और जिन व्यक्तियों को इसपर ही चलने की सच्ची आन्तरिक प्रेरणा हो उन्हें इसे अपनाना ही चाहिये। परंतु यदि पक्षपातरहित होकर संपूर्ण ग्रंथ पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि गीत की दृष्टि में आदर्श संन्यास बाह्य होने की अपेक्षा आन्तरिक है। इसमें आदर्श संन्यास† है द्वेष, कामना द्वंद्व, अहंकार, ममत्व का त्याग, भगवान् को अपने समस्त कर्मों का अर्पण, फल में आसक्ति का त्याग कर्म में आसक्ति का त्याग इत्यादि। यह संन्यास इस प्रकार का है कि इसके साथ साथ युद्ध जैसे कर्म भी हो सकते हैं। यदि साधक अपनी व्यक्तिगत पारिवारिक चिंता से मुक्त होकर संन्यास आश्रम को स्वीकार करके बुद्ध, शंकर, विवेकानंद के समान लोकसंग्रहार्थ, लोकहितकारी कर्म करे तो यहां संन्यास और कर्मयोग दोनों का समन्वय हो जाता है। गीता में न संन्यास आश्रम का बंधन है और न गृहस्थ आश्रम का। वह वैदिक संस्कृति का अनुसरण करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा की वनि का और भगवान् के आदेश का स्वतंत्र रूप में अनुसरण करने का आदेश देती है।

गीता में जिस कर्मयोग का दूसरे और तीसरे ध्याय में प्रतिपादन किया गया है उसे उन्होंने चौथ अअध्याय में उत्तम रहस्य कहा है। यह वह योग है जिसका अनुष्ठान विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि क्षत्रिय राजाओं के द्वारा हुआ है। इसे ही आगे अठारहवें अध्याय में 'गुह्याद् गुह्यतम' ज्ञान और 'सर्वगुह्यतम वचन' कहा है। इसमें भगवान् की शरण ग्रहण करना तथा उनके लिये भक्तिपूर्वक यज्ञ‡ करना भी अन्तर्गत है। यदि भगवान् की दृष्टि में समस्त कर्मों का परित्यागरूप संन्यास ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ होता और कर्मयोग जिसका

---

*त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।

†ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ।।
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। ९.२७
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।९.२८
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।। १८.४९

‡ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि अनुष्ठान क्षत्रिय राजाओं ने किया है, मध्यम श्रेणी का होता तो इसके लिये 'उत्तम रहस्य' तथा 'सर्व-गुह्यतम वचन' आदि शब्दों का प्रयोग संभव नहीं था।

निःसंदेह, अर्जुन क्षत्रिय है और उसे जो वैराग्य हुआ है उसमें मोह और तमोगुण का अंश है। किंतु इतने से ही उसे मध्यम श्रेणी का अधिकारी मानकर संन्यास से वंचित नहीं किया जा सकता, यदि कर्म का परित्यागरूप संन्यास सर्वगुह्यतम रहस्य हो। मनुष्य की सत्ता के अनेक अंग होते हैं। सभी अंग सभी जीवनों में समान रूप में विकसित या प्रकट नहीं होते। एक जीवन में एक ही प्रकार का चरित्र अपने पूर्व कर्मों के अनुसार भगवदिच्छा से व्यक्त होता है। किसी मनुष्य का बाहरी जीवन बाह्य दृष्टि से देखने में अच्छा प्रतीत होता है किंतु भीतरी भाग भलीभांति विकसित नहीं होता। कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं जिनका आन्तरिक भाग बहुत अधिक विकसित होता है किंतु उनके बाहरी जीवन में कुछ दोष, जो कभी कभी बहुत उग्र रूप धारण कर सकते हैं, बने रहते हैं और उनके भीतरी भाग को ढके रहते हैं। ऐसी स्थिति में जीवन की कोई आकस्मिक घटना या किसी महात्मा या शास्त्र का आकस्मिक उपदेश या प्रभाव निमित्त बनकर उस आवरण को विदीर्ण कर देता है और उस व्यक्ति का सच्चा भीतरी स्वरूप जगमगाने लगता है। ध्रुव, वाल्मीकि, भर्तृहरि, तुलसीदासादि महात्मा इसी कोटि के व्यक्ति थे। ध्रुव के वैराग्य में उसके पिता और सौतेली माता द्वारा अपमान निमित्त था। वाल्मीकि लुटेरे थे और एक आकस्मिक घटना से प्रभावित होकर महर्षि बन गये। भर्तृहरि स्त्री के प्रेम में दीवाने थे और उसके चरित्र में त्रुटि पाकर विरक्त हुए। तुलसीदास स्त्रीलंपट थे और उसके द्वारा तिरस्कार से विरक्त हुए। इसी प्रकार अर्जुन के विषय में भी उसका बंधुप्रेम या मोह से मिला वैराग्य उसके संन्यास का कारण हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अर्जुन देवराज इन्द्र का अंश माना जाता है। दिव्य धनुष, दिव्य तरकश, दिव्य रथ, दिव्य पताका उसके पास हैं जिन्हें देवताओं ने अपने दिव्य कर्म कराने के लिये प्रसाद-रूप में उसे दिया हैं। दैवी संपत् में उसका जन्म हुआ है। वह नर नारायण इन दो अवतारों में नर का अवतार माना जाता है। इसे कहीं कहीं नर-ऋषि भी कहा गया है। स्वयं षोडशकलापूर्ण भगवान् उसके सारथि हैं और वे उसे अपना अत्यंत प्रिय सखा और भक्त मानते हैं। उनके लिये अपने अत्यंत प्रिय सखा और भक्त को कुछ भी अदेय नहीं है। इसी कारण उन्होंने उसे दिव्य दृष्टि प्रदान करके अपने उस दिव्य स्वरूप का दर्शन कराया है जो देवताओं के लिये भी दुर्लभ है और जो सबसे पहले (संभवतः पृथ्वी पर) अर्जुन को ही दिखलाया गया है (यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्)। ऐसी स्थिति में यदि भगवान् की दृष्टि में कर्मयोग से कर्मसंन्यास ही श्रेष्ठ और सर्वगुह्यतम रहस्य होता तो प्रारंभ से ही अपनी दिव्य दृष्टि के प्रभाव से उसके तम और मोह को नष्ट करके उसके वैराग्य को शुद्ध बनाकर उसे सर्वकर्मसंन्यास का ही उपदेश देना चाहिये था। अथवा उपदेश के अंत में जिस समय उसके प्रसाद से उसका मोह‡ नष्ट हो जाता है तो उस समय यह कह देना चाहिये था कि "अभी तक जो मैंने तुम्हें युद्ध करने का, कर्मयोग का उपदेश दिया है वह इस कारण कि तुममें मोह का अंश था। अब चूंकि तुम्हारा मोह नष्ट हो गया है अतः मैं तुम्हें सर्व-कर्म-परित्यागरूप संन्यास का ही आदेश देता हूं, कारण यही एकमात्र सर्वगुह्यतम रहस्य है।" किंतु वे ऐसा कुछ भी नहीं करते।

---

‡नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपितु इसके विपरीत कर्मयोग का ही आदेश देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कर्मयोग का अर्जुन को उपदेश दिया गया है वही गीता का सर्वगुह्यतम रहस्य है और अर्जुन उसका उत्तम अधिकारी है और इसका सच्चे संन्यास से विरोध नहीं है अपितु समन्वय है।

अर्जुन अपने समय के महापुरुषों में सभी गुणों में सर्वश्रेष्ठ हो यह बात नहीं है। अध्यात्मज्ञान में व्यास उससे श्रेष्ठ थे, अपने युग के लौकिक ज्ञान में भीष्मपितामह श्रेष्ठ थे, ज्ञानपिपासा में धृतराष्ट्र और विदुर श्रेष्ठ थे, साधुता और सात्त्विक गुण में धर्मपुत्र युधिष्ठिर श्रेष्ठ थे, भक्ति में उद्धव और अक्रूर श्रेष्ठ थे तथा स्वभावगत शूरता और पराक्रम में बड़े भाई महारथी कर्ण श्रेष्ठ थे। किंतु फिर भी उन्होंने अर्जुन को ही गाण्डीव आदि अनेक दिव्य अस्त्र प्रदान करके इस दिव्य विजय का पात्र चुना और उसके ही गले में जयमाला डाली और उसे ही अपने उत्तम रहस्य, सर्वगुह्यतम ज्ञान का एकमात्र पात्र चुना। यहां प्रश्न होता है कि क्या यह भगवान् का या महाभारत के लेखक महर्षि व्यास का पक्षपात था अथवा अर्जुन में ही कोई ऐसी विशेषता थी जिसके कारण उसे इस महान् कार्य का पात्र चुना गया। इस प्रश्न के उतर-स्वरूप एक दूसरा प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि इस भीषण नर-हत्या के समय भीष्म, युधिष्ठिर, कर्ण आदि को क्यों नहीं विषाद या वैराग्य हुआ, अर्जुन को ही क्यों हुआ ? इन सब प्रश्नों का उत्तर यह है कि उपर्युक्त व्यक्ति एक एक गुण में विशेषता प्राप्त किये हुए थे किंतु यदि उन सबके समूह को एकत्र खोजा जाय तो उन सबकी जितनी अधिक मात्रा अर्जुन में थी इतनी अन्यत्र नहीं थी। इसके अतिरिक्त अर्जुन में एक और भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गुण था, वह था, भगवान् में पूर्ण श्रद्धा और उनके प्रति आत्म-समर्पण। श्रीअरविन्द ने बतलाया है कि जो व्यक्ति भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए अपने शुभ, अशुभ, मंगल, असंगल, पाप, पुण्य का संपूर्ण भार उनके ही ऊपर डाल देते हैं, उनसे कुछ भी न मांगकर जो कुछ भी उनसे प्रसाद-रूप में मिलता है उसे सहर्ष स्वीकार करके उनके कर्म में, उनकी सेवा में उसका उपयोग करते हैं ऐसे श्रद्धावान्, निरहंकार कर्मयोगी भगवान् पुरुषोत्तम के प्रियतम सखा और उनकी शक्ति के उत्तम पात्र होते हैं और उनके ही द्वारा जगत् के महान् कार्य उत्तम रीति से संपन्न होते हैं। अर्जुन ऐसा करने के लिये सर्वदा प्रयत्नशील था। उसका यही विशेष गुण श्रीकृष्ण के प्रेम और प्रसाद का कारण था। गीता के अंत में उपसंहार करते समय इस शरणागतिरूप आत्म-समर्पण को ही गीता का सर्व-गुह्यतम रहस्य माना गया है। श्रीअरविन्द के योग का भी यही आधार है।

—केशवदेव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले वर्षों की प्रार्थनाएं

अदिति के गतांक में हमने इस वर्ष की प्रार्थना के अर्थ और प्रेरणा को बताने का यत्न किया था। उसी संबंध में हमने यह भी कहा था कि श्रीअरविन्द आश्रम के जीवन में नए वर्ष की प्रार्थना का एक विशेष स्थान है। सन् १९३३ से लेकर श्री माताजी नियमपूर्वक ही नए वर्ष के लिये एक प्रार्थना या प्रेरणा देती रही हैं जो व्यक्ति तथा समाज के लियें आध्यात्मिक पथप्रदर्शन की वस्तु रही है। साधक लोग सामान्य रूप से उसे अपनी साधना का सूत्र बनाकर वर्षभर उससे लाभ उठाते रहे हैं।

गतांक में हमने केवल इस वर्ष की प्रार्थना की ही चर्चा की थी। परंतु ये प्रार्थनाएं आपस में ऐतिहासिक विकास का संबंध रखती हैं। और इन्हें इस रूप में विचारने से जागतिक विकास में एक नई दृष्टि प्राप्त होती है। इसी उद्देश्य से हम यहां पिछले वर्षों की प्रार्थनाओं का एक क्रमपूर्वक निरूपण देते हैं, जो जहां अपने आपमें ऐतिहासिक विकास को उपस्थित करेगा वहां इस वर्ष की प्रार्थना के लिये एक विस्तृत भूमिका भी होगा।

ये प्रार्थनाएं आध्यात्मिक अनुभूतियां तथा पथ-प्रदर्शन हैं और विशेष रूप से आध्यात्मिक जीवन तथा उसके विकास के लिये ही अभिप्रेत हैं। परंतु साधारणतः हम आध्यात्मिक जीवन और विकास के रूप-स्वरूप के लिये कोई स्पष्ट भावना ही नहीं रखते। वास्तव में जैसे शारीरिक तथा मानसिक विकास की मर्यादाएं हैं वैसे ही इसका भी निजी धर्म है। यह नैतिक और धार्मिक जीवन दोनों से संबंध रखते हुए भी भिन्न है। यह व्यक्ति तथा समाज का समान रूप से केंद्रीय तथ्य है जिसके विकास से शरीर, प्राण और मन फलते-फूलते हैं। अपने शुद्ध रूप में यह न विचार है न भावनाएं बल्कि एक प्रकाशमय अन्तश्चेतना जो आवश्यकतानुसार ऊंचे से ऊंचे विचारों, भावनाओं और प्रेरणाओं को जन्म देती है। इसी अन्तश्चेतना को व्यष्टि तथा समष्टि में, प्रेरित करना, विकसित करना इन प्रार्थनाओं का ध्येय है। अब हम १९३३ की पहली प्रार्थना से शुरू करके एक एक पर बारी बारी से विचार करेंगे।

१९३३

प्रभु ! यह नए वर्ष का जन्म हमारी चेतना का भी नया जन्म हो।

अपने व्यतीत को सुदूर पीछे छोड़ते हुए हम उज्ज्वल भविष्य की ओर तेजी से आगे बढ़ें।

यहां नव चेतना के जन्म की अभीप्सा है। अपने व्यतीत; अपने चिंतन, भावना और कर्म की आदतों से जो मोह और ममत्व होता है उसके नितांत त्याग और वेगशाली विकास के लियें उत्कट इच्छा।

यह मानों उस वर्ष की आश्रम की सामान्य साधना की, श्रीअरविन्द और माताजी से निर्धारित व्यापक आवश्यकता और गति थी और मानों व्यक्तिगत साधक को आवाहन था कि वह इस व्यापक गति के साथ समस्वर भाव में अपने अंदर उसी अभीप्सा को जाग्रत् करके सामान्य विकास का भागी बने तथा अपने सहयोग से उसे परिवर्द्धित करे।

१९३४

हे प्रभु ! वर्ष समाप्त होता है और हम कृतज्ञता में तेरे सामने नतमस्तक होते हैं।

प्रभु ! नए वर्ष का जन्म होता है और हमारी प्रार्थना तेरी ओर उठती है।

ऐसा हो कि यह हमारे लिये भी नूतन जीवन की उषा बने।

यहां गत वर्ष की अभीप्सा ही आगे चलती हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीत होती है, नया वर्ष हमारे लिये नूतन जीवन की उषा बने

१९३५

हे प्रभु! हममें जो मिथ्या है, जो बनावटी है, जो ढोंगपूर्ण तथा नकलरूप है उन सबको हम इस संध्या के समय तुझे समर्पित करते हैं।

इस जाते हुए वर्ष के साथ ये चले जायं। केवल वही जो पूर्णतया सत्य है, निर्मल है, सरल तथा पवित्र है इस आरंभ होनेवाले वर्ष में रहे।

इस वर्ष 'मिथ्या' 'बनावटी' 'ढोंगपूर्ण' और 'नकलरूप' विशेष खटक रहे हैं। हम उन्हें एक नए उत्साह से समर्पित करते हैं। हम इच्छा करते हैं कि गए वर्ष के साथ ये भी चले जायं और उदीयमान वर्ष में हमें केवल जो 'पूर्णतया सत्य' 'निर्मल' 'सरल' और 'पवित्र' है वही प्राप्त हो।

१९३६

हे प्रभु! यह वर्ष तेरी विजय का वर्ष हो।

हम अभीप्सा करते हैं ऐसी पूर्ण अनुकारिता तथा आज्ञावर्त्तिता के लिये जिससे हम उसके पात्र बनें।

यहां प्रत्यक्ष रूप से जागतिक विकास और उसमें सतत काम करनेवाली भागवत इच्छा दृष्टि में है; मानों भागवत इच्छा जागतिक विकास में एक विशेष प्रतिरोध, एक विशेष अंधता और अहंकार को लक्षित किये हुए काम कर रही थी।

हम यहां भागवत विजय के लिये इच्छा जाग्रत् करते हैं और अनुकारिता तथा आज्ञावर्त्तिता द्वारा उस विजय के पात्र बनने के अभीप्सु होते हैं।

१९३७

विघ्नबाधाविनाशक प्रभु! तुम धन्य हो!

ऐसी कृपा करो कि हमारे अंदर कुछ भी तेरे कार्य में बाधक न हो।

इस प्रार्थना और गत वर्ष की में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। गत वर्ष भगवान् जो किसी विशेष प्रतिरोध पर विजयी हो रहे थे, अब पूरे विघ्नबाधाविनाशक बन गये हैं और हम 'अनुकारिता' और 'आज्ञावर्त्तिता' को इस हद तक ले जाना चाहते हैं कि हमारे अंदर कुछ भी उनके कार्य में बाधक न हो।

१९३८

हे प्रभु! ऐसी कृपा करो कि हममें सब कुछ तुम्हारी ध्येय-सिद्धि के लिये तैयार हो जाय। नए वर्ष के द्वार पर खड़े होकर हम तुझे नमस्कार करते हैं, ओ परम साधक!

यह पिछले दो वर्षों के क्रम को ही एक कदम और आगे ले जाती प्रतीत होती है, यद्यपि दृष्टि का क्षितिज बदला हुआ है। भविष्य के लिये तैयारी ही इसकी विशेष प्रेरणा है।

१९३९

यह वर्ष शुद्धि व पवित्रीकरण का वर्ष होगा।

हे प्रभु! वे सब जो दिव्य कार्य में भाग ले रहे हैं तुमसे विनती करते हैं कि एक परम पवित्रीकरण द्वारा अहंकार के आधिपत्य से मुक्त हो जायं।

यहां तैयारी के ही काम में कुछ गंभीरता आ जाती है। ब्योरे में विशेष रूप से शुद्धि और पवित्रीकरण की प्रेरणा है, अहंकार के आधिपत्य से अधिक मात्रा में मुक्त होकर दिव्य कार्य में भाग लेनेवाले अधिक अच्छी प्रकार से उस कार्य के लिये अपने आपको तैयार करना चाहते हैं।

यहां हमें स्मरण कर लेना होगा कि दूसरा महायुद्ध सितम्बर '३९ में शुरू हुआ था। सारे युद्ध और संघर्ष गंभीर आध्यात्मिक अर्थ रखते हों यह आवश्यक नहीं। सामान्य मानसिक और प्राणिक रागद्वेषों से भी युद्ध छिड़ सकते हैं। परंतु गत युद्ध अवश्य ही सनातन वैश्व देवासुर-संग्राम का एक विकट संकट था। यह विश्वव्यापी था, इसने सामान्य रूप में मानव की पूर्व परंपराओं को तोड़ा और भावी आदर्शों को गंभीर शंका में डाल दिया।

सन् '३८ और '३९ की प्रार्थनाएं शायद इसी के लिये तैयारी का आदेश देती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९४०

एक निस्तब्धता और प्रतीक्षा का वर्ष . . .

हे दयालु ! हम अपना सारा भरोसा तेरी कृपा पर ही रखें।

युद्ध शुरू होकर भयंकर वेग से बढ़ रहा था और हिटलर का आतंक छाया हुआ था। उग्र अहंकार विकराल रूप धारण कर रहा था। वह डनकर्क की हार का समय था। हिटलर योरुप में अपने आपको सर्वोच्च शक्ति मान रहा था और ५ जून '४० को उसने गर्वपूर्ण भाषण में धमकी दी कि मैं अपने विरोधियों का सर्वनाश कर दूंगा। माताजी ने १ली जनवरी को ही वह वर्ष निस्तब्धता तथा प्रतीक्षा का उद्घोषित किया और प्रेरणा दी कि हमारा सारा भरोसा सक्रिय रूप में प्रभु की कृपा पर ही होना चाहिये।

१९४१

जगत् आज विरोधी और आसुरी शक्तियों के आक्रमण से संकट में पड़ा हुआ आध्यात्मिक जीवन के लिये युद्ध कर रहा है।

प्रभु ! हम तेरे बहादुर योद्धा बनें जिससे पृथ्वी पर तेरी महिमा प्रकट हो।

अभी हिटलर का प्रभाव खूब बढ़ौती पर था। जून के महीने में जर्मनी ने रूस पर भारी धावा बोल दिया और दिसम्बर के शुरू में जापान ने भी जर्मन जीत से लालायित होकर इंग्लैंड और अमरीका के विपरीत युद्ध छेड़ दिया। इटली तो सन् ४० में डनकर्क के बाद ही जर्मनी के साथ हो लिया था।

यहां ४१ की प्रार्थना में गत वर्ष की निस्तब्धता और प्रतीक्षा के स्थान पर युद्ध का परिणाम काफी आशा के भाव में स्पष्ट हो जाता है। जगत् आध्यात्मिक जीवन के लिये संघर्ष कर रहा है। हम अभीप्सा करते हैं, अपने चित्त की पूर्ण शक्ति चाहते हैं कि हम भागवत अभिव्यक्ति के बहादुर योद्धा बनें।

१९४२

धन्य है तू ! ओ सर्वशत्रुविजयी भगवान् !

हमें शक्ति प्रदान कर जिससे हम तितिक्षाशील और तेरी विजय के भागी बन सकें।

तब जर्मन सेनाएं स्टैलिनग्राड में थीं और जापानियों ने बढ़ते बढ़ते बंगाल की खाड़ी में ऐंडेमान द्वीपों पर कब्जा कर लिया था। उत्तरीय अफ्रीका में रोमेल की सेना आधिपत्य जमाये हुए थी।

यहां प्रार्थना में हम भगवान् को सर्वशत्रुविजयी के रूप में अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं और उसकी विजय के भागी बनने के लिये तितिक्षा की याचना करते हैं। उस विजय को गंभीरता से हम सहन कर सकें। उसके अहंकार में लिप्त होकर उन्मत्त न हो जायं।

१९४३

वह समय आ पहुंचा है जब कि हमें निर्णय कर लेना होगा अपना मार्ग, बिल्कुल मौलिक और अंतिम।

हे प्रभु ! हमें शक्ति दे कि हम असत्य को त्याग कर तेरे सत्य में उदय होवें, शुद्ध और तेरी विजय के योग्य बनकर।

इस वर्ष में युद्ध का पासा पलटना शुरू हो गया था। इटली ने आत्म-समर्पण कर दिया था। अमरीका योरुपीय युद्ध में आ पहुंचा था और बर्लिन रेडियो ने स्वीकार किया था कि दक्षिण रूस में स्थिति चिंताजनक है।

यहां प्रार्थना में विशेष चिंता विजय की है। हम असत्य को त्यागें, शुद्ध और तेरी विजय के योग्य बनकर सत्य में उदय होवें।

परंतु इससे पहले हमें अंतिम रूप में निर्णय कर लेना होगा कि हम पूर्ण रूप से देवपक्ष के लिये ही हैं। आन्तरिक दुविधा, कुछ सहानुभूति देव के लिये और कुछ असुर के लिये, अब और नहीं चलनी चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९४४

प्रभु ! मानव तुझसे विनती करता है कि तू उसे फिर फिर उन्हीं मूर्खताओं में जा पड़ने से बचा।

ऐसी कृपा कर कि जो भूलें पहचान में आ चुकी हैं वे फिर नए सिरे से न दोहराई जायं।

अंत में, यह प्रदान कर कि मानवजाति अपने घोषित आदर्शों को कर्म में ठीक और सच्चे तौर पर प्रकट करे।

जागतिक स्थिति इस समय यह थी कि जर्मन और जापानी सेनाएं पीछे ही पीछे हटती जा रही थीं। जून में योरुपीय स्थल पर मित्रपक्ष की सेनाएं उतर आई थीं और वर्ष के अंत में लुक्समबर्ग तक पहुंच गई थीं। उधर रूस की फौजें पूर्वी प्रशिया में घुस आई थीं। परंतु अभी अंतिम हार दृष्टि में न थी और यह कहना संभव न था कि युद्ध कब तक और चलता रहेगा।

परंतु प्रार्थना के भाव में युद्ध समाप्त सा हो चुका है। यहां मानव कृत को स्मरण कर मानों प्रार्थना करता है कि वह बार बार उन्हीं मूर्खताओं को न दोहराय। वह कुछ वास्तविक विकास साधित करे, अपने तम और मोह पर अधिकार प्राप्त करे। मित्र-पक्ष के नेताओं ने युद्ध के संकट में जो मानव-आदर्श घोषित किये थे उन्हें वे कर्म में ठीक और सच्चे तौर पर प्रकट करें। इसी पर ही युद्धोत्तर की शांति निर्भर करती थी। वही यहां विशेष अभीप्सा का विषय है।

१९४५

पृथ्वी तभी स्थायी और सजीव शांति का सुख-लाभ कर सकेगी जब कि जातियां अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी सत्यपरायण होना सीख लेंगी।

हे प्रभु ! हम उसी पूर्ण सत्यपरायणता के लिये अभीप्सा करते हैं।

२ मई को जर्मन सेनाओं ने आत्म-समर्पण किया और योरुपीय महायुद्ध समाप्त हुआ। परंतु युद्ध का अंत वास्तव में १५ अगस्त को हुआ जब पूर्व में जापान ने भी आत्म-समर्पण किया।

यहां १ली जनवरी को ही प्रार्थना थी शांति अधिक अच्छे और स्थिर रूप में संगठित करने की और उसके लिये अभीप्सा यह थी कि जातियां अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी सत्यपरायण होना सीखें।

१९४६

हे प्रभु ! हमें तेरी ही शांति चाहिये न कि झूठी स्वांगरूप शांति; तेरी ही स्वतंत्रता चाहिये न कि झूठी स्वांगरूप स्वतंत्रता; तेरी ही एकता चाहिये न कि झूठी स्वांगरूप एकता। वास्तव में केवल तेरी शांति, तेरी स्वतंत्रता, तेरी एकता ही अंधे उग्र-बल, ढोंग तथा असत्य पर—जिनका सिक्का अभी पृथ्वी पर जमा हुआ है—सफल हो सकती है।

प्रभु ! ऐसी कृपा कर कि जिन्होंने तेरी विजय के लिये इतने साहस से युद्ध किया है और कष्ट उठाये हैं वे इस विजय के शुद्ध तथा सच्चे परिणामों को जगत् में चरितार्थ होते देख पावें।

इस प्रार्थना से प्रकट होता है कि शांति शायद वैसी नहीं होगी जैसी कि होनी चाहिये थी। मित्र-पक्ष युद्ध को जीत लेने के बाद अपनी युद्धसमय की भावनाओं को भूल जायंगे। इसलिये अभीप्सा है प्रभु की सच्ची शांति के लिये, प्रभु की सच्ची स्वतंत्रता के लिये, प्रभु की सच्ची एकता के लिये और प्रार्थना है कि आसुरिक शक्तियों पर इस कष्ट से प्राप्त की हुई महाविजय के वास्तविक फल संसार को प्राप्त हों।

१९४७

यह प्रार्थना नहीं, वरन् एक प्रोत्साहन है।

वह प्रोत्साहन, एक टिप्पणी सहित, यह है :—

"जिस घड़ी सारी स्थिति अधिकाधिक बिगड़ती दिखाई दे ठीक तभी हमें महती श्रद्धा का परिचय देना चाहिये तथा यह भी जानना चाहिये कि भग-वत्कृपा कभी हमारा साथ छोड़ेगी नहीं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उषा से पहले की घड़ियां सदा ही घोर अंधेरी होती हैं।

स्वतंत्रता आने से ठीक पहले की दासता सबसे अधिक दुःखदायी होती है।

परंतु श्रद्धायुक्त हृदय में आशा की एक अमर ज्योति प्रज्वलित रहती है जो निराशा को जरा भी जगह नहीं देती।

भारतीय स्वतंत्रता श्रीअरविन्द और माताजी की दृष्टि में मानव के सामान्य आध्यात्मिक उत्थान के लिये प्रधान साधन रही है। इस समय भारतीय स्वाधीनता क्रियात्मक प्रश्न बनी हुई थी। केबिनिट मिशन भारत में आ चुका था और सत्ता हस्तान्तरित करने की बातचीत चल रही थी। परंतु स्थिति अत्यंत उलझी हुई थी। आपसी विरोध विकट रूप में उपस्थित थे।

यह प्रार्थना उसी स्थिति से संबंध रखती है। अपनी गंभीर दृष्टि से वस्तुओं को देखते हुए माताजी इस वर्ष प्रोत्साहन देती हैं कि उषा से पहले की घड़ियां सदा अधिक अंधेरी होती हैं, स्वतंत्रता आने से पहले की दासता विशेष दुःखदायी होती है। परंतु श्रद्धा के महाकर्म द्वारा हमें यह जानना चाहिये कि भागवत कृपा कभी धोखा नहीं देगी।

१९४८

बढ़ते चलो, निरंतर बढ़ते चलो!
सुरंग के अंत में है ज्योति ..
युद्ध के अंत में है विजय!

संसार में शांति संगठित करने का काम सफल नहीं हो रहा था और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति फिर उलझ चुकी थी। युद्धकालीन मित्रराष्ट्र अब आपसी वैर-विरोध में पड़ते जा रहे थे। एक तृतीय महा-युद्ध की आशंका पैदा होती जाती थी। वास्तव में रूस का पश्चिमी प्रजातंत्रों के साथ युद्ध में सहयोग हुआ भी इसी लिये था क्योंकि हिटलर उसका भी शत्रु बन गया था। उस सहयोग से अवश्य ही लाभ हुआ क्योंकि हिटलर को हराने में सहायता मिली। पर रूस के आदर्श और कार्यशैली एक प्रतिक्रिया का रूप हैं। उस रूप में ही उसकी सार्थकता है, भावात्मक स्वतंत्र आदर्श के रूप में नहीं। मानव-जाति के आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अब रूस से निबंटना ही विकट प्रश्न बन रहा था और युद्ध का थका हुआ मानव नए युद्ध की आशंका से भय-भीत हो रहा था।

माताजी का आदेश है, हमें सदा आगे ही आगे बढ़े चलना होगा। थकने और निराश होने की यहां गुंजाइश नहीं। यह सुरंग का अंधेरा है, देखो सिरे पर प्रकाश है। संघर्ष के बाद ही विजय होती है। यहां आशा और संघर्ष के भाव को प्रोत्साहन है।

बर्टन्ड रसल (Bertrand Russel) एक जगत्-विख्यात विद्वान् तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के मर्मज्ञ हैं। १९४८ में एक लेख में उन्होंने उस समय की जगत् की स्थिति तथा तीसरे महायुद्ध की सं-भावना पर वैज्ञानिक शैली से विचार किया था। उसका निष्कर्ष उन्होंने इन शब्दों में रखा था:—

"भविष्य बिल्कुल भी अंधेरा नहीं, एक अंधेरी सुरंग से जरूर गुजरकर जाना है, परंतु उसके पार दिन का प्रकाश दिखाई पड़ता है।" इसके अतिरिक्त उनकी सलाह थी कि पश्चिमी प्रजातंत्रों को संघर्ष के लिये तैयार रहना चाहिये, इसी से रूस कुछ मर्यादा में रह सकेगा।

यह विचार १ली जनवरी की प्रार्थना का कैसा अनुरूप बौद्धिक रूपांतर है।

सन् ३३ से चल हम ४८ तक आ गये। एक एक वर्ष की प्रार्थना तथा जागतिक इतिहास को देख गये। इनपर अधिक विचार करने से व्यक्ति को अर्वाचीन महाघटनापूर्ण मानव युग की आन्तरिक क्रिया में गंभीर दृष्टि प्राप्त हो सकती है जिससे वह वैयक्तिक तथा सामूहिक हित साधन में विशेष सफल हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे जीवन के मधुवन में

मेरे जीवन के मधुवन में
हे माधव तुम आओ।
मेरी आशा के कानन में
चिर बसंत बन गाओ।

खुलें हृदय के बंद कमल दल
पा रवि कर के चुम्बन !

सूखी सूखी तपती डालें
करें हर्ष से नर्तन।
मधु समीर से दशों दिशाएं
आंदोलित कर जाओ।

कूक उठे अन्तर का पिक फिर
पीकर मलय समीरण।

नाच उठे मेरा मयूर मन
तुझे देख करुणा घन।
फिर फिर होवे तन मन पुलकित
वह संगीत सुनाओ।

नव सुषमा से उर हो भासित
पा दिश-दिश प्रिय दर्शन।

अभिनंदित हो दग्ध प्राण मम
पा तेरा आलिंगन।
भर जावे मरु का उर मधु से
वह करुणा बरसाओ।

—नारायणप्रसाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन-प्रतीक्षा

देव ! तुम्हारे दर्शन को मेरा मन इच्छुक,
द्वार तुम्हारे आने को है बनकर भिक्षुक।

स्वर्ण-रूप के एक किरण का पाकर संबल,
चाह रहा है वह खिल जाना बनकर शतदल।

एक बार तुम मेरे उर-आंगन में आकर,
घन-अज्ञान-तमिस्त्रा को पलभर में लो हर।

हे भविष्य के स्त्रष्टा ! कल-कंठों के गायन !
दृष्टि तुम्हारी कर दे मेरे मन को पावन।

नहीं जानता कब मेरे नयनों में आकर,
झूलेगी छवि, अपनी दिव्य प्रभा फैलाकर।

एक बार भी चरण-पद्म का पा शुभ दर्शन,
चाह रहा है उर कर देना आत्म-समर्पण !

—कृष्णराज गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धांजलि

(सुप्रसिद्ध योगी श्रीअरविन्दजी के १५ अगस्त को
७८वें वर्ष में प्रवेश पर समर्पित)

जन्मदिन अरविन्द जी का,
हम मनाते हर्ष हैं।
उच्च उनके ध्येय रखते,
हम विमल आदर्श हैं॥

प्राप्त करके ज्ञान उत्तम
शांत वे हैं बन चुके।
याद करते हम अतुल
संदेश का उत्कर्ष हैं॥

योग साधन शक्ति का
आनंद का साधन परम।
यह बताते स्वानुभव का
वे सरल निष्कर्ष हैं॥

पूर्ण अर्पित विश्वमाता
को करो सब कार्य तुम।
बोध दे उद्दीप्त करते
वे विमल सुविमर्श हैं॥

दग्ध वे हैं कर चुके
योगाग्नि से सब पाप को।
अब न उनमें शोक भय
उद्वेग हर्ष अमर्ष हैं॥

बन रहे वे विश्व के गुरु
शांति के पथ को दिखा।
हम प्रणाम करें विनय से
प्रकट करते हर्ष हैं॥

सृष्टि करना दिव्य जग की
लक्ष्य यह उनका बना।
पूर्ण हों जननी कृपा से
जो रखे आदर्श हैं॥

विनीत समर्पक
—धर्मदेव विद्यावाचस्पति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय—

विचार और अभीप्सा

आध्यात्मिक भाव का नवोदय

गत अगस्त का, कलकत्ते का "श्रीअरविंद-आविर्भाव उत्सव" एक प्रबल प्रतीक था। कलकत्ते की तथा सामान्य रूप में बंगाल की जनता में सहज ही श्रीअरविंद के लिये भावना जाग्रत् हुई और फिर सारे देश के वातावरण में उनके आध्यात्मिक आदर्श और उद्देश्य के लिये एक सार्वजनिक प्रगति उठती और बल पकड़ती दिखायी देने लगी। श्रीअरविंद एक समय राष्ट्रीय नेता थे, अब लगभग ४० वर्ष से योगी और आध्यात्मिक व्यक्तित्व हैं। राजनीति के क्षेत्र में विभिन्न अधिकारों और आर्थिक लाभों के लिये प्रगतियां नित्य ही उठती और विलीन होती रहती हैं। परंतु करीब ४० वर्ष के बाद जातीय रूप में श्रीअरविंद का प्रबल स्मरण हो उठना, अवश्य ही, एक प्रबल प्रतीक मानना होगा, एक विशेष अभिव्यक्ति स्वीकार करना होगा। और ये अभिव्यक्ति तथा प्रतीक किसी ऐसी गंभीर प्रवृत्ति तथा जिज्ञासा के ही हो सकते हैं जिसके श्रीअरविंद स्वयं मूर्तिमान् प्रतीक और अभिव्यक्ति हैं। यह सहज उद्भूत श्री-अरविंद-स्मृति मानो एक सार्वजनिक मांग थी उस संतोष, आनंद और ज्ञान की जो उनका आध्यात्मिक व्यक्तित्व प्रदान करने के लिये विशेष समर्थ है।

कलकत्ते का श्रीअरविंद-आवाहन शीघ्र ही देश के अन्य प्रांतों में भी प्रतिध्वनित होने लगा। जहां कलकत्ते में सप्ताह भर बड़े समारोह के साथ श्रीअरविंद के प्रति हृदय की भावनाएं अर्पित की गयीं; देशके अनेक गवर्नरों, प्रधान मंत्रियों तथा अन्य प्रतिष्ठित जनों ने अपनी-अपनी श्रद्धांजलियां भेजीं और श्रीअरविंद के योग, दर्शन, जीवन-विकास और निर्माण की चर्चाएं और व्याख्याएं हुईं, वहां देहली, बम्बई, मद्रास, इलाहाबाद, कानपुर पन्ना आदि नगरों में भी १५ अगस्त के दिन जन्मावसर मनाने के लिये सार्वजनिक सभाएं अथवा ध्यान और चिंतन हुए। श्रीअरविंद के आदर्श और उद्देश्य के लिये यह देशव्यापी प्रत्युत्तर जो कि एकदम ही प्रकाश में आया, अवश्य ही आश्चर्यजनक चीज था। यह संभवतः जातीय चेतना में आध्यात्मिक भाव का नवोदय था। और जिस परिचित-सी भावना के साथ यह भाव उन लोगों में भी प्रकट हुआ, जिनका श्रीअरविंद-साहित्य अथवा आध्यात्मिक जिज्ञासा से कभी सम्पर्क नहीं रहा था इससे पता चलता है कि यह श्रीअरविंद-स्मरण और आध्यात्मिक भाव कितना भी आकस्मिक क्यों न दिखायी दिया हो था शायद एक लंबी तैयारी का फल जो अप्रकट रूप में हमारी जातीय चेतना में परिपक्व होता आ रहा था। इसमें संदेह नहीं कि जैसे वैयक्तिक मन में वैसे ही जातीय मन में भी दस गतियां-प्रगतियां उच्छृङ्खल रूप में भी पैदा होती रहती हैं। परंतु उच्छृङ्खल गतियों के सामान्य प्रेरक यहां मौजूद न थे और समारोह सार्वजनिक होते हुए भी एक असाधारण गंभीरता से व्याप्त था। इस अवसर पर भेजे हुए संदेश तथा सामान्य रूप से व्यक्त किये गये भाव अपने आप में एक रोचक अध्ययन हैं। डा० के० ना० काटजू ने समारोह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उद्घाटन करते हुए कहा, "श्रीअरविंद अपनी आध्यात्मिक शिक्षा के कारण सदा के लिये हमारे साथ रहेंगे।" जसटिस चैटरजी ने प्रधान पद से श्रीअरविंद को ऐसे "दिव्य पुरुष जो अमरत्व का बीज बो रहे हैं" के रूप में स्मरण किया और कहा कि "श्रीअरविंद हमें शिक्षा देते हैं कि भारत अपनी वास्तविक भवितव्यता को कभी पूरा नहीं कर सकता जब तक कि हम अपनी आंतरिक दिव्य प्रेरणा का पालन न करें।" अन्य श्रद्धांजलियों और संदेशों में भी जहां श्रीअरविंद के राष्ट्रीय काम को स्मरण किया गया वहां विशेष रूप से उनके आध्यात्मिक स्वरूप और कार्य को ही कल्पित किया गया और उसी के लिये अपनी भावना प्रकट की गयी।

भारत के बाहर अमरीका में भी यह समारोह प्रतिध्वनित हुआ। न्यूयार्क में श्रीमती पर्लबक की अध्यक्षता में श्रीअरविंद जन्मदिन मनाया गया और उसी अवसर के लिये श्रीअरविंद ने अपना एक विशेष सन्देश दिया।

परंतु यह आध्यात्मिक भाव का नवोदय, चाहे जितना और जैसा भी दिखायी दिया हो, था एक अंकुर मात्र ही, जिसे धीर गति में विकसित होकर अभी मानव चेतना में दृढ़ स्थान प्राप्त करना होगा। इसे जगत् की अनेक विरोधी प्रवृत्तियों से लोहा लेना होगा और जीवन की रंगभूमि में अपनी अपूर्व सार्थकता सिद्ध करके दिखलानी होगी। श्रीअरविंद का आध्यात्मिक भाव संघर्ष और विजय के लिय प्रेरित और प्रोत्साहित करता है। यह अहंकार मात्र को चुनौती देता है और सामान्य जीवन का दिव्यीकरण चाहता है। यदि गत अगस्त का हमारा श्रीअरविंद-स्मरण इसी प्रेरणा का प्रतीक था तो यह, प्रत्यक्ष ही, हमारे जातीय विकास में एक महत्वपूर्ण कदम था। इस कदम के उठाने में जो अगुआ थे उनका सौभाग्य, निश्चय ही, विशेष है। साथ में उनका उत्तरदायित्व भी बहुत बड़ा है। यह नया आध्यात्मिक भाव हमें एक गंभीर आसन से वस्तुओं को देखना सिखाता है, उथले दृष्टिकोण के अनन्त विरोधों की निरर्थकता दर्शाता है और व्यक्ति तथा समष्टि में यथार्थ एकता और समता का दर्शन कराता है। ऐसे भाव के सेवक जरूर ही सच्चे जिज्ञासु और निरहंकार होने चाहियें।

अदिति का आठवां वर्ष

इस अंक के साथ श्रीअरविंद-सेवा के हमारे सात वर्ष पूरे होते हैं और हम सोत्साह नये वर्ष की ओर अधिक विस्तृत और गंभीर कार्य के लिये दृष्टि दौड़ाते हैं। गत वर्ष में अपने आध्यात्मिक कार्य का हमने एक रूप में विशेष विस्तार देखा है। हिन्दी के अनेक सम्मानित सहयोगी पत्र-पत्रिकाओं ने सार्वजनिक मांग को प्रतिबिंबित करते हुए तथा अपनी सद्रुचि और दृष्टिकोण का परिचय देते हुए श्रीअरविंद की जीवन-दृष्टि और प्रेरणा को अधिक विस्तृत क्षेत्र तक पहुंचाया है। हमें इससे अत्यंत आनंद हुआ है और हमें विश्वास है कि सम्बन्धित पत्रकारों को भी अपने पाठकों तक आध्यात्मिक प्रेरणा पहुंचाकर जरूर संतोष हुआ होगा और उनके पाठकों को भी उस प्रेरणा से जीवन के क्रियात्मक क्षेत्र में लाभ हुआ होगा। श्रीअरविंद वार-बार कहते हैं कि हमें जीवन के सामान्य व्यवहार को छोड़ना नहीं। उन्हें छोड़कर शांति प्राप्त करने की इच्छा में प्रायः भय सम्मिलित होता है। वह भय ही उसे निष्फल कर देता है। जगत् और जीवन सम्पूर्ण, मूल में भगवान् की अभिव्यक्ति हैं। भगवान् को जीवन मात्र में चरितार्थ करना ही हमारा ध्येय होना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अर्थ यह है कि वस्तुओं को लोभ, मोह, काम, क्रोधादि से ग्रहण करने की जगह हम उन्हें भगवान् की देन के रूप में प्राप्त करें। बस इतने में, वास्तव में, मानव के सब प्रश्नों का, वैयक्तिक, कौटुम्बिक सामाजिक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय का, हल निहित है। इसी दृष्टि के सौंदर्य को दर्शाना, इसके लिये जिज्ञासा पैदा करना, इसकी साधना का श्रीअरविंद तथा माताजी-अनुभूत योगमार्ग उपस्थित करना हमारा आनंददायक सांस्कृतिक कार्य है।

हम आशा करते हैं, अगले वर्ष में अधिक पाठक इस दृष्टि का रस प्राप्त कर सकेंगे।

*

नये वर्ष का चंदा आप कृपया शीघ्र ही भेज दीजिये। सुभीते के लिये साथ मनीआर्डर फार्म रखा है। यदि किसी कारण आगे के लिये ग्राहक न रहना चाहें तो निस्संकोच एक कार्ड डाल दीजिये। उससे आप के पास, अनावश्यक ही, फरवरी अंक वी. पी. पी. द्वारा नहीं जायगा, जैसा कि चंदा न आने की दशा में होता है।

आगामी अंक

अदिति का आगामी अंक नये वर्ष का पहला अंक होगा और सुयोग की बात है कि उसके लिये कुछ ऐसी आनंददायक सामग्री इकट्ठी हो गयी है, जिसकी सूचना तथा किंचित् परिचय हमें यहां देने की भी इच्छा होती है। श्री-अरविंद का "शारीरिक शिक्षण पत्रिका" का अगला नया लेख है "अतिमन और दिव्य जीवन"। उसमें अतिमन के विषय में जो उन्होंने कहा है वह एकदम उस महत् तत्त्व के लिये सम्पर्कपूर्ण भावना पैदा कर देता है। उस तत्त्व के अव-तरण से रूपांतर के अत्यंत कठिन असंभव-प्राय कार्य में कैसी क्रांति आ सकती है यह श्रद्धा और विश्वास का विषय बन जाता है। वैयक्तिक अभीप्सा और साधना की सफलता का यह अत्यंत सशक्त साधन देखकर, जो किसी समय भी प्रकट हो सकता है, हम अपूर्व आशा से भर जाते हैं। उस लेख का एक पैरा इस अंक में "विशेष वचन" के रूप में दिया है। पूरा लेख अगले अंक में आयेगा।

इसके अतिरिक्त, हमें विशेष प्रसन्नता है कि हम श्री माताजी के जन्मदिन के अवसर पर, फरवरी अंक में, उनका एक नाटक भी दे सकेंगे। यह नाटक स्कूल के जन्मोत्सव पर, दिसम्बर में, लड़के-लड़कियों द्वारा खेला जायगा। इसका नाम है "भविष्य की ओर"। इसका साहित्यिक रस और गंभीर आध्यात्मिक दृष्टिकोण दोनों ही अपूर्व आनंद प्रदान करेंगे।

श्रीअरविंद के पत्रों की तीसरी जिल्द (कविता और साहित्यसंबंधी) का परिचय इस अंक में प्रस्तुत है। अगले अंक में हम श्रीअरविंद की एक अन्य चिरप्रतीक्षित पुस्तक का परिचय दे सकेंगे। यह है The Human Cycle. इस का विषय है सामाजिक विकास, दर्शन या योग नहीं। इसका हिंदी अनुवाद निकलने में स्व-भावतः समय लगेगा। परंतु अगले अंक में इसकी विचार-धारा का किंचित् परिचय देने का हम यत्न करेंगे।

कुछ ही महीने हुए इंगलैण्ड में श्रीअरविंद पर एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हुआ-Sri Aurobindo, The Indian Poet, Philosopher and Mystic. लेखक हैं Prof. Langley, ढाका विश्वविद्यालय के एक भूतपूर्व कुलपति। इसकी विदेशी पत्रों में आज-कल चर्चा हो रही है और यह प्रकाशन है भी बड़ा गंभीर और सुंदर। इसकी विचारधारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दृष्टिकोण का परिचय भी हम अगले अंक में देने की आशा रखते हैं।

'संजय' का श्रीअरविंद-विशेषांक

संजय नई दिल्ली का एक प्रतिष्ठित हिन्दी मासिक है और इसके संपादक श्री भद्रसेनजी सूझ-बूझवाले उत्साही पत्रकार हैं। आपने सोचा कि श्रीअरविंद-विशेषांक निकालें और आजकल वे उसे अपने पहले के विशेषांकों के अनुरूप निकालने में तल्लीन हैं।

कई वर्ष हुए "हंस" ने एक श्रीअरविंद-विशेषांक निकाला था और उसने, निश्चय ही, एक गंभीर सार्वजनिक मांग को पूरा किया था। आज श्रीअरविंद के व्यक्तित्व, विचार-धारा और जीवन-दृष्टि में कहीं अधिक सार्वजनिक अभिरुचि है। देश और विदेश में श्रीअरविंदसंबंधी साहित्य भी प्रचुर मात्रा में पैदा हो रहा है। आश्रम से प्रकाशित विभिन्न भाषाओं के ६ त्रैमासिक तथा वम्बई का पाक्षिक Mother India इसी साहित्य को अपने-अपने क्षेत्र में पहुंचा और परिवर्द्धित कर रहे हैं। आज, वास्तव में, श्रीअरविंद विचार-धारा तथा जीवन-शैली एक प्रगति का रूप धारण करती जा रही है और इससे मानव समाज को जो गंभीर प्रेरणा प्राप्त हो रही है तथा जीवन-संबंधी सभी प्रश्नों पर यथार्थ दृष्टि बनाने में जो सहायता मिल रही है उसका चिंतन करते हुए हम श्री भद्रसेनजी की सूझ का मान करते हैं तथा उनके विशेषांक का स्वागत करते हैं। वे इस प्रकार श्रीअरविंद की आध्यात्मिक प्रेरणा को अपने क्षेत्र में पहुंचाकर अपने पाठकों का, निश्चय ही, अत्यंत हितकर पथ-प्रदर्शन करेंगे। यह विशेषांक २४ नवंबर को, सिद्धि-दिवस के उपलक्ष्य में, निकलेगा और हम इसकी सादर प्रतीक्षा करते हैं।

आश्रम के नए प्रकाशन—१९४९ (१)

		Rs. As.
Messages of Sri Aurobindo and the Mother		0—10
Baji Prabhu	Sri Aurobindo	0—12
Bases of Yoga	,,	2— 0
Chitrangada ...	,,	1— 0
Essays on the Gita [First Series]	,,	7— 8
Letters of Sri Aurobindo [Third Series]	,,	6— 0
The Mother ...	,,	1— 0
After the War	,,	0— 8
The Human Cycle	,,	7—0
The Life Divine, Vol. II	,,	18— 0

		Rs. As.
The Adventure of the Apocalypse	K. D. Sethna	5— 8
Sri Aurobindo Circle Annual 1949		7— 0
Yoga of Sri Aurobindo, Part V	Nolinikanta Gupta	1— 8
The Integral Yoga of Sri Aurobindo	Shuddhananda Bharati	1— 4
Sri Aurobindo Mandir Annual 1949		5— 0
Sri Aurobindo and the World Crisis	Kishor Gandhi	0—10
The Poetry of Sri Aurobindo	Latika Ghosh	

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द-साहित्य

Letters of Sri Aurobindo, third series (on poetry and literature),

पृ. ३५०, मूल्य ६) रु.

श्रीअरविन्द योगी और दार्शनिक से अधिक कवि और राजनीतिज्ञ हैं। उन्होंने स्वयं कभी कहा भी था कि वे पहले और प्रधानतया कवि और राजनीतिज्ञ थे, योगी वे पीछे हुए। वास्तव में, राजनीतिज्ञ बनने से भी पहले वे कवि थे। कविता उन्होंने बहुत छोटी अवस्था से करनी शुरू की और फिर लगभग बराबर ही करते रहे हैं। उनकी कविताओं और नाटकों का लगभग ७०० पृष्ठ का दो-जिल्दी संग्रह, जो १९४२ में प्रकाशित हुआ था, उनके कविरूप का दिग्-दर्शन करा देता है। इसके अतिरिक्त पिछले ३-४ वर्षों से उनका महाकाव्य सावित्री खण्डशः निकल रहा है। इसका कविवर सुमित्रानंदन पंत कृत हिन्दी-रूपांतर हम 'अदिति' में भी दे रहे हैं।

श्रीअरविन्द कवि होने के अतिरिक्त कविता और साहित्य के मार्मिक रसज्ञ और समालोचक भी हैं। उनकी Future Poetry (भावी काव्य) नामक पुस्तक जगत् के, विशेषकर इंग्लैंड के, काव्य की ऐतिहासिक समीक्षा उपस्थित करती है तथा कविता के स्वरूप और प्रकार, प्रेरणा के स्रोत और रूप तथा काव्यरचना के अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर मौलिक प्रकाश डालती है।

वहां इन प्रश्नों पर नियम-बद्ध दार्शनिक शैली से विचार किया गया है। परंतु प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं प्रश्नों तथा अन्य कइयों की पत्रों के स्वतंत्र और सान्निध्यपूर्ण माध्यम द्वारा चर्चा की गई है। कवि और साहित्यिक के लिये इन चर्चाओं का रस अपूर्व है। श्रीअरविन्द ने जहां अपने सैद्धांतिक विचारों की व्याख्या की है तथा अनेक पश्चिमी सिद्धांतों की एकांगिता को समझाया है वहां संसार भर के प्रधान प्रधान कवियों, होमर, विरजिल, शेक्सपियर, दांते, शैले, कीट्स, शा आदि तथा वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि के बारे में अत्यंत सरल तथा खुले तरीके से अपने विचार प्रकट किये हैं।

आज के साहित्यिक जगत् में अनेक प्रकार के अत्यंत रोचक सिद्धांत प्रचलित हैं। "कला कला के लिये" उन्हीं में से एक बहुत प्रामाणिक विचार है। फ्रायड के मनोविश्लेषण के अधीन साहित्यिक रचना तथा प्रेरणा को अवदमित कामवासना की अभि-व्यक्ति तथा उदात्तीकरण ही माना जाता है। तथा प्रतिभा मानसिक असंतुलन या रोग। अतिवास्त-विकतावादी (surrealist) मानवीय व्यक्तित्व के अवचेतना-क्षेत्र की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हैं और अपनी साहित्यिक रचना में उस क्षेत्र की उच्छृंखलता तथा विच्छृंखलता को ही व्यक्त और चरितार्थ करते हैं।

इन तथा अन्य प्रचलित सिद्धांतों के लिये सामा-न्यतया हम बड़ा आग्रह देखते हैं। परंतु प्रस्तुत पुस्तक के रचनात्मक भाग को भली प्रकार समझ लेने के बाद जब इन सिद्धांतों की यथार्थ आंशिक सत्यता को पाठक अनुभव करता है तो उसे अपार आनंद होता है।

श्रीअरविन्द कहते हैं :—"काव्य, जो वास्तव में काव्य कहलाने का अधिकारी है, सदैव किसी सूक्ष्म स्तर से प्रेरित होता है, सर्जनशील प्राण में से होता हुआ आता है, और बाह्य मन तथा अन्य बाह्य करणों को केवल संचारण या प्रेषण के लिये प्रयोग में लाता है। इस क्रम में तीन तत्त्व होते हैं, अन्तःप्रेरणा का मूल स्रोत, सर्जक सौंदर्य की प्राणिक शक्ति जो अपना उपादानतत्त्व तथा वेग प्रदान कर आकार निर्धारित करती है, और कवि की संचारक बहिश्चेतना। अत्यंत विशुद्ध और पूर्ण काव्य तभी लिखा जाता है जब कि मूल स्रोत अपनी अन्तःप्रेरणा को प्राण के अंदर शुद्ध तथा अविकृत रूप में उंडेलने में समर्थ होता है और वहां यह काव्य अन्तःप्रेरणा को ठीक ठीक प्रति-मूर्त्तकरनेवाली वाणी के सच्चे स्वाभाविक रूप और ओज को ग्रहण करता है, तथा जब कि बहिश्चेतना, पूर्णतः निष्क्रिय रहकर, गृहीत वस्तु को बिना बदले आगे भेजती है। जब प्राण अत्यंत सक्रिय होकर अपने निर्देशों की अति कर देता है या मूल वस्तु को न्यूनाधिक कलुषित प्राणिक द्रव्य में परिवर्तित कर देता है तो, काव्य शक्तिशाली तो रहता है पर गुण की दृष्टि से निम्न कोटि का तथा कम यथार्थ होता है। अंत में, यदि बहिश्चेतना अति शिथिल तथा बाधक हो अथवा अति सक्रिय हो और मूल वस्तु का अपने ढंग से वर्णन करे तो तुम असफल काव्य की ही रचना कर पाओगे।"

एक और पत्र में कविता करने के लिये श्रीअरविन्द तीन आवश्यक बातें बतलाते हैं। वे कहते हैं:— "सबसे पहले आवश्यक है भावप्रधान सरलता तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यमयी अनुभूति; तुम्हारी कविताओं से पता चलता है कि यह चीज तुममें है। उसके बाद, भाषा पर प्रभुत्व और लयबोध की योग्यता जो काव्यमय तथा तालबद्ध भावप्रकाशन की पद्धति के ज्ञान से पूर्णता को प्राप्त किये हो; तुम्हारी कविताओं में पद्धति अपूर्ण है, सच्ची योग्यता विद्यमान तो है पर है अपरिष्कृत और अभी तक मौलिक तथा स्वाभाविक शैली का अभाव है। अंत में, अन्तःप्रेरणा की शक्ति तथा सर्जनशील सामर्थ्य का होना आवश्यक है; कवि तथा श्रेष्ठ गद्यलेखक में सारा भेद ही इसी बात में होता है।"

प्रेरणा के स्रोत के बारे में श्रीअरविंद अत्यंत विशद रूप में कहते हैं कि "यह कहीं भी हो सकता है, सूक्ष्म भौतिक स्तर, स्वयं उच्चतर या निम्नतर प्राण, क्रियाशील या सर्जनशील बुद्धि, क्रियाशील दृष्टि का स्तर, अंतरात्मा, ज्ञानदीप्त मन—यहां तक कि अधिमानस भी, यद्यपि है यह अत्यंत दुर्लभ।"

स्पष्ट है कि प्रेरणा कोई अज्ञात और अज्ञेय तत्त्व नहीं। परंतु इसे यथार्थ रूप में पहचान सकने के लिये कवि को अपने व्यक्तित्व का ज्ञान होना चाहिये। तब वह, वास्तव में, प्रेरणा के रूप को केवल पहचान ही नहीं सकेगा बल्कि उसे कम अथवा अधिक अधिकृत भी करने लगेगा। कवियों तथा कविता करना चाहनेवालों के लिये यह कितना आशाप्रद संदेश है। यह योग्यता क्रियात्मक रूप में योग द्वारा पैदा भी की जा सकती है। अपने ही विषय में श्रीअरविंद कहते हैं: "कोई दो एक दशाब्दियों से मैंने पढ़ना कतई बंद कर रखा है, कभी-कभार पढ़ने की बात दूसरी है। परंतु मेरी काव्यमय या पूर्ण भावप्रकाशन की शक्ति दसगुना बढ़ गई है। जो चीज मैं कुछ कठिनाई से या प्रायः बड़ी मुश्किल से लिखता था वह अब मैं आसानी से लिखता हूं। मुझे दार्शनिक माना जाता है, पर मैंने दर्शन का कभी अध्ययन नहीं किया—जो-जो भी चीज मैंने लिखी वह सब मुझे यौगिक अनुभव, ज्ञान तथा अंतःप्रेरणा से प्राप्त हुई है। उसी प्रकार काव्य तथा पूर्ण भावप्रकाशन पर अधिक महान् अधिकार मुझे इन पिछले दिनों में अधिगत हुआ है—दूसरे लोग कैसे लिखते हैं उसे पढ़-समझ करके नहीं, वरन् अपनी चेतना का उन्नयन करके और उस उन्नयन से जो महत्तर अंतःप्रेरणा प्राप्त हुई उससे।"

एक और स्थान पर वे एक साधक कवि को परामर्श देते हैं:—"अपनी चेतना को बढ़ने दो। जब चेतना विकसित हो जाय, अंतःप्रेरणा की महत्तर शक्ति साधारण चेतना में से नहीं बल्कि यौगिक चेतना में से प्राप्त हो तब, यदि तुम लिख सको और, यदि यह पता लग जाय कि शक्ति केवल सच्चे स्रोत से आती ही नहीं अपितु अपने लिये लयताल और भाषा में सच्ची प्रतिलिपि को भी ग्रथित करने में समर्थ है तो तुम लिखना जारी रख सकते हो।"

पुस्तक के विषय अत्यंत विभिन्न हैं। हर एक पत्र का स्वतंत्र प्रश्न है और कुल मिलाकर पत्र १४१ हैं। परंतु ये सब पत्र ९ खंडों में विभक्त हैं, जिनके शीर्षक ये हैं:—१. काव्य की प्रक्रिया, रूप और उपादान २. काव्यमयी अंतःप्रेरणा और दृष्टि के स्रोत—गुह्य तथा आध्यात्मिक काव्य ३. काव्यमय ताल तथा प्रणाली ४. काव्य का भाषांतर ५. आधुनिक काव्य ६. भारत-अंग्रेजी काव्य ७. काव्य और कला का मूल्यांकन ८. काव्य-सर्जन और योग—साधना में साहित्य आदि की उपयोगिता ९. कवि—गुह्यवित्—मनीषी

पाश्चात्य आदर्श और शैलियां अभी हाल तक हमें अत्यंत प्रभावित करती रही हैं। परंतु तब हमें भारतीय मौलिकता तथा सत्यता की उचित भावना न थी। आज जीवन के हर क्षेत्र में हम भारतीय गौरव का अनुभव करने और स्वतंत्रभाव से अन्य आदर्शों और शैलियों से सीखने का यत्न कर रहे हैं। इस अवस्था में हमें विश्वास है कि श्रीअरविंद की यह पुस्तक साहित्यिक क्षेत्र में उचित पथप्रदर्शन करेगी। —इन्द्रसेन

नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं

वेद-गीताञ्जलि (प्रकाशक—गुरुकुल कांगड़ी)

पुस्तक का मुखपृष्ठ खोलते ही उलटे उलटे पन्ने शायद यह बतलाने के लिये लगाये गये हैं कि दुनिया उल्टी है और इसमेंसे 'देवस्य काव्यं' देख सकना हमारा काम है। ढाई सौ पृष्ठों की इस सुन्दर छपाईवाली पुस्तक में अनेक स्थलों पर पन्ने उलटे सीधे लगा दिये गये हैं। अच्छा होता यदि जिल्द बांधनेवालों ने पाठक की सुविधा का ध्यान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा होता! अस्तु।

गुरुकुल कांगड़ी से प्रतिवर्ष स्वाध्याय-मंजरी का एक पुष्प खिला करता है और यह सं० १९९५ की भेंट है। सुन्दर सुन्दर वेदमंत्रों का चुनाव करके उनके साथ उनका गद्यानुवाद और पद्यमय टीका देने का विचार बहुत अच्छा है। यह पुस्तक इसी विचार का परिणाम है। गुरुकुल कांगड़ी आर्य-समाजी संस्था है अतः इसमें वेदों के अर्थ आर्यसमाज की शैली के हैं, साहित्यिक पुट भी पग पग पर दिखाई देती है। एक तो वेदवाक्य और फिर उनका गद्यानुवाद! "देखना! आसान है क्या इस कला की रूप-रेखा?"

इस काव्य के बारे में कहा जा सकताहै

"वह दिव्य सोम रे अमर-पान,
अन्तरतम से हो प्रवहमान
संसृति को करता बल प्रदान
गाता उसके गुण साम-गान ॥"

वेदवाक्यों के बारे में कुछ कहने की धृष्टता न करते हुए हम दो एक कविताओं का रसा-स्वादन कराना उचित समझते हैं। चमूपति गा रहे हैं:–

रहा प्रेम का पलना झूल ॥
चिति की किरणों के झूले में,
करती झिलमिल तन की धूल।
नस-नस से नाड़ी-नाड़ी से,
उठी तान सुख मंगल मूल।

एक अन्य स्थल पर वेदव्रत सामगान का अनुसरण करते हैं:–

वसन्त रमणीय सखे!
ग्रीष्म रमणीय है।
वर्षा रमणीय सखे!
शरद रमणीय है।
हिमान्त रमणीय सखे!
शिशिर रमणीय है।
मन स्वयं मंगल बने,
विश्व रमणीय है ॥

अनेक स्थलों पर अनुवादकों और टीकाकारों से सहमत न होते हुए भी हम इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि प्रकाशित हुए दस बारह वर्ष बीत जाने पर भी इस सुंदर पुस्तक का पहला संस्करण भी अभी तक खतम नहीं हो पाया है। काव्यरस के प्रेमियों के यहां दो रुपये की यह पुस्तक जरूर रहनी ही चाहिये। –रवीन्द्र

वैदिक स्वप्न-विज्ञान, प्रथम भाग, लेखक–भगवद्दत्त वेदालंकार। प्रकाशक—गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार। मूल्य दो रुपया।

वेद और उपनिषदों के मंत्रों में स्वप्नावस्था का जैसा वर्णन आता है उसी का अनुशीलन इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने बड़े परिश्रमपूर्वक इस विषय के सभी मंत्रों को एक जगह संगृहीत कर दिया है। मंत्रों की व्याख्या के संबंध में किसी का लेखक से मतभेद भले ही हो पर यह तो मानना ही होगा कि लेखक ने सभी मंत्रों को एक जगह सुलभ बनाकर पाठकों की महान् सेवा की है।

लेखक महोदय ने, स्वप्नों के अध्ययन के अतिरिक्त, यत्र तत्र दार्शनिक विषयों की भी चर्चा छेड़ी है। पर वहां उनके निकाले हुए परिणाम सहज मान्य नहीं। उदाहरण के लिये ५वें पृष्ठ पर वे कहते हैं कि "सारा संसार मन की उपज है"—यह ऐसी प्रतिज्ञा है जिसे मानने में किसी को आपत्ति हो सकती है। इसी प्रकार २४वें पृष्ठ पर वे बताते हैं कि मनुष्य मृत्यु से लेकर पुनर्जन्म होने तक स्वप्नावस्था में रहता है—इसे सिद्ध करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार के कथन पृष्ठ २७, ३५, ३६, ३८ तथा ७४ पर भी मिलते हैं।

लेखक ने पुस्तक के एक बड़े भाग में दुःस्वप्नों का निरूपण किया है। लेखक की की हुई व्याख्या को मानने में कठिनाई यह है कि अथर्ववेद ने चाहे "स्वप्न" शब्द का व्यवहार "ड्रीम (dream)" के अर्थ में किया हो पर "स्वप्न" शब्द का मूलार्थ तो, वास्तव में, ऋग्वेद से ढूंढ़ निकालना होगा। अपिच, उपनिषदों के संदर्भों की व्याख्या भी सुसंबद्ध रीति से करनी होगी।

अथर्व में वर्णित दुःस्वप्न-विनाशक विशेष उपचारों का प्रतिपादन करने में लेखक ने अनावश्यक विस्तार किया है। अथर्व के प्रकरण का पुनः अध्ययन करने की जरूरत है। चाहे मैंने इस स्थल का अध्ययन नहीं किया है पर मेरा विश्वास है कि अथर्व का निर्देश किन्हीं गुह्य विधियों की ओर है न कि मानसिक उपचारों की ओर। परन्तु यह एक भिन्न विषय है।

लेखक ने जो अथर्ववेद तथा उपनिषदों की यह सब सामग्री एक ही स्थान पर सुलभ कर दी है इसके लिये वे पाठकों के धन्यवाद के पात्र हैं। –अम्बालाल पुराणी

सत्येश्वर गीता, वन्दना, सत्याश्रम, वर्धा, २।।) ।।=) **मन्थन महाशास्त्र,** सूरजचन्द प्रकाशन संस्था, बड़ी सादड़ी (मेवाड़) २)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये तीन पुस्तकें हमें 'सत्याश्रम' वर्धा से प्राप्त हुई हैं। तीनों पद्य की पुस्तकें हैं। पहली दो पुस्तकें सत्याश्रम के संस्थापक स्वयं श्री सत्यभक्त-जी की रचनाएं हैं। पहिली, 'सर्वेश्वर गीता', उनके सत्यामृत नामक ग्रंथ का पद्यमय सार है। दूसरी, 'वन्दना', में प्रार्थनाएं हैं।

तीसरी पुस्तक 'मन्थन महाशास्त्र' के प्रणेता श्री सूरजचन्द्र जी सत्यप्रेमी हैं जो कि श्री सत्य-भक्तजी के एक निकट सहयोगी हैं।

इन तीनों पुस्तकों में सर्वधर्मसमभाव पर बल दिया गया है। ये पुस्तकें काव्य की दृष्टि से नहीं लिखी गई हैं किंतु सुधार की भावना से लिखी गई हैं। इसी दृष्टि से इनकी उपयोगिता है। श्री सत्यभक्तजी ने सत्य कहा है 'ऐसे धर्म-ग्रंथों में काव्य ढूंढ़ना दवाई में सुस्वाद ढूंढ़ने के समान है'। आशा है पाठकगण गुणकारी औषध के रूप में ही मुख्यतया इन पद्यग्रंथों का सेवन करेंगे, काव्य-रसास्वाद के लिये नहीं।

—अभय

लहसुन : प्याज, लेखक— श्रीरामेश वेदी, प्रकाशक—हिमालय हर्बल इंस्टिट्यूट; गु० कु० कांगड़ी। मूल्य २॥)

अंग्रेजी नाम की इस संस्था ने हिन्दी में अनेक ग्रंथ प्रकाशित किये हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसी सिलसिले में छपी है। रामेश वेदी की अन्य पुस्तकों की तरह इस पुस्तक में भी अपने विषय के बारे में बहुत सी जानकारी इकट्ठी की गई है।

—रवीन्द्र

विश्व दर्शन, वार्षिक अंक १९४९, भारत सरकार, दिल्ली, मूल्य १)

प्रस्तुत विशेषांक पत्र की स्थिति और मर्यादा के अनुरूप ही है। पाठ्य सामग्री विविधतापूर्ण, रोचक और विचारप्रेरक है। १५ अगस्त, १९४९ के दिन का भारतवर्ष का मानचित्र, जिसमें भारतीय राज्यों का राजनीतिक पुनः संगठन दिया है, विशेष सूझ की चीज रही है।

"आत्म-निवेदन" में सम्माननीय संपादक ने जो पत्र की नीति और उद्देश्यविषयक अनेक विचार रखे हैं वे बहुत सुन्दर है। पाठकों के प्रश्न-उत्तर का प्रस्तावित स्तंभ भी उपयोगी रहेगा।

पत्र के लेखों को पढ़ते हुए तथा घोषित नीति और उद्देश्यों को विचारते हुए हमें यह जानने की जरा विशेष इच्छा हुई कि पत्र का अपना आधारभूत दृष्टिकोण क्या है अथवा कैसा होना उचित होगा। अवश्य ही भारत सरकार का वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पत्र में प्रतिबिंबित हो रहा है और उस दृष्टिकोण में जो मौलिकता तथा सत्यता है उसका गौरव इस पत्र को भी प्राप्त है। परंतु हमारा विश्वास है कि स्वतंत्र होने के बाद भारतीय जनता अधिकाधिक अपने इतिहास की स्थायी प्रेरणा के साथ तथा विशेषकर अपने गौरवमय काल की ओज-स्वी प्रेरणा के साथ संबंध अनुभव करना चाहेगी और फिर यथार्थ जातीय 'स्वभाव' से अपने वर्तमान और भविष्य का निर्माण करना चाहेगी। हमारा आज का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विशेषकर हमारे संघर्ष के गत ३० वर्षों के आदर्श और उद्देश्यों से निर्धारित हो रहा है। हम अनुभव करते हैं कि हमें आज अपनी संपूर्ण जातीय स्मृति को जाग्रत् करना चाहिये और उसकी प्रधान प्रेरणा को, जो बीच के समय में मंद पड़ गई थी, फिर सजीव बनाना चाहिये। इसे सजीव कर लेने पर हमें फिर अन्य एशियाई देशों के साथ अपनी एकता अनुभव करने में देर नहीं लगेगी और वे भी हमारे उस 'स्वभाव' को आसानी से पहचान पायंगे।

अपने वास्तविक जातीय स्वभाव की खोज का अर्थ अपने भूत का गुणगान करना तथा उसके बारे में मिथ्याभिमान पैदा करना नहीं बल्कि सामान्य जातीय आत्म-जिज्ञासा पैदा करना; और जातीय प्रतिष्ठा यशादि प्रलोभनों के स्थान पर निज 'स्वभाव' से प्रेरित होकर अपने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को विचारने तथा उन्हें पूरा करने का यत्न करना।

एशियाई देशों के अनेक सांस्कृतिक अध्ययन, जो पत्र में प्रकाशित होते रहते हैं, तथा पत्र का सामान्य सांस्कृतिक दृष्टिकोण हमें बहुत पसंद हैं। इसी से उत्साहित होकर हमने यह सुझाव उपस्थित किया है।

हम पत्र की हर प्रकार से सफलता चाहते हैं।

—इन्द्रसेन

'सचित्र आयुर्वेद' का यकृत् अंक। पो. ब. ६८३५, कलकत्ता।

इस अंक में कुछ पृष्ठ यकृत् के बारे में जरूरी जानकारी देते हैं। उपयुक्त चित्रों के द्वारा लेखों को अधिक उपयोगी बनाने का अच्छा प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त उदर व्यायाम, रोग निवारण के लिये सांप, दीपन और पाचन आदि विषयों पर रोचक लेख हैं। आयुर्वेदसंबंधी राज-नीति पर भी काफी जोर दिया गया है। साधारण जनता की दृष्टि से भी यह पत्र उपयोगी है।

रसायन—रसायन फार्मेसी दिल्ली। १०) वार्षिक आयुर्वेद की पत्रिकाओं में यह एक नवीन वृद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। प्रस्तुत अंक में ओषधि-प्रभाव-विज्ञान, अर्श और धतूरे के बारे में विवेचनात्मक लेख हैं। यदि लेखक और संपादक मिलकर इसे ज्यादा वैज्ञानिक रूप दे सकें तो पत्रिका और भी ज्यादा उपयोगी हो सकेगी। —रवीन्द्र

श्रीवेंकटेश्वर समाचार, दीपमालिका अंक, मूल्य १२ आना।

श्रीवेंकटेश्वर समाचार हिन्दी का एक अत्यंत पुराना पत्र है, जिसने हिन्दी और संस्कृति की बहुत सेवा की है। प्रस्तुत अंक सुन्दर विशाल रूप में निकला है तथा विविध पाठ्य सामग्री, साहित्यिक सांस्कृतिक, धार्मिक-आध्यात्मिक, वैज्ञानिक-सामाजिक तथा राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय, से संपन्न है।

पत्र के संपादकीय से यह जानकर विशेष प्रसन्नता हुई है कि इसके वर्तमान संचालक महोदय पत्र में नवोत्साह अनुभव करते हैं तथा प्रेस मैनेजर भी समान उत्साह प्रदर्शित करते हैं। हम आशा करते हैं कि पत्र शीघ्र ही हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में उचित स्थान बनाने तथा उसे कायम रखने में सफल होगा।

पत्र की छपाई-सफाई विशेष संतोषप्रद है। —इन्द्रसेन

074473

आश्रम के नए प्रकाशन, १९४९ (२)

हिन्दी

श्रीअरविंद का संदेश	श्रीअरविंद	
वेदरहस्य, प्रथम खंड (सजिल्द)	श्रीअरविंद	९)
,, ,, (अजिल्द)		८)
वेदरहस्य, द्वितीय खंड (सजिल्द)	श्रीअरविंद	४)
,, ,, (अजिल्द)		३)
इस जगत् की पहेली	श्रीअरविंद	१।)
योगप्रदीप	श्रीअरविंद	१)
मातृवाणी	श्री माताजी	२।)
अर्चना (वार्षिक) १९४९	...	४।।)
क्षत्रिय धर्म	श्री अनिलवरण राय	।)

गुजराती

योग साधना ना पाया	श्रीअरविंद	२।।)
नवचित्र	...	६)
श्रीअरविंद अने तेमनो आश्रम	...	१।)
आश्रम संदेश	...	१।)

बंगला

श्रीअरविंद-साधना	हरिदास चौधरी	२।।)
सावित्री	श्रीअरविंद	१।।)
वन्देमातरम्	निशिकांत	३)
श्रीमद्भगवद्गीता	अनिलवरण राय	३।।)
श्रीअरविंद जीवन कथिका	प्रमोदकुमारसेन	१)
अर्घ्य		५)

तेलुगु

जननी	।।।)
बंकिम-तिलक-दयानंद	१)
अर्क, त्रैमासिक	३)
श्रीअरविंद अर्चना	२।।)
नूतन वर्ष प्रार्थनालू	।≈)

प्रतिबन्ध के उपरान्त प्रथम बार

"परम पूज्य गुरु जी पंजाब प्रान्त में"

भव्य आकर्षक तथा स्फूर्तिदायक

सुन्दर चित्रावलि

विवरण सहित आर्ट पेपर पर ३२ आकर्षक चित्र

Sole Commission 12 1/2%

मूल्य १) डाक खर्च अलग

आकाशवाणी प्रकाशन लि० जालंधर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079473

कर्मयोगी

श्रीअरविन्द की एक अत्यंत सरल तथा लोकप्रिय पुस्तक "The Ideal of the Karmayogin" का हिन्दी अनुवाद है। राष्ट्रनिर्माण के आधारभूत तथ्यों का विशद निरूपण है। आज इसका पथप्रदर्शन हमारे लिये विशेष उपयोगी है। दाम—कार्ड बोर्ड-सजिल्द २।)

योगविचार

श्रीअरविन्द-योग पर एक अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह है। इसके कुछ एक लेख ये हैं—जीवन और योग, योग का उद्देश्य, मनोविज्ञान और योग, श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग, श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातंजल योग। पहला लेख श्रीअरविन्द का, योग-समन्वय में से, है। अन्य लेख आश्रम के अनुभवी साधकों के हैं। मूल्य २।)

योगदीक्षा

श्री अनिलवरण राय का श्रीअरविन्द के साथ योगजिज्ञासा-विषयक पत्र-व्यवहार है। एक ओर से जिज्ञासा, शंका और प्रश्न हैं, दूसरी ओर से आश्वासन, समाधान और उत्तर। सारा वातावरण अपूर्व है।

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४८ की पूरी चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ५), सजिल्द ६।)। सन् ४७ के केवल अगस्त और नवम्बर अंक। दाम प्रति अंक १।)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

कर्मयोगी	२।)	वेद-रहस्य (सजिल्द)	९)
योगदीक्षा	१)	वेद-रहस्य (अजिल्द)	८)
चार साधन	।)	उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
योगविचार	२।)	इस जगत् की पहेली	१)
विचार और झांकियां	।।)	जगन्नाथ का रथ	।।)
दयानन्द	।।)	श्रीअरविन्द के पत्र	।)
नये वर्ष की प्रार्थनाएं	।)	धर्म और जातीयता	१।)
दुर्गास्तोत्र	।)	गीता की भूमिका	१।।)
अदिति माता	१)	मातृवाणी	२)
गीताप्रबन्ध	६।)	सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
माता	।।)	वार्षिक प्रार्थनाएं	=)
योगप्रदीप	।।)	श्रीअरविन्द और उनका योग	।।=)
योग के आधार	२)	पूर्णयोग	१।)

फोन: कार्यालय ८२८३ — **श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली** (स्थान—एस. एन. संडर्सन एण्ड को.) — फोन: घर २५१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

19 SEP 1964

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar